ISSN 0975-5217
UGC-CARE LIST (GROUP-I)
वर्ष 2022

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

(Volume-22, Issue-1, June-December, Year-2022)

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

ISSN 0975-5217
UGC-Care list (Group-I)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

(Volume-22, Issue-1, June-December, Year-2022)

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217

UGC-Care list (Group-I)

Volume-22, issue-1, June-December, Year 2022

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो.- 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

"भैरवी" विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित एवं UGC-Care list (Group-1) में शामिल है। साथ ही यह Peer Reviewed Refereed Visual and Performing Arts Research Journal है।

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियाबाद-201 102

Patron

Prof. Chaman Lal Verma
Ex. Dean and Head
University Department of Music
Himachal Pradesh University, Shimla

Prof. Pt. Ritwik Sanyal
Top Grade Dhrupad Artist
Ex. Dean, Faculty of Performing Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Prof. Pt. Sahitya Kumar Nahar
Vice-chancellor
Raja Maan Singh Tomar Sangeet Vishwavidyalaya
Gwalior, Madhya Pradesh

Editorial Board

Chief Editor
Prof. Pushpam Narain
Ex. Dean, Faculty of Fine Arts
Head, University Department of Music and Dramatics
Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar

Editorial/ Advisory Board

1. Prof. K. Shshi Kumar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Banaras Hindu University, Varanasi
2. Prof. Snehashish Janpriya Das
   Head. Department of Music
   Women's College Jag Chowk, Amarawati, Maharashtra
3. Dr. Ashwani Kumar Singh
   Associate Prof, Department of Music
   Faculty of Performing Arts. M.S. University, Baroda, Gujrat
4. Dr. Shobhit Kumar Nahar
   Asst. Prof. Instrumental Music
   Women's College
   Banaras Hindu University, Varanasi

Peer Review Committee

1. Prof. Om Prakash Bharti
   Head, Department of Performing Arts
   Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
   Wardha, Maharashtra
2. Dr. Rajesh Kelkar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Maharaja Siyaji Rao University, Baroda, Gujrat
3. Prof. Umesh Kumar
   Head, Department of Hindi
   B.M.A Callege Baheri, Bihar
4. Dr. Amar Kant Kuwar
   Head, Department of Hindi
   M.L.S.M College, Darbhanga, Darbhanga, Bihar
5. Dr. Santosh Dattatrayrao Parchure
   Head, Department of Music
   S.P.H. Women's College, Malegaon, Nashik, Maharashtra
6. Dr. Shashank S. Maktedar
   Associate Prof. and Officiating Principal
   Goa College of Music, Panji, Goa
7. Dr. Ved Prakash
   University Department of Music and Dramatics
   Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar
8. Dr. Ramshankar
   Faculty of Music and Performing Arts
   B.H.U., Varanasi
9. Dr. Pallavi Shailesh Meshram
   Associate Prof. In Applied Arts
   Bharti Vidyapeeth' Collge of Fine Arts, Pune, Maharashtra

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुधा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

वीणा वाद्य यंत्र

संपादक की कलम से...

संगीत वह ललित कला है, जिसमें स्वर और लय के द्वारा हम अपने भावों को प्रकट करते हैं और इसे आम भाषा में समझे तो स्वर एवं लय के सुन्दर संयोजन को ही संगीत कहा जाता हैं। भारतीय संगीत हमारी धरोहर है। संगीत शिक्षा के प्राथमिक लक्ष्यों में से एक लक्ष्य आजीवन प्रेम और संगीत की समझ पैदा करना है। संगीत शिक्षा के माध्यम से, छात्र विभिन्न संगीत शैलियों और परंपराओं का पता लगाते हैं, अपने संगीत स्वाद को विकसित करते हैं और अपनी सांस्कृतिक जागरूकता का विस्तार करते हैं। वे आलोचनात्मक रूप से सुनना सीखते हैं, संगीत के तत्वों का विश्लेषण करते हैं, और संगीत के माध्यम से खुद को रचनात्मक रूप से अभिव्यक्त करते हैं। अपने कलात्मक और सौंदर्यपरक मूल्य से परे, संगीत शिक्षा एक छात्र के विकास के विभिन्न पहलुओं में कई लाभ प्रदान करती है। यह स्मृति, ध्यान और समस्या को सुलझाने के कौशल सहित संज्ञानात्मक क्षमताओं को बढ़ाता है। संगीत शिक्षा भावनात्मक बुद्धिमत्ता और आत्म-अभिव्यक्ति का भी पोषण करती है, छात्रों को अपनी भावनाओं का पता लगाने और संवाद करने के लिए एक मंच प्रदान करती है। इसके अलावा, संगीत शिक्षा सामाजिक और सहयोगी कौशल को बढ़ावा देती है

शिक्षा में संगीत की अपूर्व भूमिका है। जन्म से लेकर मृत्यु तक यह संगीत हमारे साथ बना रहता है। जिस दिन बच्चा जन्म लेता है अर्थात इस धरती पर आता है तभी उसका परिचय संगीत से हो जाता है। ''संगीत हमारे जन-जीवन के उल्लास को प्रकट करने का तो प्रभावी साधन है ही, साथ ही यह उसको गतिमान बनाने का प्रबल अस्त्र भी है। संगीत उनको रचनात्मक कार्यों में अग्रसर होने की सामूहिक स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करता है और उनको वह सामूहिक शक्ति देता है जो उन्हें उन कामों के करने योग्य बनाती है। अन्य विषयों की भाँति संगीत को भी शिक्षा में शामिल करना होगा तभी हम इसकी भूमिका को परख सकते हैं। संगीत का हमारे शिक्षा व्यवस्था से घनिष्ट संबंध कायम होना चाहिए। संगीत की शिक्षा से बच्चों में अंतर्मुखी विकास एवं बाह्यमुखी विकास दोनों ही अच्छे ढ़ंग से होता है। यूँ कहें कि बच्चे का आध्यात्मिक विकास भी पूर्ण रूप से होता है जिससे बच्चे का ध्यान इधर-उधर न भटककर एक सार्थक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि जिसको ईश्वर की शक्ति मिल जाती है उसे इधर-उधर की शक्ति से क्या काम? बच्चों के विकास में अनेक तत्त्वों की आवश्यकता होती है। धार्मिक, सत्य की खोज, परोपकार की भावना आदि। ये सब बच्चों में तब आता है जब उसे नैतिक शिक्षा दी जाए। नैतिक शिक्षा उसे तब मिलेगा

जब हम संगीत को शिक्षा में बराबर का हिस्सेदार बनाएँगे। संगीत हमारे बुझे हुए मन में एक दीपक की लौ की तरह काम करेंगे। जिस प्रकार एक दीपक जलने से प्रकाश उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार संगीत को अपनाने से मन का अंधकार स्वत: दूर हो जाता है। संगीत की भूमिका तो हर क्षेत्र में दृष्टिगोचर होती हैं। संगीत तो कल्याण साधना का एक मार्ग है। उसमें भी भारतीय संगीत की तो एक अलग ही विशेषता है। आज के भारतीय संगीत में कुछ-कुछ दोष नजर आने लगे हैं। लोग संगीत को गलत तरीके से प्रयोग में ला रहे हैं। पहले एक फिल्मी गाना भी कुछ-न-कुछ सीख देता था , लेकिन आजकल का गाना तो हर साल नया बनता है और थोड़े ही दिनों में उखड़ जाता है अर्थात् कोई रस नहीं रहता है। पुराने गीत अब भी नये लगते हैं कितना भी सुनें पर हम बोर नहीं होते हैं। आजकल का संगीत मनोरंजन नहीं करता है बल्कि गलत संदेश देता है और हमारे मन मस्तिष्क को प्रदूषित करता है। आजकल का संगीत आज बनता है कल पुराना हो जाता है। आजकल संगीत का विकास कम होता है और हास अधिक। इसलिए आज फिर से प्राचीन संगीत को जगाने का समय आया है और भी प्राचीन संगीत, पुराने संगीतज्ञ, पुराने कवि यथा मीरा, तुलसी, कबीर, नानक, रैदास आदि के पदों के लिए जनता के हृदय में आदर है। हम अगर चाहें तो इस पीढ़ी में भी संगीत की शिक्षा को आगे बढ़ा सकते हैं। उसके गुण को परख सकते हैं। संगीत की शिक्षा पर यदि गहराई से विचार किया जाय और संगीत को देश और जाति के लिए मानसिक और चारित्रिक उन्नति का साधन बनाया जाय तो समाज के उन्नयन के लिए संगीत सबसे कारगर औषधि होगी। भारतीय संगीत के परिवेश में आज की स्थिति इतनी चिंताजनक है कि संगीत का तकनीकी और संस्कार गत परिमार्जन तो दूर, इसके वर्तमान रूप को ही बचाते हुए, इसे अगली पीढ़ियों तक प्रेषित करना संभव होता नहीं दिखता। संगीत के अध्यापन के क्षेत्र में फिलहाल दो पद्धतियाँ प्रचार में हैं घरानेदार शिक्षा पद्धति काफी प्राचीन काल से संगीत अध्ययन-अध्यापन का कार्य कर रही है। इस पद्धति का प्रचार आज भी है लेकिन इस पद्धति से पर्याप्त प्रमाण में संगीत की शिक्षा का कार्य नहीं किया जा सकता था। इस कारण लगभग 150 वर्ष पूर्व से विद्यालयीन स्तर पर संगीत का शिक्षण आरंभ हुआ और संगीत की संस्थागत शिक्षा-पद्धति का प्रचार संगीतज्ञों के निर्माण में उस स्तर को नहीं छू पा रही है जहाँ वे आज से काफी समय पूर्व पहुँच चुकी थी। भारत में वैदिक काल में गुरूकुल शिक्षा पद्धति के प्रचार में होने के प्रमाण मिलते हैं। इस पद्धति में विद्यार्थी गुरूकुल में रहते हुए विद्या ग्रहण करते थे। वे पूर्णत: गुरू के अधीनस्थ रहते थे और उनके अध्ययन काल में गुरू ही उनके अभिभावक हुआ करते थे ''घरानेदार-शिक्षा-पद्धति'' से पूर्णत: प्रभावित संगीत शिक्षा पद्धति थी। इस पद्धति में शिष्य अपने गुरू के यहाँ रहते हुए पूर्ण समर्पण भाव से संगीत साधना करते थे। गुरू अपने शिष्यों को संगीत के तकनीकी पक्ष के साथ ही साथ संगीत की साधना के संस्कारों से भी संस्कारित करते थे। गुरू अपने शिष्य के खान-पान, रहन सहन, आचार-विचार, एवं

जीवन-दर्शन जैसे सारे पक्षों को प्रभावित करते हुए उसे संगीत की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति के लायक बनाते थे। इस कार्य में गुरू को काफी सावधानियां बरतनी पड़ती थीं। इसी कारण गुरू बहुत ही कम गिने चुने से प्रतिभावान विद्यार्थियों को शिष्यत्व प्रदान करते थे। गुरू को ऐसा अपनी रहने, खाने-पीने व अर्थापार्जन की सीमाओं के अनुसार भी करना पड़ता था। इस प्रकार एक गुरू अपने जीवन काल में कुल 2, 4 या 5 तक ही शिष्य स्वीकारता था और उन्हें संगीत के श्रेष्ठ कलाकार के रूप में समाज स्थापित करता था। ''घरानेदार शिक्षा पद्धति'' काफी समय तक निर्विकार रूप से अपना कार्य करती रही, लेकिन अंग्रेजी शासन की आखिरी शताब्दी में इसमें क्रमिक रूप से विकार आने लगे। संगीतज्ञों को राजाश्रय की सुविधा से वंचित कर दिया गया था। संगीत गुरूओं की आर्थिक सीमाएं संकुचित हो गई। गुरू अर्थोपार्जन को ध्यान में रखकर शिष्यों को चुनने लगे, वे शिष्य की प्रतिभा को शिष्य चयन के समय दुयंम स्थान पर रखने लगे। भावी पीढ़ी के सुनिश्चित आर्थिक भविष्य की दृष्टि से गुरू, पुत्र व शिष्य में पक्षपात करने लगे। कई घरानों के गुरू शिष्यों का आर्थिक, मानसिक और यहां तक कि शारीरिक शोषण भी करने लगे। धीरे-धीरे संगीत में व्यावसायीकरण की भावना कुछ घरानों में बलवती होने लगी और धीरे-धीरे लोगों का विश्वास इस पद्धति पर से उठने लगा। इस प्रकार बदली राजनैतिक व आर्थिक स्थिति में अंग्रेजी स्कूली शिक्षा से प्रभावित होकर, संगीत को भी विद्यालयीन स्तर पर अध्यापित करने की शुरूआत हुई और सन् 1871 में ''संगीत विद्यालय कलकत्ता'' की स्थापना हुई और इनका काफी प्रचार-प्रसार हुआ विद्यालयीन-संगीत-शिक्षा के प्रारंभिक काल में संगीत के महान एवं स्थापित कलाकारों ने विद्यालयों द्वारा संगीत शिक्षा के संचालन पर अपना व्यक्तिगत हस्तक्षेप रखते हुए संगीत साधना हेतु समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की। इस प्रकार विद्यालयों द्वारा उच्च स्तर के संगीतज्ञ एवं संगीत कलाकार निष्पादित हुए। और इस प्रकार संगीत की विद्यालयीन शिक्षा पद्धति धीमे-धीमे समाज में स्थापित हो गई। समय के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन हुए और इस परिवर्तन के परिणाम, संगीत पर भी दिखाई दिए, भारत में स्वाधीनता के बाद संगीत के विद्यालयों की संख्या खूब बढ़ी। अनेक महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालयों ने संगीत को अपने अध्यापन की विषयवस्तु बनाया। इस प्रकार संगीत की शिक्षा अपेक्षाकृत सुगमता से उपलब्ध होने लगी। लेकिन विद्यालयों में इस प्रकार हुई संख्यात्मक वृद्धि के कारण उनके संचालन में महान संगीतज्ञों का व्यक्तिगत हस्तक्षेप कम होने लगा। और संगीत विद्यालयों में संगीत का स्तर गिरने लगा। पाठ्यक्रम बनाते समय भी संगीत साधना की गंभीरता नकारते हुए पर्याप्त से अधिक प्रमाण में विषय वस्तु समाहित कर पाठ्यक्रम को अव्यावहारिक बना दिया गया। विद्यार्थियों के चयन में भी उनकी रूचि, प्रतिभा एवं क्षमता की ओर ध्यान दिये बिना, प्रतिभाहीन विद्यार्थियों को संगीत विषय में प्रवेश देने की प्रथा आरंभ हुई। परिणामत: संगीत विषय के विद्यार्थियों का स्तर गिरने लगा। संगीत एक ऐसा विषय है इसके अध्यापन की अपनी तकनीक होती है। विद्यालयों को

संगीत के अध्यापन हेतु योग्य बनाने के लिये उनमें काफी परिवर्तनों की आवश्यकता होगी जिसके लिये शासन की सहायता आवश्यक है। राष्ट्रीय स्तर पर संगीत विषय हेतु विद्यालयों में आवश्यक परिवर्तनों के बारे में विचार विमर्श करने के लिये एवं शासन तक इस विषय में अपनी मांगे भेजने के लिए एक उच्चस्तरीय समिति गठित होनी चाहिये जिसे उच्च-शिक्षा अनुदान आयोग एवं शासन दोनों ही से मान्यता मिली होनी चाहिये।

चर्चा पुनः होगी। भैरवी दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध पत्रिका के बाईसवें अंक का विशेषांक आपके हाथ में है। संरक्षक मण्डल, संपादक मण्डल, समीक्षक, लेखक, शोधकर्ता एवं जिज्ञासु पाठकों के प्रति आभार निवेदित करती हूँ।

सधन्यवाद।

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा-846004
मो. 09430063265 ईमेल : *npushpamji@gmail.com*

अनुक्रम

1. रागदारी संगीत की अनोखी वर्गीकरण पद्धति: राग-रागिनी पद्धति डॉ. अर्पणा शुक्ला 19

2. संगीत कला और समाज : भक्ति संगीत परंपरा का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
डॉ मोनिका दीक्षित 24

3. छत्तीसगढ़ में प्राप्त जैन मूर्तियाँ, पार्श्व तीर्थपति की प्राप्ति,
प्राचीनता एवम् जैन मंदिर की स्थापत्य कला
डॉ महेश कुमार शुक्ला, अमित कुमार शर्मा 29

4. ललितपुर की चंदेलकालीन वैष्णव मूर्तिकला – एक अध्ययन
प्रो. राकेश कुमार शर्मा, विजय कुमार पाण्डेय 36

5. भरतमुनि संगीत डॉ. इतिश्री साहू 39

6. अनामिका का काव्य संसार प्रवीन वर्मा 51

7. राजस्थान के प्रमुख पारम्परिक लोकवाद्य
एवं उनकी विशेषताएं रुचिका अग्रहरि, प्रो. मीना सिंह, 56

8. वैदिक कालीन विवाह पद्धतियाँ एवं परम्पराएँ
डॉ महेश कुमार शुक्ला, सोनिया तिवारी 61

9. अजराडा घराने के उस्ताद हबीबुद्दीन खाँ साहब
द्वारा बजायी गई विस्तारशील रचनाओं में निहित सौंदर्य
नंदकिशोर प्रभाकर दाते, प्रो. अजय अष्टपुत्रे 69

10. सतनामियों में प्रचलित संस्कार तथा सतनाम
पंथ के सामाजिक संगठन का अध्ययन डॉ महेश कुमार शुक्ला, लक्ष्मीनारायण कुर्रे 75

11. पर्यावरणीय संकट के दौर में पारम्परिक
पारिस्थितिक ज्ञान की प्रासंगिकता : एक विहंगावलोकन
मनीष कुमार डॉ श्वेता तिवारी 81

12. जांजगीर चाम्पा जिले में प्रचलित हस्तकलायें - एक अध्ययन
श्री रामरतन साहू, दिनेश कुमार राठौर 89

13. अष्टछाप कवियों का काव्य एवं संगीत मनीष कुमार कुर्रे, डॉ॰ चंद्रकुमार जैन 95

14. जनजीवन का लोकसंगीत — डा. प्रतिभा सक्सेना 102

15. भारत की स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी भाषा की भूमिका : असम के सन्दर्भ में — डॉ साइफुल इस्लाम 105

16. तुलसीदास की स्त्री-दृष्टि — रमेश कुमार राज 110

17. एलेट्रॉनिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग : एक संक्षिप्त अध्ययन — प्रसेकराज, डॉ. चंद्रनाथ मिश्र 114

18. संस्मरण साहित्य में काशीनाथ सिंह का नया प्रयोग — डॉ. प्रीति राय 118

19. लोक संगीत का समाज पर प्रभाव : एक विवेचनात्मक अध्ययन — अनंत शंकर, डॉ. अरविन्द कुमार 126

20. पं. विदुर मल्लिक : दरभंगा घराना के महान गायक — राजन कुमार मिश्र, डॉ.चंद्र नाथ मिश्र 133

21. मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अन्य ललित कलाओं से अन्त:संबंध'' (केशव के काव्य में सौन्दर्य दर्शन के सन्दर्भ) — डॉ. चैतराम यादव 137

22. बिलासपुर जिले में राम का एतिहासिक प्रासंगिकता — डॉ. महेश कुमार शुक्ला, जीवन लाल जायसवाल 142

23. रस की भारतीय अवधारणा : एक विश्लेषण — सर्वेश कुमार मणि, डॉ. कुलिन कुमार जोशी 146

24. बिहार के लोकगीतों में ऋतु गीत की भूमिका — रेखा कुमारी 155

25. कलानुरागिनी गणिका : एक एतिहासिक नजर — प्रो.पुष्पम नारायण 159

26. संगीताचार्य घनारंग मल्लिक की रचनाओं में अभिव्यक्त भक्ति के स्वर — कुमार गौरव मिश्रा 164

27. ना धिं धिं ना के जादूगर पंडित अनोखे लाल मिश्र जी का बाज एवं बंदिशें — वर्षा निम, डॉ. शिवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी 171

28. Inclusion of Indian Classical Music in Human Resources Stress Management Programs — Saumitra Dixit, S.D. Sharma, Veronica Kamara 177

29. The Role and Significance of Music in Early Childhood Years — Anshu Shukla 186

30. Promoting Ecotourism in Sustainable Development in Jashpur District of Chhattisgarh : An Analysis — Augustin Xaxa, Dr. Anju Tiwari 195

31. Capturing Echoes: The Evolution and Impact of Sound Recording Technology — Nitish Bhardwaj, Prof. Pravin Uddhav 203

32. Comparative Study of Gurukula System and Institutionalised System of Music Education — Raghavendra K Badasheshi 213

33. Impact of Social Advertising Campaigns on the Behaviour of Youth's in Metro Politan Cities — Dr. Badavath Surender 219

34. Importance of Guidance and Counselling Cells in Educational Institutions — Dr. Pukhrambam Chitra Devi 226

35. A Study on the Educational status among the Muslim Women in the State of Manipur — Dr. Khutheibam Seema 235

36. Hypergeometric Forms in Para-Linear Abstractions of Nasreen Mohamedi: A Self Transformation Into the Recluse Pictorial Space of Zen Minimalism — Dr. Ramesh Kandagiri 246

37. Gahira Guruji the Pride of Purvanchal Chhattisgarh — Dr. Ramratan Sahu, Malay Ghose 252

38. An Investigation Into the Administrative Style of Higher Secondary Principals and Its Effect on Campus Environment — Mr. Umang Vasani, Prof. (Dr.) Parshuram Dhaked 258

39. Entrepreneurship Education: Issues and Challenges — Ms. Reena, Ph.D. Scholar, Dr Akanksha Srivastava 262

40. Educational Administrative Problems of Higher Education Institutes in India — Ms. Sejal Chavda, Prof. (Dr.) Parshuram Dhaked 274

41. A Critical Study of Neutralizing Mother Tongue influence on English in a Multilingual Class Dr.Vinay Bhogle 279

42. Echoes Through Time: The Evolution of Western Rhythm from Medieval Chant to Modern Minimalism
Rajnish kumar Tiwary & Dr. Chandan Vishwakarma 284

43. A Stuty on the behavioral pattern of Muslim women related to different aspects in the state of Manipur Dr. Khutheibam Seema 292

44. Honour Killing in India
Yashvir, Dr. Mohd Danish Khan 309

45. Shakespeare's Influence on Modern English
Dr Dinesh Sharma 316

46. An analytical study on the concept of Practical Vedanta of Swami Vivekananda and its impact on Human Development
Dr. Jayanti P. Sahoo, Dipak Roy 324

47. Intellectual Property Rights and Farmer's Right in India: A Critical Analysis
Sourabh Batar, Dr. Praveen Kumar Mall 331

48. The Healing Harmony: Exploring the Transformative Power of Music Therapy
Dr. Ritika Tripathi & Rajnish kumar Tiwary 341

रागदारी संगीत की अनोखी वर्गीकरण पद्धति: राग-रागिनी पद्धति

डॉ. अर्पणा शुक्ला

सारांश

पुरातन काल से अधुना समय तक संगीत में होने वाले नवीन प्रयोगों से संगीत के सत्सम रूप और सांगीतिक अभिव्यक्ति की शैलियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते रहे है। संगीत के माध्यम से भाषाभिव्यन्जन के लिये भारतीय राग संगीत की अनुपम सृष्टि है। भिन्न स्वरूप एवं नाम धारण करने वाली स्वर रचनाओं को पहले जाति एवं उसके बाद राग के नाम से जाना जाने लगा। कुछ समानता वाले राग एवं कुछ भिन्नता रखने वाले रागों के अलग- अलग समूह बना दिये गये। रागों का यह वर्गीकरण प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक चला आ रहा है। हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में राग वर्गीकरण के कई प्रकार, प्रचार में रहे है। रागों के विकास के पश्चात् विद्वानों ने राग वर्गीकरण के महत्व को जाना तथा अपने अपने मतानुसार तत्कालीन समय में प्रचलित रागों का वर्गीकरण अपने अपने मतानुसार किया। राग वर्गीकरण प्रथमत: पन्डित लोचन द्वारा रचित ग्रन्थ में प्राप्त होता है। तत्पश्चात् अहोबल, हृदयनारायण देव आदि के ग्रन्थों में मिलता है।

जिस पद्धति से अनेक समानधर्मी वस्तुओं को किसी वर्ग विशेष में रखा जाता है, उसे वर्गीकरण कहते हैं। वर्गीकरण शब्द में वर्ग के कई अर्थ हैं। श्रेणी, समूह, दल, जाति, संग्रह आदि तथा वर्गीकरण से तात्पर्य है वर्गों में बॉटना। कुछ समान गुणों को ध्यान में रखते हुये जब रागों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है तब उसे राग वर्गीकरण कहते हैं। भिन्न भिन्न विद्वानों ने रागों का विभिन्न प्रकार से वर्गीकरण किया है। अत: रागों के वर्गीकरण को समय की दृश्टि से तीन भागों में बाँटा गया है। प्राचीन काल, मध्य काल तथा आधुनिक काल।

प्राचीन काल

1) ग्राम, मूर्छना, जाति वर्गीकरण। 2) रत्नाकर निर्मित राग वर्गीकरण। 3) शुद्ध, छायालग व संकीर्ण राग वर्गीकरण।

मध्यकाल

1) राग रागिनी वर्गीकरण। 2) मेल राग वर्गीकरण।

आधुनिक काल

1) थाट का वर्गीकरण। 2) रागांग राग वर्गीकरण।
समयाश्रित राग वर्गीकरण पूर्वराग उत्तर राग वर्गीकरण
स्वरसंख्यांश्रित राग वर्गीकरण

की-वर्ड- राग-रागिनी, ग्रन्थ, संगीत, वर्गीकरण।

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग, श्री अग्रसेन कन्या पी.जी. कॉलेज, वाराणसी

राग-रागिनी-वर्गीकरण-

मेल-पद्धति के साथ-साथ मध्ययुग में राग-रागिनी परम्परा का उल्लेख मिलता है, जिसका आधार भी मतंग के ग्राम राग एवं उनकी भाषा विभाषादि थी। इसी परंपरा को कुछ उत्तर के विद्वानों ने स्वीकार करते हुए अपनाया।

मतंग के पश्चात् शारंगदेव तक के ग्रंथकारों ने कोई नवीन संयोजन न करके अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का पुनर्ग्रंथन किया। शारंगदेव के पश्चात् कालीन ग्रंथकार सुधाकलश ने संगीतोपनिषत्सारोद्धार में प्रचलित देशी रागों का विभाजन छः पुरुष राग एवं प्रत्येक की छः-छः भाषा के रूप में किया।

संगीतमकरंद के रागों के वर्गीकरण में छः प्रमुख राग तथा उनकी भार्याओं के वर्णन के अतिरिक्त पुरुषराग, स्त्रीराग और नपुंसक राग जैसे भेद नारद ने दिए है। इन भेदों मैं भी मुक्तांग, कंपिता, अर्धकंपिता और कंपविहिना जैसा वर्गीकरण किया गया है, जो कि संगीतरत्नाकर तथा उसके बाद के अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता।

नारद ने राग वर्गीकरण को कई प्रकार से बताया है। संगीतमकरंद में राग-वर्गीकरण के निम्नलिखित पृथक् रूप मिलते हैं[1]-

1. सूर्याश राग (प्रातः कालीन राग) मध्याहकालीन राग तथा चंद्रांशराग।

2. संपूर्ण षाडवादि अवस्था के अनुसार-

संपूर्ण राग, षाडव राग, औडव राग।

3. लिंग के अनुसार-

पुल्लिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकराग। इन तीनों लिंगों के अंतर्गत रागों का रसानुकूल प्रयोग संगीतमकरंद में कहा गया है।

4. रागांग राग-

इस श्रेणी में नारद ने कुछ राग पृथक् रूप से रखे हैं, यह राग-भेद शारंगदेव के वर्गीकरण का एक अंग प्रतीत होता है, इसे किस संदर्भ में नारद ने स्थान दिया है यह अस्पष्ट है।

5. छः पुरुष राग और प्रत्येक की छः स्त्रियों (दो मत से)। इन भिन्न वर्गीकरणों में अनेक राग नामों की पुनरावृत्ति हुई है, साथ ही इन भिन्न-भिन्न वर्गीकरणों में परस्पर सामन्जस्य स्थापन का कोई यत्न या उल्लेख ग्रन्थ में नहीं मिलता।

संगीत जगत् में एक और नारद हुए हैं जिन्होंने चत्वारिंशत् राग निरूपणम् नामक ग्रंथ में दस पुरुष राग, प्रत्येक की 5 स्त्रियों, 4 कुमार एवं 4 पुत्रवधू की कल्पना करके राग-रागनियों के परिवार का वर्णन किया है।

मध्य युग में राग-रागिनी वर्गीकरण के प्रमुख ग्रंथों में शुभंकर कृत संगीत दामोदर, पुंडरिक विठ्ठल की रागमाला, दामोदर पंडित कृत संगीत दर्पण इत्यादि ग्रंथ पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के काल में प्राप्त होते हैं।

संगीतदर्पणकर्ता पं. दामोदर ने रागों की उत्पत्ति बताने के पश्चात् तीन मतों से राग-रागिनी वर्गीकरण प्रस्तुत किया है- शिव मत, हनुमन्मत्, रागार्णव मत। इन तीनों मतो में भिन्न-भिन्न रागिनियों का प्रयोग हुआ है, इस वर्गीकरण का शास्त्रीय आधार क्या रहा, इस पर कोई चर्चा पंडित दामोदर ने नहीं की है।

पंद्रहवीं शताब्दी के शुभंकरभट्ट ने एक मत से छः राग तथा 30 रागिनियों तथा दूसरे मत से छः राग तथा छत्तीस रागिनियाँ बताई हैं। पुंडरिक विट्टल ने रागमाला नामक ग्रंथ में छः राग, प्रत्येक की पाँच स्त्रियों एवं पाँच पुत्र कहे हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रंथकार जैसे फकिरुल्ला ने राग-दर्पण में, अबुलफजल ने आईने अकबरी में राग-रागिनी वर्गीकरण को स्वीकार किया है। पंडित भावभट्ट ने भी अनूपसंगीतांकुश में इसी वर्गीकरण का आधार लिया है।

पुंडरिक ने छः राग, शुद्ध भैरव, हिंदोल, देशकार, श्री, शुद्धनाट तया नहनारायण कहे हैं,

प्रत्येक राग की पाँच रागिनियाँ तथा पाँच पुत्र हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में, कई राग प्रचार में थे, यह संगीत राज, पुंडरीक विठ्ठल के ग्रंथ तथा अन्य कई ग्रंथों से विदित होता है, अत: इनका वर्गीकरण केवल 6 राग तथा 36 रागिनियों में करना योग्य प्रतीत नहीं होता। इस वर्गीकरण के लिए क्या वैज्ञानिक आधार था इसका स्पष्टीकरण ग्रंथों से नहीं होता।[2] श्रीकण्ठ ने रसकौमुदी में मेल एवं राग-रागिनि पद्धति का समन्वय करने की चेष्टा की है, फलस्वरूप ग्यारह मेलों के अंतर्गत 23 पुरुष राग एवं पन्द्रह स्त्री-रागिनियों का उल्लेख किया गया है।

राग-रागिनी वर्गीकरण पद्धति सृष्टि की उत्पत्ति के वैदिक सिद्धांत पर आधारित है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक इस पद्धति का प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य दिखायी देता है। वर्तमान में रागों को वर्गीकृत करने के लिए अन्य पद्धतियां प्रचलित अवश्य हैं, परन्तु आज भी इस पद्धति की ध्यान परम्परा की ओर गायकों का आकर्षण दिखायी देता है। भैरवी राग की अवतारणा करते समय अनेक प्रसिद्ध गायकों को 'संगीत दर्पण' में उपलब्ध भैरवी रागिनी की मनोहर छवि की झांकी का दर्शन कराने वाली पंक्ति ''स्फटिक रचित पीठे रम्य कैलाश श्रृंगे, विकचकमल पत्रैरर्चयंती महेशम्। करधृतघनवाद्या पीतवर्णायताक्षी सुकविभिरयमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री।।''[3] को तन्मयता से गाते हुए सुनकर पाषाणहृदय श्रोता के मन में भी भैरवी की छवि अंकित हो जाती है। यही भावुकता और दर्शक श्रोताओं को बरबस आकर्षित करने की क्षमता, इस पद्धति की आत्मा है जिसे सहृदयों के हृदयों से निकाला नहीं जा सकता, तिरोहित नहीं किया जा सकता। सामगान हो, गांधर्व हो या देशी, गायन हो या वादन, धुरपद शैली हो या ख्याल शैली, ठुमरी हो या तराना, संगीत की किसी भी गीत विद्या को इस रसभाव भक्ति से विलग कर लोकप्रिय नहीं बनाया जा सकता।

संगीत में स्वर ही मुख्य उपादान है। स्वानुभूति से हम दृढ़तापूर्वक मानते हैं कि स्वर में रसभाव की अपार सुष्टि सन्निहित है। सुखदु:खादि संवेदनाओं से लेकर साहित्य ग्रंथों में वर्णित रसों का दर्शन भी स्वर के माध्यम से किया जा सकता है।

स्वरों में, रागों में नि:संदेह स्त्री पुरुष का दर्शन होता है। उनके भाव रूप का अनुभव किया जा सकता है और उनकी रस-मूर्ति का दर्शन कर सकते हैं, किन्तु तन्निमित्त यानी उनके अनुभव के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता है उनकी पूर्ण उपलब्धि पर वह दर्शन अवलम्बित है। राग-रागिनियों के भाव रूप की स्वीकृति कोरी कल्पना ही नहीं, अपितु सत्य पर आधृत पूर्ण दर्शन है।

'राग' और 'रागिनी' ये दो शब्द क्रमश: पुरुष और स्त्री के वाचक हैं। पुरुष और स्त्री उस द्वन्द के प्रतीक हैं, जो सृष्टि की उत्पत्ति के मूल से हैं। ब्रह्मा को जब 'एकोऽहं' का भान हुआ और 'बहुस्याम' की इच्छा हुई तो उसने अपने आपको द्विधा व्यक्त किया, जो स्त्री-पुरुष कहलाए। द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिए आदि काल से स्त्री-पुरुष-ये दो प्रतीक ही ग्रहण किये जाते रहे हैं। गम्भीरता, विशालता, कठोरता आदि भावों का प्रतीकात्मक नाम 'पुरुष' और चंचलता, संकोच, कोमलता आदि भावों का नाम 'स्त्री' रखा गया। नाट्य भिन्न संगीत में परिस्थिति के चित्रण की अपेक्षा भाव-चित्रण की ही प्रधानता रही है, क्योंकि परिस्थिति के चित्रण के लिए स्वर, ताल के अलावा और भी बहुत कुछ सामग्री आवश्यक है जो नाट्य के अन्तर्गत तो सहज रूप से उपलब्ध होती है, लेकिन उससे बाहर नहीं। भावों में कठोर-कोमल, गंभीर-तरल आदि द्वन्द्व होते ही हैं और द्वन्द्व की कल्पना भारतीय

मानस में स्त्री-पुरुष के रूप में सहज रूप से ग्राह्य होती है।

इसीलिए भावाभिव्यक्ति के लिए विभिन्न स्वरावलियों में भी स्त्री-पुरुष की कल्पना होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से रागरागिनी-वर्गीकरण भारतीय जन-मानस, लोक-जीवन और कल्पना के अनुकूल है।

राग-रागिनी-वर्गीकरण पद्धति दक्षिण भारत को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में प्रचलित रही और वह भारत के उन सभी प्रदेशों में पूर्ण रूप से व्याप्त है। संगीत-मकरन्द में सर्वप्रथम रस के आधार पर रागों का पुल्लिङ्ग राग, स्त्री राग तथा नपुंसक राग के अन्तर्गत विभाजन किया गया है। नारद ने 20 पुल्लिङ्ग रागों, 24 स्त्री राग तथा 13 नपुंसक रागों का वर्णन किया है।[4] प्राचीन काल से आज तक इस वर्गीकरण की मुख्य योजनाओं की ऐतिहासिक रूप-रेखा निम्न प्रकार से प्राप्त होती है, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि प्राचीन काल में संगीत का वर्गीकरण पांच मतों के अन्तर्गत किया गया जो क्रम से ब्रह्म मत, शिव मत, नारद मत, हनुमान मत और भरत मत। किन्तु तीन ही मत प्रचार में थे, जबकि कुछ विद्वानों के अनुसार प्राचीन भारत में शिवमत, नारद मत और भरत मत प्रचार में रहे। जिनका विवरण निम्नवत है-

1. शिवमत के छः राग और छत्तीस रागिनियाँ[5]

क्र. सं.	राग	प्रत्येक राग की छः रागिनियाँ
1.	श्री	(1) मालवी, (2) त्रिवेणी, (3) गौरी, (4) केदार, (5) मधुमाधवी, (6) पहाड़िका।
2.	बसंत	(1) देशी, (2) देवगिरी, (3) वराटी, (4) तोड़ी, (5) ललिता, (6) हिंदोली।
3.	पंचम	(1) विभाषा, (2) भूपाली, (3) कर्णाटी, (4) बड़हंसिका, (5) मालवी, (6) पटमंजरी
4.	मेघ	(1) मल्लारी, (2) सोरठी, (3) सावेरी, (4) कौशिकी, (5) गांधारी, (6) हरशृंगार
5.	भैरव	(1) भैरवी, (2) गुर्जरी, (3) रामकिरी, (4) गुणकिरी, (5) बंगाली, (6) सैंधवी।
6.	नट्नारायण	(1) कामोदी, (2) आभीरी, (3) नाटिका, (4) कल्याणी, (5) सारंगी, (6) नट्टहंवीरा।

(2) भरतमत के छः राग और रागिनियां[6]

क्र. सं.	राग	प्रत्येक राग की छः रागिनियाँ
1.	भैरव	(1) मधुमाधवी, (2) ललिता, (3) बरारी, (4) भैरवी, (5) बहुली।
2.	मालकौंस	(1) गुर्जरी, (2) विद्यावती, (3) तोड़ी, (4) खम्भावती, (5) ककुभ
3.	हिंडोल	(1) रामकली, (2) मालवी, (3) आसावरी, (4) देवारी, (5) केकी
4.	दीपक	(1) केदारी, (2) गौरा, (3) रूद्रावती, (4) कामोद, (5) गुर्जरी।,
5.	श्री	(1) सैंधवी, (2) काफी, (3) ठुमरी, (4) विचित्रा, (5) सोहनी।
6.	मेघ	(1) मल्लारी, (2) सारंगा, (3) देशी, (4) रतिवल्लभा, (5) कानरा

(3) कल्लिनाथ मत के अनुसार छह राग और छत्तीस रागिनियां[7]

क्र. सं.	राग	प्रत्येक राग की छः रागिनियाँ
1.	श्री	(1) गौरी, (2) कोलाहल, (3) धवला, (4) वरोराजी, (5) मालकौंस, (6) गांधार।
2.	पंचम	(1) त्रिवेणी, (2) हस्तंतरेतहा, (3) अहीरी, (4) कोकभ, (5) बेरारी, (6) आसावरी।

3.	भैरव	(1) भैरवी, (2) गुर्जरी, (3) बेलावली, (4) बिहाग, (5) कर्णाटी, (6) कानड़ा।
4.	मेघ	(1) बंगाली, (2) मधुरा, (3) कामोद, (4) धनाश्री, (5) देवतीर्थी, (6) दिवाल
5.	नट्टनारायण	(1) त्रिबंकी, (2) तिलंगी, (3) पूर्वी, (4) गांधारी, (5) रामा, (6) सिंधमल्लारी।
6.	बसंत	(1) अंधाली, (2) गुणकली, (3) पटमंजरी, (4) गौड़किरी, (5) धांकी, (6) देवसाग।

4. हनुमन्मत मत के छः राग और तीस रागिनियां[8]

क्र. सं.	राग	प्रत्येक राग की छः रागिनियाँ
1.	भैरव	(1) बंगाली, (2) सैंधवी, (3) भैरवी, (4) बरारी, (5) मदमाती।
2.	मालकौंस	(1) तोड़ी, (2) गुणकरी, (3) गौरी, (4) खम्बावती, (5) ककुम
3.	हिंडोल	(1) रामकली, (2) देशारव, (3) ललिता, (4) विलावली, (5) परमंजरी।
4.	दीपक	(1) देशी, (2) कामोदी, (3) केदारी, (4) कानड़ा, (5) नाटिका
5.	श्री	(1) मालश्री, (2) आसावरी, (3) धनाश्री, (4) बसंती, (5) मारवा
6.	मेघ	(1) तनक, (2) मल्लारी, (3) गुर्जरी, (4) भोपाली, (5) देशकार

इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रंथकारों ने प्रत्येक रागिनी के पुत्र और पुत्रवधू मानकर उनके परिवार को विस्तृत किया जिस समय उक्त मत प्रचलित थे, उस समय राग-रागिनियों का जो स्वरूप था, वह आधुनिक प्रचलित रागों से नहीं मिलता है।

निष्कर्षत: इस प्रकार मध्ययुग में राग-रागिनी वर्गीकरण का उल्लेख मिला है। शारंगदेव के समय से ही देश की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होना प्रारम्भ हो चुका था। इस युग में दो राग वर्गीकरण पद्धतियाँ राग रागिनी वर्गीकरण एवं मेल राग वर्गीकरण पद्धतियाँ प्रचार में आयी। चैदहवीं सदी में रचित 'सुधाकलश' के संगीतोपनिशद्सारोद्धार में मुख्य 6 रागों के राग और प्रत्येक से सम्बन्धित 6 स्त्री रूपों को रागिनी न कहकर भाषा कहा है। अब तक के ग्रन्थों में यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें राग को पुरुष तथा सम्बद्ध रूपों को स्त्री माना है और उसमें स्त्री के लिये रागिनी के स्थान पर भाषा संज्ञा का प्रयोग इस बात का सूचक है कि पुरुषत्व और स्त्रीत्व की कल्पना सूक्ष्म रूप में सही ग्राम राग और भाषा विभाषा आदि की पर्गीकरण पद्धति में रही होगी।

मतंग के बृहदेशी में 30 ग्राम रागों के नाम पुलिंग वाची और उसकी भाषा, विभाषा, अन्तर भाषाओं के नाम सर्वत्र स्त्रीलिंग वाची है। अत: राग और उनकी भाषा में पुरुषत्व और स्त्रीत्व की कल्पना के अन्तर्निहित है। चैदहवीं शताब्दी में इनका प्रस्फुटन सुधाकलश तथा विद्याराग द्वारा हुआ।

संदर्भ सूची-

1. डॉ. पाठक सुनंदा, (2016), हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 214
2. वही, पृ. 216
3. डॉ. मालवीय राकेश्वर, (2020), राग वर्गीकरण की विभिन्न पद्धतियाँ, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. 71
4. वही, पृ. 72
5. डॉ. भट्टाचार्या मधुमिता, (2016), राग एवं मानव जीवन, कला प्रकाशन, वाराणसी, पृ0 84
6. डॉ. मिश्रा ज्योति, (2019), हिन्दुस्तानी संगीत में रागांग, कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 62
7. डॉ. मालवीय राकेश्वर, (2020), राग वर्गीकरण की विभिन्न पद्धतियाँ, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ. 73
8. वही, पृ. 73

संगीत कला और समाज : भक्ति संगीत परंपरा का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

डॉ मोनिका दीक्षित

सारांश

संगीत ने हर युग में समाज को प्रभावित किया है, और इसके विपरीत, सामाजिक गतिविधियों ने भी संगीत को प्रभावित किया है। संगीत की दुनिया केवल कला और सौंदर्य की साधना तक सीमित नहीं है; यह समाज के आर्थिक ढांचे, राजनीतिक-सामाजिक संरचना, और सांस्कृतिक संस्थाओं से भी गहरे प्रभावित है। वैदिक काल से ही मंदिरों में भगवान के भजन गाए जाते थे, और भक्त भक्ति गीतों को करताल के साथ गाते थे। यहीं से भजन की परंपरा शुरू हुई, जो आज भी समाज में प्रचलित है। सैकड़ों और हजारों लोग भक्ति गान में शामिल होते हैं और एकाग्रता से गाते हैं। 14वीं से 19वीं शताब्दी तक का काल भक्ति साहित्य के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इस अवधि के भक्त गायकों द्वारा प्रस्तुत जीवन के मूल्य और मर्यादा आज भी समाज में प्रतिष्ठित हैं। शिव जी के साथ डमरु, विष्णु के अवतार कृष्ण के साथ बंसी, और सरस्वती के साथ वीणा जैसे वाद्यों की कल्पना आज भी हमारे समाज में विद्यमान है। सामाजिक जीवन में राग, द्वेष, हर्ष और शोक के भाव बार-बार उत्पन्न होते हैं, जिससे मनुष्य का मन विचलित रहता है। इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिए भक्ति गान सबसे प्रभावी उपाय है।

मुख्य शब्द- *समाज, सांगीतिक समाजशास्त्र, भक्ति संगीत, वैदिक कालीन भक्ति गायक, भक्ति कालीन संगीतज्ञ ।*

अनुसंधान पद्धति- विभिन्न पुस्तकों का अध्ययन कर द्वितीयक स्रोतों को आधार बनाकर शोध पत्र की सामग्री एकत्र की गई है।

अध्ययन क्षेत्र- प्रस्तुत शोध पत्र में विभिन्न सामाजिक क्रियाकलापों में कला और संगीत के समन्वय को व्यक्त किया गया है ।भक्ति संगीत हमारे समाज का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है जो प्राचीन काल से हमारे घर, परिवार, समाज, मंदिरों में व्याप्त है। भक्ति काल में ऐसे अनेक भक्त कवि और रचनाकार हुए जिन्होंने संगीत के प्रचार और प्रचार में अपना अमूल्य योगदान दिया। समाज में व्याप्त भक्ति संगीत परंपरा व वाद्य परंपरा को जनमानस के समक्ष लाने के लिए उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर जानकारी एकत्र कर इस शोध पत्र में प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यावलोकन

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह सर्वविदित है और क्योंकि संगीत मनुष्य से सदा से ही जुड़ा रहा है, अत: समाज में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। प्रत्येक काल में संगीत ने समाज को प्रभावित किया है या सामाजिक क्रियाकलापों

एसोसिएट प्रोफेसर (संगीत विभाग), किशोरी रमण महिला स्नातकोत्तर, महाविद्यालय मथुरा

से संगीत प्रभावित होता रहा है। संगीत कला के समाजशास्त्र को समझने से पहले समाज को समझना आवश्यक है।

समाज क्या है ?

समाज को विभिन्न समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। "मैकाईबर तथा पेज" ने लिखा है- समाज कार्य प्रणालियों और चलनों की अधिकार सत्ता और पारस्परिक सहायता की अनेक समूह वा श्रेणियों की तथा मानव व्यवहार के नियंत्रण अथवा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस निरंतर परिवर्तनशील और जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का ताना-बाना है और सदा बदलता रहता है। [1]

"रैयूटर" ने समाज की बहुत सरल परिभाषा दी है। उनके अनुसार समाज एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले संबंधों की संपूर्णता का बोध कराती है।[2]

"टालकट पार्सनस" ने समाज की अत्यंत वैज्ञानिक परिभाषा दी है। उन्होंने लिखा है कि समाज को उन मानवीय संबंधों की पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन और साध्य के संबंध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं। चाहे वे यथार्थ हो या प्रतीकात्मक।[3]

"मॉरिस गिंसवर्ग" के अनुसार- समाज ऐसे व्यक्तियों का संग्रह है जो कुछ संबंधों अथवा व्यवहारों की विधियों द्वारा आपस में बंधे हुए हैं, जो उन व्यक्तियों से भिन्न है, जो इस प्रकार के संबंधों द्वारा आपस में बंधे हुए नहीं हैं अथवा जिनके व्यवहार भिन्न है।[4]

संगीत का समाजशास्त्र

1956 में धुर्जिट प्रसाद मुखर्जी ने कहा था- कला के समाजशास्त्र का क्षेत्र अभी अंधकारमय है परंतु वर्तमान में संगीत की दुनिया केवल कला और सौंदर्य की साधना के सहारे नहीं चल रही है, बल्कि समाज के आर्थिक ढांचा, राजनीतिक-सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से भी प्रभावित है। जब से संगीत की दुनिया में कलाकारों और श्रोताओं के बीच संगीत बाजार आ गया है और संस्कृति का क्षेत्र प्रतीकात्मक वस्तुओं का बाजार बन गया है तब से समाज में कला और संगीत की स्थिति बहुत बदल गई है।

संगीत का समाजशास्त्रीय चिंतन आधुनिक समाज में संगीत की सत्ता और सार्थकता की पहचान के बौद्धिक प्रयास की देन है। संगीत के समाजशास्त्र को समझने के लिए उसके भीतर समाज से संगीत के संबंध की व्याख्या में सक्रिय मुख्य अभिव्यक्तियों को जानना आवश्यक है। संगीत के समाजशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है, समाज से संगीत के संबंध की खोज और उसकी व्याख्या। संगीत के समाजशास्त्रीय विवेचन में प्रचलित व महत्वपूर्ण संगीत शैलियों की रचनाओं का ही चुनाव होना चाहिए क्योंकि इसी से युगीन वास्तविकताओं का गहरा बोध होता है । 5

भक्ति संगीत परंपरा

भक्ति संगीत भारतीय संस्कृति और समाज का एक अभिन्न अंग रहा है। इसके माध्यम से व्यक्ति ईश्वर के प्रति अपनी असीम श्रद्धा और प्रेम को व्यक्त करता है। भक्ति संगीत की परंपरा का उद्भव प्राचीन समय से माना जाता है, जब संतों और भक्तों ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिए संगीत को माध्यम बनाया। भजन, कीर्तन, और स्तोत्र जैसे संगीत रूपों ने समाज में एक सकारात्मक ऊर्जा और एकता का संचार किया है। चाहे वह रामभक्त हों, कृष्णभक्त हों, या शैव और वैष्णव मत के अनुयायी हों, सभी ने

भक्ति संगीत के माध्यम से अपने इष्ट देवता की आराधना की है।

भक्ति संगीत केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आत्मा की शुद्धि और मानसिक शांति का भी साधन है। कबीर, तुलसीदास, मीरा, सूरदास जैसे महान संतों ने भक्ति संगीत की धारा को और समृद्ध किया। उनके भजनों और दोहों ने समाज के हर वर्ग में आध्यात्मिकता का संदेश फैलाया। इन भजनों की धुनों ने न केवल धार्मिक माहौल को पवित्र किया, बल्कि लोगों के जीवन को भी प्रेरणा दी। इस प्रकार, भक्ति संगीत ने समाज में न केवल आध्यात्मिक जागरूकता को बढ़ावा दिया, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक एकता का भी प्रतीक बना।

भक्ति संगीत का समाजशास्त्र

वैदिक कालीन ग्रंथ संगीत-भाष्य में कहा गया है कि जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा हो वह उत्सव समज्जा कहलाता था। 6 इसे समाज भी कहा जाता था। विश्वशांति व कल्याण के लिए प्रार्थना करते समय मंदिरों में विभिन्न प्रकार के वाद्यों के साथ सुबह से शाम तक भजन कीर्तन का जो कार्यक्रम चलता है, उसमें संगीत ही एकमात्र आधार होता है। भक्ति काल के अंतर्गत हम देखते हैं कि रामानुज, चैतन्य, विद्यापति, वल्लभाचार्य, सूर, तुलसी, मीरा, भक्ति संगीत के मार्गदर्शक बने। वैदिक काल से ही मंदिरों में भगवान का भजन होता था। भक्त- भक्ति के पदों को करताल के साथ गाते थे। यहीं से भजन की शैली का आरंभ होता है और उसकी प्रथा समाज में अब तक चली आ रही है। सैकड़ों और हजारों लोग भक्ति गान में सम्मिलित होते हैं और साथ-साथ तन्मयता से गाते हैं।

मीरा, कबीर, सूरदास और तुलसीदास के भजन भक्ति और संगीत के दृष्टिकोण से भारत के भक्तों के लिए लोकप्रिय बन गए। "घूंघट के पट खोल तोहे राम मिलेंगे", "मैया मैं नहीं माखन खायो", "मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो नहिं कोई", "मैं तो प्रेम दीवानी मेरो दर्द ना जाने कोई", "मैंने राम रतन धन पायो," इन सब गीतों में भक्ति की ही पुनीत वाणी है।[7]

भगवान का प्रत्येक नाम एक मंत्र है। स्वर और लय के आधार से मंत्र की शब्द या चेतना शक्ति जागृत होती है। वैदिक काल से आज तक अनेकों संत भक्तों ने स्वर और शब्द की चेतन शक्ति से ही भगवान का अनन्य प्रेम उपलब्ध किया तथा जगत को सत्य का संदेश दिया।[8]

ईसा की 14वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी तक का काल भक्ति साहित्य की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। इस काल में भक्ति आंदोलन अपने चरम पर था और इसी समय निर्गुण संत भक्ति, प्रेम मार्गी, सूफी भक्ति, कृष्ण भक्ति तथा राम भक्ति की प्रेरणा से हिंदी के सर्वोच्च साहित्य का निर्माण हुआ, जिसके प्रभावस्वरूप संगीत कला को भी पूर्ण विकसित होने का सौभाग्य मिला। इस काल के भक्त गायकों द्वारा प्रसारित जीवन के मूल्य और मर्यादा आज तक समाज में प्रतिष्ठित है क्योंकि सभी संत गायक समान रूप से सांसारिक भोग विलास को हेय और त्याज्य दृष्टि से देखते हैं और जीव मात्र के प्रति दया तथा प्रेम की प्रवृत्ति को अपनाने पर बल देते हैं, ताकि मानव समुदाय की सोई हुई क्रियात्मक शक्तियों का जागरण होकर अक्षय, सुख और शक्ति की अभिवृद्धि हो।[9]

ईश्वर तक पहुंचने के कई रास्ते हैं, किंतु संगीत इन सब में सरल एवं आनंददायक रास्ता है। ईश्वर को नाद ब्रह्म का रूप दिया गया है। इसका यह अर्थ है कि कोई ईश्वर तक संगीत के रास्ते पहुंच सकता है। शिव जी के साथ डमरु,

विष्णु के अवतार कृष्ण के साथ वंशी, सरस्वती के साथ वीणा आदि वाद्यों की कल्पना हमारे समाज में आज भी विद्यमान है और आज तक ईश्वर भक्ति के पवित्र भावों में रचे हुए संगीत का पालन-पोषण हमारे मंदिरों में हो रहा है। यह मंदिर हमारे समाज में भक्ति का प्रमुख केंद्र होते हैं।[10]

महाकवि सूरदास रचित अनेकों ऐसे भक्ति पद है जो संगीत के सुर-ताल से परिपूर्ण है। आचार्य वल्लभाचार्य ने सूरदास की विशिष्ट काव्य रचना, गायन कला और भक्ति भावना को देखकर अष्टछाप के भक्त संत कवियों में इन्हें प्रथम स्थान दिया। भक्ति काव्य में कुछ ऐसे भी प्रकार प्रचार में आए जिन्हें लोकधुनों का आश्रय प्राप्त हो जाने से वे साधारण जीवन और हिंदू संस्कृति का अंग बन गए हैं। सामाजिक दैनिक जीवन में राग-द्वेष तथा हर्ष-शोक के भाव प्राय: किसी न किसी क्षण में आते ही रहते हैं, जिससे मानव- मन विचलित होता रहता है, इस अवस्था से मुक्ति पाने के लिए भक्तिगान से बढ़कर कोई दूसरा उपाय नहीं है।

"द्वारिका माहात्म्य" ने लिखा है- कि जो प्रसन्नचित्त से श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भावों सहित भक्ति- गीत पर नृत्य करते हैं, वह जन्म- जन्मांतर के पापों से मुक्ति पा लेते हैं। भक्ति काव्य में सत्य, शिव और सौंदर्य का अद्‌भुत समन्वय है। इस प्रकार देखा जाए तो भारतीय समाज भक्ति संगीत के अपार भंडार से भरा पड़ा है।[11]

निष्कर्ष

अत: भक्ति संगीत में असीम सामर्थ्य है जिसके द्वारा मन व आत्मा को पवित्र बनाया जा सकता है। कोई भी संप्रदाय हो अथवा कोई भी धर्म, सभी में संगीत का महत्व है। हिंदू भजन व आरती गाते हैं, तो जैन लोग भजन गाते हैं, सिख गुरु वाणी का ज्ञान करते हैं, मुसलमान कव्वाली गाते हैं। सभी उस एक शक्ति की आराधना अपने भक्ति गीतों से करते हैं। यही भक्ति मार्ग सरलतम मार्ग है।[12]

भक्ति संगीत में एक अद्वितीय और असीम सामर्थ्य है जो न केवल मन और आत्मा को पवित्रता की ओर ले जाता है, बल्कि एक गहरा आध्यात्मिक अनुभव भी प्रदान करता है। विभिन्न धार्मिक संप्रदाय और संस्कृति के अनुसार संगीत का महत्व अत्यधिक है, और यह विभिन्न प्रकार की भक्ति प्रथाओं में अनिवार्य भूमिका निभाता है। हिंदू धर्म में भजन और आरती के माध्यम से ईश्वर की आराधना की जाती है, वहीं जैन धर्म में भजन और स्तोत्रों का महत्व है। सिख धर्म में गुरु वाणी के गायन से आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त किया जाता है, और मुसलमानों के बीच कव्वाली और नात शरीफ के माध्यम से भक्ति व्यक्त की जाती है।

इन विविध भक्ति प्रथाओं के माध्यम से सभी धार्मिक और सांस्कृतिक समूह एक साझा उद्‌देश्य की ओर अग्रसर होते हैं – एक दिव्य शक्ति की पूजा और आत्मिक उन्नति की ओर। भक्ति संगीत इन विभिन्न परंपराओं को एकजुट करता है, जो एक सार्वभौम भाषा के रूप में कार्य करता है। यह न केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक यात्रा को सरल और सुलभ बनाता है, बल्कि सामूहिक भावना और सांस्कृतिक एकता को भी बढ़ावा देता है।

भक्ति संगीत का समाज में व्यापक प्रभाव यह दर्शाता है कि यह केवल धार्मिक प्रार्थना का साधन नहीं है, बल्कि यह एक शक्तिशाली उपकरण है जो समाज के विभिन्न हिस्सों को जोड़ता है और समाज में प्रेम, समर्पण, और शांति का संचार करता है। भक्ति संगीत के माध्यम से, हम एक सामान्य मानवता की भावना को महसूस कर सकते हैं और आत्मिक रूप से उन्नति की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं। इस प्रकार, भक्ति संगीत

की अनंत शक्ति और इसकी सार्वभौम उपस्थिति सभी धर्मों और सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों में एक गहरा और समर्पित संबंध स्थापित करती है, जो आत्मा की पवित्रता और सामाजिक समरसता को बढ़ावा देती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 संगीत का समाजशास्त्र- सत्यवती शर्मा, पृष्ठ संख्या 2
2 E.B.Reuter- Handbook of Sociology- Pg 157
3 Talcott Parsons- Encyclopedia of social sciences -Pg.231
4 Morris Ginsberg- Sociology- Pg.59
5 संगीत का समाजशास्त्र- सत्यवती शर्मा- पृष्ठ संख्या 27, 28
6 भारतीय संगीत का इतिहास- उमेश जोशी - पृष्ठ संख्या 95
7 हमारा आधुनिक संगीत- डॉ सुशील कुमार चौबे, पृष्ठ संख्या 105, 106,
8 निबंध संगीत -संकलन -लक्ष्मी नारायण गर्ग, पृष्ठ संख्या 558
9 स्तोम -2007 - संपादक डॉ लावण्य कीर्ति सिंह- पृष्ठ संख्या 28
10 सांगीतिक निबंध माला- डॉ सीमा जौहरी -पृष्ठ संख्या, 28
11 भैरवी- संगीत शोध पत्रिका- लेख, भारतीय समाज एवं भक्ति संगीत- डॉ शत्रुघ्न ठाकुर- पृष्ठ संख्या 96
12 संगीतायन- सीमा चौधरी- पृष्ठ संख्या 25

छत्तीसगढ़ में प्राप्त जैन मूर्तियाँ, पार्श्व तीर्थपति की प्राप्ति, प्राचीनता एवम् जैन मंदिर की स्थापत्य कला

डॉ महेश कुमार शुक्ला, अमित कुमार शर्मा

सारांश -

छत्तीसगढ़ में जैन धर्म की प्राचीनता एवम् स्थापत्य कला का समृद्ध इतिहास रहा है। इस धर्मभूमि ने सभी मानवीय धर्मों को फलने फूलने हेतु साधन, संसाधनों की उपलब्धता के साथ-साथ संरक्षण भी प्रदान किया। यह सुदीर्घजीवी परम्परा अतीत से वर्तमान तक निवर्तमान है। यहाँ प्राचीन कला-स्थापत्यों की शुभ्र, सौम्य, धवल छवि अंकित है। छत्तीसगढ़ में प्राप्त जैन मूर्तियों, स्थापत्यों एवं पुरासंग्रहों के ऐतिहासिक परिधि का केन्द्रीभूत स्वरूप स्थित है छत्तीसगढ़ के दुर्ग जिला स्थित नगपुरा से संबद्ध पार्श्व तीर्थपति की प्राप्ति का अनूठा इतिहास जो पौराणिक इतिहास से भी अधिक एक प्रामाणिक इतिहास है।

संकेत शब्द - अच्र्चा, तीथप्रति, उवसग्गहरं, उगना, जिनालय, भाण्डदेवल, श्रमैन, अमीया, अक्षय तृतीया, पावापुरी, देवकुलिका, नगपुरा।

प्रस्तावना - छत्तीसगढ़ की धरा पर विभिन्न शासन कालों में भिन्न-भिन्न धर्मों से संबंधित मूर्तियों व स्थापत्यों का दर्शन यहाँ की व्यापक धर्म, कला, संस्कृति के इतिहास का परिचायक प्रतिबिंब है। छत्तीसगढ़ में समय-समय पर हुए उत्खननों के द्वारा अनेक स्थानों से जैन प्रतिमाओं तथा स्थापत्यों का मिलना यह स्पष्ट करता है कि प्राचीन काल से यह अंचल जैन धर्म, कला एवम् संस्कृति का संगम स्थल रहा है। अध्याय का शीर्षक स्वरूप भी धर्म, कला और संस्कृति के छत्तीसगढ़ स्थित जैन धर्म क्षेत्र तथा तत्संबंधित मूल तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा विषयक अनुशीलन प्रतिमा के शाब्दिक अर्थ प्रतिरूप का बोध कराता है। पाणिनी द्वारा अपने सूत्र 'इवेप्रतिकृतौ' (5,3,93) में समरूप आकृति के लिए प्रतिकृति शब्द को प्रयुक्त किया है। प्राचीन भारत में प्रतिमा शब्द का प्रयोग वैदिक युग से ही होता चला आ रहा है। ऋग्वेद में यज्ञ के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिमा शब्द का प्रयोग किया गयाहै। प्रतिमा के लिए ऋग्वेद में 'अच्र्चा' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। पतंजलि द्वारा भी प्रतिमा के लिए 'अच्र्चा' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रतिमा शब्द का प्रयोग पूर्वजों, महान आत्माओं, दैवीय आकृतियों आदि के सम्बन्ध में होता आया हैं। प्रतिमा या विग्रह पाषाण-खण्ड को भी यदि प्रतिमान शिवलिंग की संज्ञा देना सम्भव है।

इस साकार विग्रह स्वरूप पार्श्व तीर्थपति का इतिहास निम्नलिखित है -

नगपुरा पार्श्व तीर्थपति की प्राप्ति - पार्श्व तीर्थपति की प्राप्ति का इतिहास एक ऐसा दैविक

सह प्राध्यापक इतिहास, डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय, करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)
शोधार्थी : डॉ. सी.वी. रमन विश्वविद्यालय, करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

सत्य है जो मानव स्थित धार्मिक आस्था को बल प्रदान करता है। हमारे धार्मिक स्थल मात्र कर्मकाण्डों की पूर्ति अथवा याचना की जगह नही हैं। यह धरती के वह ऐतिहासिक तीर्थ हैं, जहाँ विज्ञान भी नतमस्तक होता है। यह सांसारिक बुद्धि के तर्कों, प्रतिमानों एवं सीमाओं से आगे का दर्शन है, जिसकी कथा, सत्य घटना है, इस की शुरूआत होती है उगना ग्राम से जो उत्तरी भारत में गंडक नदी के तट पर स्थित है। यह वनों से आच्छादित, पहाड़ियों से घिरा स्थान मुख्य सड़क मार्ग से 90-95 किलोमीटर लम्बे पगडंडी मार्ग से जुड़ा है। पगडंडी मार्ग के दोनों ओर पहाड़ियाँ स्थित है। एक तरफ पगडंडी के गहरी और विकराल, भयावह पहाड़ी खाईयाँ स्थित हैं तो वहीं दूसरी ओर की पहाड़ियाँ पड़ोसी राज्य से सीमा का निर्धारण करती हैं। यहाँ के रहवासियों द्वारा दी गई यहाँ के क्षेत्रीय इतिहास की जानकारी के अनुसार किसी समय में यह क्षेत्र किसी परदेशी राजा के विशाल राज्य का भू-भाग था जो प्राकृतिक वन्य सम्पदा से परिपूर्ण था।

पूज्य आचार्यप्रवर ने उगना ग्राम में निर्धारित स्थान के लिए श्रीपार्श्वनाथ प्रभु की तीन प्रतिमाएँ पाली श्रीसंघ से अंजनषलाका प्रतिष्ठा कराने के पश्चात् भेंट कराई। पूज्यश्री से मणिजी द्वारा प्राप्त मुहूर्त के अनुसार 28 अप्रैल 1985 को प्रतिमा नगपुरा स्थानांतरित करने और 1 मई 1985 को प्रतिमा का प्रवेश तीर्थक्षेत्र में कराया जाना निश्चित हुआ। वातावरण में अबीर गुलाल की वर्षा के मध्य चतुर्थ दिवस निर्णायक काल में शिखरजी डोली वाला, मणिजी, वनांचलवासी आदि प्रतिमा डोली में लेकर मुख्य मार्ग पर पहुँचते, यहाँ से प्रतिमा को सुसज्जित मेटाडोर में ले जाने का प्रबन्ध किया गया था। ऐसे में मुख्य सड़क के समीप वनांचलवासी प्रतिमा को ले जाने का प्रबल विरोध करने लगे। इस स्थिति में शासकीय अधिकारियों एवम् तत्कालीन मंत्री के समन्वित प्रयासों से परिस्थिति को नियंत्रित किया जा सका। इस प्रकार यात्रा का शुभारम्भ किया गया। यात्रा अभी निर्धारित गंतव्य तक पहुंची ही थी कि कुछ अद्भुत घटा और नगपुरा स्थित पूर्वी नाले के समीप मेटाडोर सड़क से हटकर एक स्थान पर तटस्थ हो गई। अंतत: 28 अप्रैल की मध्यान्ह बेला को स्वंय मणिजी द्वारा मंत्रोच्चार पूर्ण कर प्रतिमा को उस स्थान पर स्थापित किये जाने का संकल्प घोषित हुआ। प्रतिमा की निश्चित प्रतिष्ठापना स्थली मिलते ही मेटाडोर सड़क से हटकर एक स्थान पर तटस्थ हो गई। अंतत: 28 अप्रैल की मध्यान्ह बेला को स्वंय मणिजी द्वारा मंत्रोच्चार पूर्ण कर प्रतिमा को उस स्थान पर स्थापित किये जाने का संकल्प घोषित हुआ। प्रतिमा की निश्चित प्रतिष्ठापना स्थली मिलते ही मेटाडोर आगे बढता है। प्रतिमा की स्थापना जिस स्थल पर की गई थी वही परम पुनीत तीर्थस्थली है छत्तीसगढ़ के दुर्ग जिले का नगपुरा जहाँ सहस्त्रों वर्षों पूर्व प्रभु पार्श्वनाथ अपने श्रमण काल में पधारे थे। उनकी पावन रज कण से आपूर्ण यह सामान्य स्थल एक तीर्थक्षेत्र में रूपांतरित हो गेया। ये तीर्थंकर जहाँ-जहाँ गए वहाँ-वहाँ तीर्थों की जाग्रत परम्परा के प्रतीक स्थापित हुए।

पार्श्व तीर्थपति प्रतिमा की प्राचीनता - इस प्रतिमा और सम्बन्धित जीर्णशीर्ण शिलालेख एवम् ताम्रपत्र के आधार पर इसकी प्राचीनता विषयक तथ्यों से प्रकट होता है कि भगवान महावीर के 37वें वर्ष में भगवान पार्श्वनाथ के तात्कालीक शिष्य आचार्या श्री केशी गणधर के माध्यम से इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई गई थी। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार श्री उवसग्गहर पार्श्वतीर्थ में श्री केशी स्वामी ने परदेशी राजा को प्रतिबोधित कर जिनोपासक बनाया था और

सघन वनाच्छादित राज्य में इस माध्यम से व्याप्त हिंसा आदि कार्यों पर रोक लगाई थी। परदेशी राजा ने उनसे जीव विषयक धर्म को ग्रहण किया था। केशी गणधर से इन्होनें जिन प्रतमा पूजन, प्रदीर्घ आदि विषयों पर वात्ता की थी, जिसके प्रभाव स्वरूप परदेशी राजा के अंत:करण में जिनोपासना तथा देवाधिदेव श्री पार्श्वनाथ प्रभु के प्रति श्रद्धा एवम् भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ था। इस प्रकार आचार्य केशीस्वामी द्वारा प्रतिबोधन से तथा उनके मंत्री चित्र की सतत् प्रेरणास्वरूप वह प्रभु पार्श्वनाथ के भक्ति रस धारा में निमग्न हो गए थे। गण्डक नदी इस भक्तिपूर्ण तपस्या की साक्षी रही। गण्डक नदी के विस्तार में प्रसारित परदेशी राजा की राजधानी ने उसकी निमग्नता को साकार रूप प्रदान किया।

कलचूरियों शासन काल में शिव तथा जिन उपासक दोनों ही विराजमान थे। शिवनाथ नदी के पश्चिम स्थित तटों पर स्थित नगपुरा, धमधा जैसे स्थल इस भक्तिकाल के साक्षी रहे थे। दुर्ग जिले से 17-18 किलोमीटर पर स्थित नगपुरा में बने सरोवर के तट पर एक खण्डर देवालय है जो ऐतिहासिक, पुरातात्विक विरासत है। यहाँ कलचूरि वंशज गजसिंह ने चौदह वर्षों तक जिन प्रतिमा की पूजा, उपासना की, मान्यतानुसार भुवनसिंह को वही प्रतिमा मिली थी जिसे उस ने स्वप्न में मिले निर्देशानुसार रावलमल जैन मणिजी के सुपुर्द की और फिर वही प्रतिमा परमपज्य आचार्य देव श्रीमद् राजयश सूरीश्वर जी की भविष्यवाणी के अनुसार आज पार्श्वतीर्थ नगपुरा में तीर्थपति के रूप में प्रतिष्ठित है। यहाँ के भक्तजनों के द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के चरण-चिन्हों को एक देहरी बनाकर स्थापित किया गया था। कलचूरि वंशजी गजसिंह के प्रपौत्र जगतपाल सिंह द्वारा सं0 919 में खण्डित हो चुकी इस देहरी का जीर्णोद्धार कराया गया था। यहीं देहरी पर जैन मन्दिर स्थापित हुआ करता था। मौसम की मार तथा देखरेख व संरक्षण के अभाव में खण्डहर बन चुका यह मन्दिर धूल-धूसरित होता रहा और पार्श्वनाथ प्रभु की चरण-पादुकाओं से युक्त ये देहरी क्षतिग्रस्त होती रही। यही प्राचीन कालीन धरोहर पेड़ों के झुरमुटों में छिपी दिखाई भी नही देती थी। नियति के काल निर्धारण पर भविष्य में यह वही स्थल बना जिसे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की दिव्य प्रतिमा ने चयनित किया, क्योंकि इस प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा सहस्त्रों वर्षों पूर्व हो चुकी थी, अत: यह एक जीवंत, जाग्रत दैव प्रतिमा थी, यह प्रारंभ से ही सिद्ध प्रतिमा रही है।

छत्तीसगढ़ में जैन धर्म के स्थापत्य - भारतीय समाज में जैन धर्म के विस्तार का स्वर्णिम काल मध्यकाल रहा। इस अवधि काल में जैन शास्त्र, जैन सिद्धान्त, जैन मंदिरों के निर्माण तथा जैन छवियों की स्थापना को अत्यन्त महत्व मिला। इस अवधि काल में सदियों पुराने दिगम्बर तथा श्वेताम्बर संप्रदायों को जैन धर्म की शाखाओं में विभाजित किया गया। वे गण, गच्छ, अन्वय और संघ में विभक्त थे। भट्टारका, चैत्यवासी, तरणपंथ, स्थानकवासी प्रथाओं को भी प्रमुखता प्राप्त हुई। इस अविध में समग्र भारत में जैन धर्म का व्यापक विस्तार हुआ। जैन ग्रंथों, शास्त्रों, संस्मरणों, प्रशंसापत्रों तथा मंदिरों की छवियों तथा दीवारों पर दिनांकित शिलालेखों को भी महत्व मिला। इस काल में जैन विद्वानों को भी ख्याति एवम् सम्मान प्राप्त हुआ।

छत्तीसगढ़ में जैन इतिहास 5 हज़ार वर्षों से भी पुरातन है। यहाँ राजिम के उत्खनन में भगवान पार्श्वनाथ की 1600 वर्षों प्राचीन प्रतिमा मिली है। इसी क्रम में जांजगीर-चांपा जिले के अंतर्गत चांपा से 50 किलोमीटर की दूरी पर दमऊदरहा नामक स्थान गूंजी तथा ऋषभ तीर्थ के नाम से जाना जाता है। इस स्थल से एक शिला मिली

है जिस पर श्री भगवान के प्रतिक साथ ही गायों को दान देने की जानकारी प्राकृत भाषा ब्राम्ही लिपिबद्ध है। इस शिला पर सातवाहन शासक कुमार वारदत्त के 5वें संवत् में प्रवेश करने का उल्लेख है। इसके समीप ही एक राम लक्ष्मण मंदिर भी स्थापित है जिसमें भगवान ऋषभदेव की प्राचीन प्रतिमा भी स्थापित है। इसी संदर्भ में बिलासपुर से 124 किलोमीटर की दूरी पर अड़भार नामक स्थान से अष्टभुजी माता का कलचुरि शासकों द्वारा बनवाया गया एक मन्दिर है। इस मंदिर में भगवान पार्श्वनाथ की दो फीट की प्रतिमा स्थापित है। इसी परिप्रेक्ष्य में अंबिकापुर से चालीस किलोमीटर की दूरी पर बजर में आठ किलोमीटर के विस्तृत क्षेत्र में सत्रह टीले स्थित हैं। इन पर पुरातन जैन मंदिरो के भग्नावशेष तथ पॉच किलोमीटर के क्षेत्र में प्रतिमाएँ मिलती हैं। इस स्थल पर एक शिला पर अठ्ठारह प्रमाणों का अंकन मिलता है। यहाँ 6वीं शताब्दी की 104 सेन्टीमीटर अति दुलर्भ तथा प्राचीन भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। बिलासपुर से सौ किलोमीटर दूर स्थित पेंड्रोराड से सोलह किलोमीटर पर स्थित धनपुर नामक गॉव से जैन धर्म से जुड़े पुरावशेषों की प्राप्ति बड़ी तादाद में हुई हैं। यहाँ स्थित ऋषभ तालाब है जिसके पास स्थित वृक्ष के नीचे तीर्थंकर की मूर्ति बनी है। यहाँ स्थित विभिन्न स्थलों से जैन धर्म से जुड़ी प्रतिमाएँ मिली हैं। यहाँ स्थित भवन तारा नामक तालाब से तीन किलो मीटर की दूरी पर मिले विभिन्न भग्नावशेषों में से चार जैन मंदिरों के स्थापत्य मिले हैं। धनपुर से दो किलोमीटर की दूरी पर एक विशाल शिला पर स्थित पच्चीस फीट ऊॅची जैन तीर्थंकर ऋषभदेव जी की भव्य प्रतिमा है। यह विशाल प्रतिमा कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थ हैं। यह प्रतिमा छत्तीसगढ़ के मूर्तिकला का अद्वितीय प्रमाण है, जिसकी विशिष्टता इसकी भव्यता तथ शैलोतकीर्णीत शैली में निर्मित जैन प्रतिमा के रूप में होती है।

छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर से पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित आरंग भी जैन धर्म के अनुयायियों का एक महत्वपूर्ण कलात्मक स्थल है। यहाँ स्थित जैन मंदिर को भाण्ड देवल के नाम से ख्याति प्राप्त है। 12वीं शताब्दी, ईस्वी में कलचुरि राजाओं के शासनकाल में निर्मित इस मन्दिर के गर्भगृह में जैन तीर्थंकरों की त्रिमूर्तियाँ हैं जो क्रमश: नेमीनाथ, अजितनाथ एवम् श्रेयांशनाथ नामक तीर्थंकरों की हैं। ये प्रतिमाएँ छै फीट की काले ग्रेनाइट द्वारा निर्मित की गई हैं। यहाँ स्थित टाइगर देवल तथा शिव मंदिर में भी जैन साधुओं की प्रतिमाएँ मिलती है। यहाँ स्थित महामाया मंदिर के प्रवेश द्वार पर भी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के दर्शन होते हैं। रायपुर के ऐतिहासिक संग्रहालय में संग्रहित भवान ऋषभेदवजी की अत्यन्त प्राचीन प्रतिमा तथा बड़ी संख्या में अन्य जैन प्रतिमाएँ छत्तीसगढ़ में जैन धर्म की समृद्धि की पुष्टि करती हैं।

छत्तीसगढ़ के रायपुर जिले में स्थित बम्हनी, नरतोला, कुर्रा, नेतनगर, बस्तर एवम् कांकेर के विभिन्न स्थलों जैसे गढ़बोदरा एवम् जगदलपुर, बिलासपुर के पण्डरिया के अतिरिक्त डोंगरगढ़, राजिम, पदमपुर, गुंजी, पाली, खरौद, शिवरीनारायण, दुर्ग, महेशपुर, भोरमदेव, नगपुरा आदि अनेक स्थानों से जैन तीर्थंकरों यथा भगवान पाश्वर्नाथ , भगवान ऋषभ देव, स्वामी महावीर, प्रभु नेमीनाथ, प्रभु अजितनाथ, प्रभु श्रेयांशनाथ, प्रभु श्रीचंद्र आदि की प्रतिमाएँ मिली हैं। छत्तीसगढ़ के रामगढ़ की पहाड़ी पर स्थित विश्व की प्राचीनतम नाट्यशाला में भी जैन धर्म का उल्लेख मिलता है। सरगुजा के डीपाडीह से जहाँ तीसरी शताब्दी की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है, वहीं देवसरा से भी, भगवान ऋषभ देव,

स्वामी महावीर, प्रभु नेमीनाथ, प्रभु अजितनाथ, प्रभु श्रेयांशनाथ, प्रभु श्रीचंद्र आदि की प्रतिमाएँ मिली हैं। छत्तीसगढ़ के रामगढ़ की पहाड़ी पर स्थित विश्व की प्राचीनतम नाट्यशाला में भी जैन धर्म कीा उल्लेख मिलता है। सरगुजा के डीपाडीह से जहाँ तीसरी शताब्दी की प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है, वहीं देवसरा से मिली पंडरिया के जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्तियाँ पुरातत्वविदों द्वारा बारहवीं शताब्दी की बताई जाती हैं।

महासमुंद जिले के सिरपुर से नौवी शताब्दी की पुष्टि करती जैन तीर्थंकर ऋषभदेव जी की नवग्रह धातु से बनाई गई अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा विद्यमान है। सिरपुर में एक जैन बस्ती होने की पुष्टि होन के साथ ही यहाँ प्रथम जैन तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की नौवी शताब्दी में बनी एक कांस्य की प्रतिमा भी खण्डहरों से प्राप्त हुई थी जो छत्तीसगढ़ में जैन धर्म के गहन विस्तार को प्रमाणित करती है। इसी श्रृँखला में बैकुण्ठपुर से बत्तीस किलोमीटर पर स्थित सघन बीहड़ के जोगीमठ नामक ग्राम से जैन तीर्थंकर स्वामी ऋषभदेवजी की आठवीं शताब्दी में स्थापित दो प्रतिमाओं की प्राप्ति हुई है। इसी स्थल से जैन मन्दिर का भग्नावशेष भी मिला है जो प्राचीन ईंटों से बना है, साथ यहाँ अनेक जैन प्रतिमाएँ स्थित है।

जैन ऐतिहासिक स्थलों में बिलासपुर से तीस किलोमीटर पर स्थित ताला नामक ग्रम के देवरानी-जेठानी मन्दिर से उत्खनन में प्राप्त पांचवी शताब्दी की प्रतिमाओं में से एक जैन तीर्थंकर स्वामी ऋषभदेवजी की प्रतिमा मिली है। वहीं बिलासपुर के ऐतिहासिक नगर रतनपुर में मां महामाया मन्दिर के क्षेत्रीय स्थल से कलचूरि काल में बारहवीं शताब्दी की स्वामी ऋषभदेवजी की मूर्ति मिली है। यहाँ मंदिर के प्रवेश द्वार पर साथ ही मंदिर के भीतर भी जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के प्रतीक भी मिले हैं। बिलासपुर से ही पैंतीस किलोमीटर की दूरी पर स्थित मल्हार नामक क्षेत्र से भी अत्यन्त प्राचीन जैन तीर्थंकर ऋषभदेव जी की प्राप्त प्रतिमा को संग्रहालय में रखा गया है। मल्हार स्थित सोहागपुर में ठाकुर यशवर्धन सिंह जी के निजी संग्रहालय में अगणित जैन प्रतिमाएँ तथा प्रतीक संग्रहित कर रखे गए हैं छत्तीसगढ़ में वर्तमान में भी जैन धर्म के तीर्थंकरों को स्थानीय केंवट, बैगा, आदिवासी आदि जनजातियों के निवासियों द्वारा पारंपरिक, स्थानीय अथवा क्षेत्रीय नामों से सम्बोधित कर निजी पद्धतियों तथा रीति-रिवाजों के द्वारा पूजा जाता है।

जैन धर्म क्षेत्र नगपुरा (दुर्ग):-पारसनगर के नाम से विख्यात जैन धर्म के 23वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ को समर्पित यह धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक स्थल दुर्ग शहर से सोलह किलोमीटर की दूरी पर दुर्ग जिले के नगपुरा नामक ग्राम में दुर्ग-खैरागढ़ मार्ग पर स्थित स्वामी पार्श्वनाथ का भग्नावशेष देवालय है। इस देवालय में प्रतिष्ठित स्वामी पार्श्वनाथ की प्रतिमा धार्मिक, पुरातात्विक तथा ऐतिहासिक महत्व पर आधारित है। इसके साथ यहाँ अन्यान्य जैन प्रतिमाएँ तथा भग्नावशेष भी मिले हैं। मुख्य प्रतिमा ग्यारहवीं से बारहवीं शताब्दी ईस्वी की है जो पार्श्वनाथ अथवा नाग देव के नाम से प्रसिद्ध है और इस के नाम पर ही इस ग्राम को 'नगपुरा' या 'नागपुरा' के रूप में ख्याति मिली हैं। यह स्थल श्री उवसग्गहरें पार्श्व तीर्थ नगपुरा के नाम से प्राकृतिक सौंदर्य से घिरी परम पावनी शिवनाथ नदी के तट पर स्थित है। छत्तीसगढ़ के इस धर्म के गढ़ में संभवत: 3000 वर्षों पूर्व जैन धर्म के 24 तीर्थंकरों में से 23वें तीर्थंकर स्वामी पार्श्वनाथ जी अपने श्रमण काल के 24 तीर्थंकरों में से 23वें तीर्थंकर स्वामी पार्श्वनाथ जी अपने श्रमण काल के समय एक

भ्रमणशील भिक्षुक के रूप में पधारे थे। उस काल में वह श्रमैन के रूप में मोक्ष प्राप्ति को समर्पित साधक के रूप मे यहाँ आए थे। इस ऐतिहासिक यात्रा को प्रमाणित करते जैन प्रतीकों के स्वरूप यहाँ भगवान का प्राचीन मंदिर, उनके पवित्र चरण-चिन्ह, विभिन्न मूर्तिकला अवशेषों, इत्यादि स्वरूप भगवान की विरासत एवं धरोहर के आकार में विद्यमान हैं। यहाँ के पत्थरों पर जैन दर्शन, भक्ति एवम् परम्परा को एक महाकाव्य के रूप में उत्कीर्ण किया गया है। इस प्राचीन प्रतिमा की प्राप्ति से लेकर इसकी स्थापना तक की यात्रा का इतिहास किसी दैवीय चमत्कार से कम नहीं हैं।

नगपुरा में वर्ष 1995 में स्थापित एक आधुनिक कालीन जैन मन्दिर स्थित है। यह मंदिर सफेद संगमरमर से निर्मित एक शांतिपूर्ण स्थल है जो अत्यन्त आकर्षक एवम् भव्य है। इस मंदिर का प्रवेश द्वार तीस फीट ऊँचा है। इसके चार स्तम्भ जैन धर्म के चार प्रमुख अंगों या तत्वों का दर्शन प्रदान करते हैं, जो क्रमश: ज्ञान, आत्मनिरीक्षण, सदाचार, तपस्या हैं। इन चारों स्तम्भों पर भगवान श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थित है। इस प्रतिमा का पूजन दो गजों द्वारा किया जा रहा है। प्रतिमा से पवित्र जल (अमीया) रिसता है, ऐसी आास्था एवम् श्रद्धा के दर्शन इस मंदिर विशाल मात्रा में तीर्थयात्री पूर्णिमा के उपलक्ष्य पर आकर करते हैं। मंदिर के परिसर में एक सुन्दर बगीचा, एक अतिथिगृह तथा प्राकृतिक चिकित्सा व योग केन्द्र स्थित है।

इस जैन तीर्थ पर पांच दिवसीय पोष बंदी दशमी को वर्षीतप पारना अक्षय तृतीया को एवम् प्रतिष्ठा सालगिरह पर माघ सुदी षष्ठी को दो दिवसीय भक्ति मेला 'नगपुरा महोत्सव' के नाम से विख्यात है। उत्सव के दर्शनार्थ लाखों-श्रद्धालुओं की भक्ति का सैलाव इस पवित्र धर्म धरा पर उमड़ता है।

देवाधिदेव श्री पार्श्व प्रभु के जन्म-दीक्षा कल्याणक अवसर पर तीर्थ में देश-विदेश से श्रद्धालुगण अट्ठम तप आराधनार्थ पधारते है। तीर्थ परिसर के विशाल भू-भाग पर नगपुरा महोत्सव (मेला) का आयोजन होता है। इस पॉच दिवसीय आयोजन में अंचल के ग्रामीण स्वस्फूर्त पार्श्व प्रभु की भक्ति रसधारा से जुड़ते हैं। इस अवसर पर परम्परागत आंचलिक संस्कृति के अनुसार लोक गीत-नृत्य-संगीत एवम् झांकी साज-सज्जा के साथ आत्मिक आनन्द से परमात्मा की भक्ति में भाव विभोर होकर धन्यता को अनुभूत करते हैं। श्री पार्श्वनाथ प्रभु की श्रमणकालीन तपोभूमि के तीर्थोद्धार का कल्याणक महामाहोत्सव प्रदेश में जैन आस्था का ऐतिहासिक प्रमाण है।

इस तपोभूमि पर श्री पार्श्व गौ-सेवालय भी स्थित है। श्री उवसग्गहरं पार्श्व तीर्थ नगपुरा समूचे विश्व के श्रद्धालुओं की गहन आस्था का प्रतीक स्वरूप प्रतिष्ठित है। मंगल कल्लाण आवास की तपोभूमि स्वरूप इस तीर्थ में अन्य तीर्थों के दर्शन एवम् भाववाही यात्रा के दिव्य आस्वादन लाभ हेतु श्रद्धालुओं के संकल्प स्वरूप तीर्थ के सर्वोदय विकास के अंतर्गत तीर्थदर्शन देहरी का निर्माण कराया गया है। उद्यान की देहरियों में श्री शंखेश्वर, गिरनार, कदम्बगिरि, तलाजा, आबू, ओसियाँजी, पावापुरी आदि पच्चीस तीर्थों की प्राकृतिक देहरी में कलात्मक तीर्थ से पट्ट के साथ तीर्थपति भगवंतो की प्रतिमाओ का निर्माण करवाया गया है। इस पावन उद्यान के देवकुलिका में श्री अनंतनाथ, श्री सुमतिनाथ, श्री महावीर स्वामी प्रभु की प्राचीन प्रतिमाएँ हैं। उद्यान के मध्य में भव्य एवं कलात्मक श्री शाश्वता जिन मंदिर एवं श्री राजेन्द्र गुरू मंदिर स्थित हैं जो महत्वपूर्ण स्थल हैं।

जैन तीर्थ नगपुर का अस्तित्व, इतिहास एवं

पुरातत्व संबंधित गहन प्रमाणों व साक्ष्यों को अपने में समेटे स्थापित तीर्थ व तपोस्थली है जहाँ भगवान पार्श्वनाथ की तपस्या फलीभूत हुई। यहाँ वर्तमान में भी उन्हीं सिद्ध विभूति की सुरभि समाहित है। यह छत्तीसगढ़ का विशिष्ट धार्मिक क्षेत्र है जिसकी रज-कण में समाधान फलीभूत होता है। जैन धर्म के सिद्धांतो को व्यावहारिक आकार प्रदान करने वाली धर्म की उद्भिजा है जिससे जीवन का स्त्रोत प्रवाहित होता है। यह जैन धर्म के सिद्धों के चैतन्य अनुभूतियों को आज भी जागृत, जीवन्त रखे हुए चैतन्य धर्म-स्थलों एवं तीर्थों का सिरमौर क्षेत्र है जो छत्तीसगढ़ के दुर्ग जिले का नगपुरा नामक धर्म का शिखरस्थ कीर्ति-दुर्ग है जो हमें विश्वगुरू के स्थान पर सुशोभित करता है।

संदर्भ सूची -

1. डागा, मीनाक्षी, जैन संस्कृति का इतिहास एवं दर्शन, 2014, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर (राजस्थान)
2. पत्रक (छत्तीसगढ़ में जैन धर्म: पुरातत्व एवम् परम्परा) छत्तीसगढ़ शासन संस्कृति एवं पुरातत्व
3. प्रधान, कुमार अतुल तथा शिवकांत बाजपेयी, छत्तीसगढ़ में पुरातात्विक खुदाई
4. निगम एल.एस., छत्तीसगढ़ का जैन शिल्प
5. मजूमदार सुष्मिता बसु एवम् शिवकांत बाजपेय, सेलेक्टेड अरली हिस्टॉरिक अंसक्रिपसंस, एपिग्राफिक पर्सपेक्टिव्स ऑन दी एन्सिएंट पास्ट ऑफ छत्तीसगढ़।

ललितपुर की चंदेलकालीन वैष्णव मूर्तिकला – एक अध्ययन

प्रो. राकेश कुमार शर्मा, विजय कुमार पाण्डेय

प्रस्तुत शोध

पत्र में ललितपुर जनपद की चंदेल कालीन वैष्णव मूर्तिकला के विविध आयामों को समझने का प्रयास किया गया है। यह अध्ययन विशेष रूप से चंदेल कालीन ललितपुर क्षेत्र से संबंधित है। यह क्षेत्र प्रारंभ से ही कला एवं वास्तुकला का केंद्र रहा है और बुंदेलखंड में स्थित है, जिसे भारत का हृदय स्थल कहा जाता है। इस भू-भाग पर एक विशिष्ट सांस्कृतिक परिवेश देखने को मिलता है, जो इसे स्थापत्य एवं कला के क्षेत्र में ऐतिहासिक और विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। खजुराहो, ललितपुर, और महोबा इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इस क्षेत्र में शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, और बौद्ध धर्मों का भी निरूपण देखने को मिलता है। इन सभी संप्रदायों की मूर्तियां ललितपुर जनपद में बहुतायत प्राप्त होती हैं, जिनमें से कुछ उत्कृष्ट मूर्तियां राजकीय संग्रहालय, झांसी और रानी के महल में संग्रहीत की गई हैं।

कुंजी शब्द : *ललितपुर, सांस्कृतिक, स्थापत्य कला, मूर्तिकला, प्रतिमा, चंदेल कालीन, आभूषण, वैष्णव, अवतार, सिरोनखुर्द।*

ललितपुर क्षेत्र किसी भी दृष्टि से खजुराहो से कमतर नहीं है, किन्तु खजुराहो के मंदिर परिसरों के लिए सरकारी एवं अन्य संस्थाओं के प्रयासों के कारण यह क्षेत्र प्रसिद्धि प्राप्त कर गया, जबकि दुर्गम भौगोलिक कारणों से ललितपुर को वह ख्याति नहीं मिल सकी जो खजुराहो को प्राप्त हुई। प्रस्तुत शोध पत्र के माध्यम से ललितपुर की चंदेल कालीन वैष्णव मूर्तियों का प्रतिमा शास्त्रीय अध्ययन किया गया है।

ललितपुर अपनी संस्कृति, विविधता एवं लोक कला की समृद्धि के लिए विश्वविख्यात है। यह शहर प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक सांस्कृतिक, स्थापत्य एवं मूर्तिकला के लिए जाना जाता रहा है। वर्तमान में ललितपुर उत्तर प्रदेश के सुदूर दक्षिण-पश्चिम अक्षांश 24०11'से लेकर 25०14' तक एवं पूर्व देशांतर 78०10' से 79०0' में मध्य स्थित है। इस भू-भाग पर प्राचीन काल से ही पारंपरिक राजवंशों के अतिरिक्त गुप्त, प्रतिहार, गढ़वाल, और चंदेल राजवंशों का शासन रहा है। इनमें से सर्वाधिक कालावधि तक चंदेल वंश का आधिपत्य रहा है। यहाँ चंदेलों के शासन काल में दुर्ग, देवालय तथा मूर्तिकला में अद्वितीय स्थान के साथ-साथ अपनी सौर्य गाथाओं के लिए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विख्यात है। चंदेलों की धार्मिक नगरी ललितपुर मूर्तिकला के स्वर्ण युग का सूत्रपात करती हुई

शोधार्थी –
शोध निर्देशक – प्रा०भा०इ०संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी सम-विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

प्रतीत होती है। ललितपुर की वैष्णव मूर्तिकला भारत की अद्वितीय धरोहरों में से एक है। यहाँ मूर्तिकला प्राचीन काल से ही विकासशील रही है और चंदेल काल में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी। मूर्तिकला के माध्यम से धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों को व्यक्त किया जाता रहा है। यहाँ की मूर्तियों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है।

विष्णु प्रतिमाएँ : ललितपुर की मूर्तिकला में विष्णु की प्रतिमाएँ उत्कृष्ट और आकर्षक हैं। ये मूर्तियाँ बहुत बारीकी से निर्मित की गई हैं और इनमें भगवान विष्णु के विभिन्न अवतारों की मूर्तियाँ भी प्राप्त होती हैं, जैसे कि वाराह, वामन, नरसिंह, परशुराम, और राम।

प्रतिमा निर्माण सामग्री : अधिकांश मूर्तियाँ पत्थर से निर्मित हैं और ये मूर्तियाँ काले और भूरे पत्थरों पर बनाई गई हैं, जो इस भू-भाग की विशेषता है।

स्थानीय प्रभाव : ललितपुर की मूर्तिकला पर स्थानीय संस्कृति और परंपराओं का अमिट प्रभाव है। मूर्तियों में स्थानीय संस्कृति और वेशभूषा के तत्व समाहित हैं।धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्व: इन मूर्तियों का महत्व धार्मिक के साथ-साथ स्थापत्य कला के लिए भी उल्लेखनीय है। दूसरी ओर, ये मूर्तियाँ सांस्कृतिक विरासत को भी प्रकट करती हैं।

विशिष्ट मूर्तियाँ:

वराह :- चतुर्भुजी नृवराह की एक प्रतिमा प्रत्यालीढ़ मुद्रा में प्रदर्शित है, जो सीरोनखुर्द में स्थित है और 11वीं सदी ईस्वी की मानी जाती है। त्रिविक्रम, वामन के ही एक रूप का प्रतीक है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में विष्णु के तीन पगों के रूप में किया गया है। 'रामायण' और पुराणों में वामन अवतार की कथा का भी वर्णन मिलता है। भागवतपुराण के अनुसार जलमग्न पृथ्वी के उद्धार हेतु विष्णु ने वराह स्वरूप धारण कर हिरण्याक्ष नामक दैत्य का संहार किया था। त्रिविक्रम की एक प्रतिमा चाँदपुर से प्राप्त हुई है, जिसे अब रानी महल संग्रहालय, झाँसी में संरक्षित किया गया है।

नरसिंह अवतार : नरसिंह अवतार से संबंधित कथा विभिन्न पुराणों में मिलती है। ललितपुर में स्थित सिरोनखुर्द से नरसिंह अवतार की प्रतिमा प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा स्थापत्य दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। नरसिंह को स्थानक मुद्रा में चतुर्भुजी रूप में दिखाया गया है, जिसमें नरसिंह अपने मुख्य कर से हिरण्यकश्यप का वक्ष विदारण करते हुए दिखाए गए हैं। अतिरिक्त हाथ में पाश अंकित है, मुख मुद्रा भयावह है, और भाव-भंगिमा क्रोधपूर्ण एवं उत्तेजक है। मूर्ति अनेक आभूषणों से विभूषित है, और बायें पैर के नीचे कमलनाल अंकित है। पार्श्वभाग में एक अनुचर खड़ा है और ऊपर माला लिये हुए विद्याधर उड़ते हुए दिखाए गए हैं। यह प्रतिमा राजकीय संग्रहालय, झांसी में संग्रहित है।

वामन अवतार : ललितपुर के पुरास्थल सिरोनखुर्द से वामन अवतार की एक सुंदर मूर्ति प्राप्त हुई है। भगवान ऊँचे कमलदल पर समापद अवस्था में खड़े हैं। वर्तमान में उनके चारों हाथ भग्न हैं और नासिका किंचित भग्न है। वामन अवतार कौस्तुभमणि, केयूर, यज्ञोपवीत, वनमाला, मेखला, बाजूबंद आदि अलंकार धारण किए हुए हैं। मुख सौम्य है, और केश घुंघराले हैं। मूर्ति के आस-पास दशावतारों का सुंदर अंकन है, जिसमें मत्स्य और कूर्म खंडित अवस्था में हैं। पैरों के समीप शंख और चक्र पुरुष विराजमान हैं। दाहिनी ओर गरुड़ और बायीं ओर लक्ष्मी जी सुशोभित हैं। कमल दल के पास निचले भाग में भक्तगण, नागकन्याएँ, और केंद्र में भूदेवी स्थित हैं। प्रतिमा शास्त्रीय दृष्टि से यह प्रतिमा विलक्षण

शिल्पकला का उदाहरण है। यह प्रतिमा चंदेल कालीन है और राजकीय संग्रहालय, झांसी में संग्रहित है।

परशुराम अवतार : महाभारत, अग्निपुराण, और विष्णु पुराण में परशुराम अवतार का वर्णन है। परशुराम की यह प्रतिमा सिरोनखुर्द से प्राप्त हुई है। परशुराम त्रिभंग मुद्रा में खड़े हैं, और मूर्ति चतुर्भुजी है। दाहिने हाथ के निम्न कर में परशु है, जबकि बायां हाथ जंघा पर रखा हुआ है। अतिरिक्त हाथ में कमल-कलिका अंकित है। परशुराम ने कुंडल, कंगन, हार, वनमाला, और कटिसूत्र धारण किए हुए हैं। यह मूर्ति लगभग ग्यारहवीं सदी की है और इसकी भाव-भंगिमा वीरता को दर्शाती है।

दशरथी राम : विष्णु के सातवें अवतार, दशरथ के पुत्र राम की प्रतिमा भी ललितपुर में उत्कीर्णित है। हालांकि प्रतिमा का दाहिना ऊपरी हिस्सा सिर के साथ भग्न है, लेकिन उनकी पहचान धनुष, बाण, और वनमाला के आधार पर सुनिश्चित की गई है। श्री राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और अयोध्या के अप्रतिम राजा हैं। यह प्रतिमा भी लगभग 10वीं सदी की है।

इस शोध के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि ललितपुर की मूर्तिकला भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है, जिसे अधिक शोध और संरक्षण की आवश्यकता है। खजुराहो की। तुलना में यह क्षेत्र अभी भी कम प्रसिद्ध है, लेकिन इसकी मूर्ति कला में निहित कला की गुणवत्ता और विविधता इसे किसी भी तरह से कमतर नहीं ठहराती।"

संदर्भ

1. निर्मला शुक्ला, ललितपुर का पुरातत्व, स्थापत एवं कला पृष्ठ संख्या 6-7
2. इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया, (नया संस्करण), ऑक्सफोर्ड: क्लेरेंडन प्रेस, 1908-1909. खंड 10.
3. डां अवधेश पाण्डेय - चंदेल कालीन बुंदेलखंड का इतिहास.
4. महेंद्र वर्मा - बुंदेलखंड के मूर्तिशिल्प अध्याय 3
5. डोनिगर ओ'फ्लेहर्टी 1994 , पृष्ठ 175 डोनिगर
6. ऋग्वेद 1,22,17.
7. बाल्मीकि रामायण 1,27 12_14
8. अग्नि पुराण, अध्याय 5
9. भागवत पुराण, 2/7/1, 3/13/19
10. विष्णुधर्मेत्तर पुराण, 78/2/1-5, मत्स्यपुराण 260/31-35, भागवतपुराण 2/7/14,
11. एस डी त्रिवेदी - बुंदेलखंड का पुरातत्व पृष्ठ 46
12. देशानुरूपभूसवेषालकारमूर्ति कार्य किया कार्यो वृहत संहिता 59.2
13. वही पृष्ठ 47
14. महेंद्र वर्मा चंदेलकालीन कला और संस्कृति पृष्ठ 111
15. सुरेन्द्र चौरसिया -झांसी संग्रहालय में संग्रहित पूरा अवशेष अनुशीलन 27_28
16. वहीं 29-30.

भरतमुनि संगीत

डॉ. इतिश्री साहू

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कुछ चीजों का वर्णन नहीं किया है—

1. जाति का वर्णन तो किया है किन्तु राग का वर्णन नहीं किया।
2. षड्ज व मध्यम ग्राम का वर्णन किया किन्तु गांधार ग्राम का वर्णन नहीं किया।
3. नौ रस में से केवल आठ रसों का वर्णन किया किन्तु शांत रस का वर्णन नहीं किया।

भरतमुनि का चतुःसारणा :-

भरत कालीन संगीत मे केवल दो ग्राम—षड्ज और मध्यम ग्राम प्रचलित थे। भरतमुनि ने उन्हें आधार बनाकर चतुः सारणा " का प्रतिपादन किया। ये सारणाएं अब तक ज्ञात प्रथम सारणाएं हैं इसलिए हम भरतमुनि को ही प्रथम व्यक्ति कहते हैं जिसने सारणा का वर्णन किया। उन्होने षड्ज और ग्राम के आधार पर चार सारणाएं बनाई। जिनसे उन्होंने षड्ज ग्राम के सभी 7 स्वर प्राप्त किए। उन्होंने दो वीणाएं ली, जिनमें से एक चल वीणा थी और दूसरी अचल वीणा थी। अचल पर उन्होंने षड्ज ग्राम की स्थापना की तथा चल पर भी उन्होंने षड्ज ग्राम की स्थापना की। उसके पश्चात चल वीणा के एक श्रुति उतार कर उसे माध्यम ग्राम बनाया। अब इस मध्यम ग्राम के पंचम से, षड्ज ग्राम के षड्ज पंचम भाव की स्थापना करने के लिए षड्ज ग्राम की भी एक श्रुति उतारा तथा उसी प्रकार अन्य रे ग म ध नि स्वरों को भी उनके संवादानुसार एक-एक श्रुति उतार दिया। इससे उन्हें फिर से षड्ज ग्राम प्राप्त हुआ किन्तु कोई स्वर न प्राप्त हुआ। यही क्रिया दूसरी बार करने पर उन्हें दो स्वर रे और ध प्राप्त हुए। तीन बार फिर इन्हें दो स्वर - स और प प्राप्त हुए तथा चौथी बार में अन्य शेष तीन स्वर- ग, म तथा नि प्राप्त हो गए। इन क्रियाओं को सारणा कहा तथा क्योंकि चार सारणा द्वारा ही सभी 7 स्वर प्राप्त हो गए अतः इसे चतुः सारणा नाम दिया गया। सभी सारणाएं इस प्रकार है—

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12 13 14 15 16 17 18 19 20 21 22

षड्जग्राम	स	रे	ग	म	प	ध	नि
मध्यमग्राम	स	रे	ग	म	प	ध	नि

सहायक प्रोफेसर, उत्कल संस्कृति विश्वविद्यालय, मदनपुर, भुवनेश्वर, ओड़िशा

प्रथम सारणा				**द्वितीय सारणा**			
मध्यम ग्राम बनाना		षड्ज ग्राम बनाना		मध्यम ग्राम बनाना		षड्ज ग्राम बनाना	
1	12	1	12–म	1	12–म	1	12
2	13–म	2	13	2	13	2–स	13
3	14	3–स	14	3–स	14	3	14
4–स	15	4	15	4	15–प	4	15–प
5	16–प	5	16–प	5	16	5–रे	16
6	17	6–रे	17	6–रे	17	6	17
7–रे	18	7	18	7	18	7–(ग)	18–ध
8	19	8–ग	19–ध	8–ग	19–ध	8	19
9–ग	20–ध	9	20	9	20	9	20–(नि)
10	21	10	21–नि	10	21–नि	10	21
11	22–नि	11	22	11	22	11–म	22

तृतीया सारणा				**चतुर्थ सारणा**			
मध्यम ग्राम बनाना		षड्ज ग्राम बनाना		मध्यम ग्राम बनाना		षड्ज ग्राम बनाना	
1	12	1–स	12	1–स	12	1	12
2–स	13	2	13	2	13–पा	2	13–(प)
3	14–प	3	14–प	3	14	3–रे	14
4	15	4–(रे)	15	4–रे	15	4	15
5–रे	16	5	16	5	16	5–ग	16–ध
6	17	6–ग	17–(ध)	6–गा	17–ध	6	17
7–ग	18–ध	7	18	7	18	7	18–नि
8	19	8	19–नि	8	19–नि	8	19
9	20–नि	9	20	9	20	9–मा	20
10	21	10–म	21	10–मा	21	10	21
11–म	22	11	22	11	22	11	22–(स)

नाट्यशास्त्र

ग्रंथकार— नाट्यशस्त्र अब तक प्राप्त संगीत के प्रामाणिक ग्रंथों में से सबसे प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। नाट्यशस्त्र ग्रंथ का मुख्य विषय जबकि नाट्य अर्थात नाटक है किंतु इसके 36 अध्यायो मे से 28 से 36 तक के अध्यायों मे संगीत विषयक सामग्री भी उपलब्ध होती है। क्योंकि यह एक अति प्राचीन ग्रंथ है अत: हमें इसके लेखक के विषय मे स्पष्ट रूप से कुछ भी ज्ञात नही होता। हमें ग्रंथकार के विषय में केवल यह पता है कि उसका नाम भरत था। किंतु आधुनिक काल के कुछ विद्वानों का मत है कि इस महान ग्रंथ का रचयिता कोई एक व्यक्ति न हो कर वरन अनेक व्यक्ति हैं, जो कि नाट्य से संबधित थे। इन विद्वानो के अनुसार नाट्य मे भाग लेने वाले पात्रों को भरत कहा जाता था और इन सभी प्राचीन नाट्य पात्रों में से कुछ ने मिलकर अपने अनुभव एक स्थान पर लिखे जिसके फलस्वरूप नाट्यशस्त्र ग्रंथ का निर्माण हुआ। इन विद्वानो के अनुसार यह ग्रंथ अनेक पीढ़ियों की कठिन साधनाओं का फल है न कि किसी एक नाट्य पंडित भरत मुनि के साधना का।

रचनाकाल— विद्वानो के मतानुसार नाट्यशस्त्र का रचनाकाल ई०पू० 5वीं शदी से 5वीं शदी के बीच मे कही है किन्तु कुछ के अनुसार इसका काल 200 से 300 ई०पू० के मध्य है तथा कुछ के मतानुसार भरत का काल ईसा से पूर्व 500 शदी था। किन्तु यदि इनकी सरल भाषा को देखकर कुछ विद्वानो ने दृढ़ता से इसे 200 से 300 ई०पू० का ग्रंथ माना है।

नाट्यशास्त्र में संगीत— नाट्यशास्त्र काल में संगीत कला के लिए गंधर्व संज्ञा थी। इसके अंतगर्त गायन वादन तथा नर्तन तीनों कलाओं का अंर्तभाव था। उस काल में गंधर्व कला को सम्मान की दृष्टि से देखते थे।

नाट्यशास्त्र में जाति गायन का वर्णन किया गया है किन्तु राग का विवेचना नहीं मिलता। भरत मुनि ने इन जातियों की संख्या 18 बताई हैं। उन्होंने ग्राम के विषय मे भी लिखा है। उनके अनुसार दो ग्राम हैं षड्ज और मध्यम। किन्तु उन्होंने गांधार ग्राम का उललेख नहीं किया। इसी प्रकार उन्होंने रसों की संख्या 8 मानी है। उन्होंने शांत रस का वर्णन नही किया। इस सब से तीन मुख्य बातें स्पष्ट होती हैं- 1. भरत काल मे राग की उत्पत्ति नहीं हुई। 2. गांधार ग्राम या तो उस काल मे लुप्त हो चुका था या उसका विशेष महत्व नहीं रह गया था। तथा 3. भरत ने नाट्य के उपयोगी केवल 8 रस माने हैं।

नाट्यशास्त्र— नाट्यशास्त्र मूल रूप से नाट्य आधारित ग्रंथ है। ऐसा इसके नाम से ही विदित हो जाता है। नाट्यशास्त्र में कुल 36 अध्याय है। इनमें से प्रथम 27 अध्याय नाट्यशास्त्र के विविध विषयों, जैसे नाट्य के लिए किस प्रकार की भूमि चाहिए जिस पर नाट्यशाला बनेगी। नाट्यशाला किस समय पर व किस रूप में बने?, नाट्यशाला का मंच कैसा हो, पात्र कैसे हो? आदि, तथा नाट्यशास्त्र के प्रादुर्भाव के विषय में लिखा है। तथा 28 से 36 तक के 8 अध्यायों में संगीत विषयक सामग्री मिलती है। क्योंकि भरत ने संगीत को नाट्य का एक अंग माना है, इसलिए उन्होंने अपने काल में प्रचलित संगीत - विषयों के बारे में यथा सम्भव लिखा है। नाट्यशास्त्र में संगीत के विषय में सर्वप्रथम ऐसी विवेचना की गई अत: इसे संगीत का आदिग्रंथ भी कहा जाता है।

चतु:सारणा विवेचना— भरत ने केवल संगति के विषयों का वर्णन मात्र ही नहीं किया वरन उन्होंने संगीत के क्षेत्र में एक बहुत महत्वपूर्ण खोज भी की है। उन्होंने चतु: सारणा विधि यह सिद्ध किया कि एक ग्राम में कुल 22 श्रुतियां होती है। इसी के साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि प्रत्येक स्वर की कितनी श्रुतियां हैं। सारणा विधि का प्रतिपादन भी उन्होंने ही किया ऐसा माना जाता है, क्योंकि वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने सारणाएं बनाई।

प्रथम सारणा:-भरत ने श्रुति संख्या सत्यापित करने के लिए एक प्रयोग किया, जिसे सारणा विधि कहा गया। इस सारणा विधि का वर्णन उन्होंने नाट्यशास्त्र ग्रंथ में किया है वह इस प्रकार है:-

ऐसी दो वीणाएं लेनी चाहिए जिनकी लंबाई-चौड़ाई समान हो, जिनकी तंत्रियां अर्थात तारों की संख्या, लंबाई व मोटाई समान हो, जिनका बजाने का दण्ड समान हो तथा दोनों की मूर्छनाएं भी समान हो। किन्तु उनमे से एक ध्रुव या अचल वीणा हो तथा दूसरी चल वीणा हो। अब दोनों पर षड्ज ग्राम की स्थापना करनी चाहिए। अब चल वीणा के पंचम को ऋषभ के संवाद के द्वारा, एक श्रुति उतारनी चाहिए। इससे चल वीणा पर मध्यम ग्राम की स्थापना हो गई। इस षड्ज ग्राम के पंचम से मध्यम ग्राम के पंचम के अंतराल को भरत मुनी ने प्रमाण श्रुति कहा है। अब चल वीणा के प्रत्येक स्वर को श्रुति उतार कर फिर से उसे षड्ज ग्राम बना लेना चाहिए। इस समय चल वीणा का पंचम अचल वीणा की दृष्टि से मध्यम ग्राम का तथा चल वीणा की दृष्टि से षड्ज ग्राम का होगा तथा चल वीणा का प्रत्येक स्वर अचल वीणा के प्रत्येक स्वर से एक श्रुति नीचे होगा। इस एक श्रुति अंतर को 'प्रणाम श्रुति' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह कम से कम सुनाई

देने वाले ध्वनि वैलक्षण्य का प्रमाण है। यह प्रथम सारणा थी, किन्तु इस सारणा से भरत को कोई स्वर प्राप्त नहीं हुआ। अत: उन्होंने अब दुसरे सारणा बनाई।

दूसरी सारणा:-दुसरी सारणा बनाने के लिए भरत ने पुन: चल वीणा के पंचम को एक श्रुति उतारा। अब चल वीणा के स्वर अचल वीणा के स्वरों से दो श्रुति नीचे आ गए। ऐसा करने पर चल वीणा के गांधार और निषाद ध्रुव वीणा के ऋषभ और धैवत की श्रुतियों में प्रवेश कर गए। इससे भरत ऋषभ और धैवत तो प्राप्त किये ही साथ ही यह भी सत्यापित कि गांधार व निषाद की दो-दो श्रुतियां हैं। अब भरत ने तीसरी सारणा बनाई।

तीसरी सारणा:- प्रथम, द्वितीय सारणाओं की ही भांति भरत ने तृतीय सारणा बनाई। जिसके कारण चल वीणा के सभी स्वर ध्रुव वीणा के स्वरों से तीन श्रुति नीचे पहुंच गए। ऐसा करने पर भरत ने पाया कि अब चल वीणा के ऋषभ और धैवत अचल वीणा के षड्ज और पंचम की श्रुतियों में प्रवेश कर गए। ऐसा करने से भरत को षड्ज तथा पंचम प्राप्त हो गए तथा उन्हें सत्यापित कर दिया कि ऋषभ तथा धैवत की तीन तीन श्रुतियां हैं। इसके बाद भरत ने चौथी सारणा बनाई।

चौथी सारणा:- प्रथम तीन सारणाओं की ही भांति भरत ने जब चल वीणा के प्रत्येक स्वर को चौथी बार उतारा तो वे सभी स्वर ध्रव वीणा के सभी स्वरों से चार श्रुति नीचे पहुचे। इस बार चल वीणा के मध्यम, पंचम तथा षड्ज अचल वीणा के गांधार, मध्यम तथा निषाद की श्रुतियों में प्रवेश कर गए। इस प्रकार भरत ने सत्यापित कर दिखाया कि षड्ज, मध्यम तथा पंचम की चार - चार, ऋषभ और धैवत की तीन-तीन (तीसरी सारणा से) तथा गंधार और निषाद की दो-दो (दूसरी सारणा से) श्रुतियां हैं। तथा यह भी सत्यापित कर दिखाया कि एक ग्राम मे कुल 22 श्रुतियां ही है, इससे अधिक या कम नहीं ।

भरत ने यह सत्यापित करने के लिए कि एक ग्राम में 22 श्रुतियां होती हैं, चार सारणीयां बनाई। अत: इस चार सारणा विधि को चतु: सारणा विधि कहा गया।

जाति

जाति:-भरत के काल में आज के समान राग गायन नहीं था। उस काल मे राग की जननी जाति का गायन-वादन होता था। किन्तु भरत ने जाति का उल्लेख नट्यशास्त्र में तो किया परंतु उसकी परिभाषा नहीं दी। विद्वानों के अनुसार जाति, परम्परागत स्वरावलियों तथा छुनों का ऐसा वर्गीकृत समूह है जो सुनने में रंजक तथा विशिष्ट होता है। तथा ये स्वरावलियां अर्थात स्वर समूह जाति के लक्षणों से युक्त होते हैं। विद्वानों के मतानुसार रागों की जननी होने के कारण इसका नाम जाति पड़ा। विद्वानों ने जाति के जो 10 लक्षण बताएं है वे इस प्रकार हैं:-

जाति के लक्षण:-

1. ग्रह:- भरतानुसार ग्रह वह स्वर है जिससे गान प्रारम्भ होता है। यह अंश स्वर ही है। अर्थात जिस विशिष्ट अंश स्वर से गान प्रारम्भ होता है वह ग्रह स्वर कहलाता है

2. अंश:- भरत ने जातियों में अंश स्वर को सर्वाधिक महत्व दिया है तथा इसके 10 लक्षण बताएं हैं:- 1) इसमे राग का निवास हो 2) इससे राग का आविर्भाव होता हो, 3-4) वह तार तथा मंद्र अवधि का नियामक हो, 5) सभी स्वर समूहों मे उसका प्रयोग सर्वाधिक हो तथा उसके सम्वादि तथा अनुवादी स्वर भी प्रवल हो, 6,7,8,9 - 10) जो ग्रह, अपन्यास, विन्यास,

सन्यास तथा न्यास के माध्यम से समस्त जाति को परिवेष्टित करता हो।

शुद्ध जातियों मे अंश स्वर अनिवार्य रूप से एक ही होता है तथा जाति का न्यास भी उसी पर किया जाता है। विकृत जातियों में अंश स्वर अनेक हो सकते हैं।

3-4 तार तथा मंद्र:-तार सप्तक मे अधिकतर उंचा जाने का अंतिम स्वर तार तथा मंद्र सप्तक में

न्यूनतम नीचे का अंतिम स्वर मंद्र स्वर कहलाता हैं।

संगीत रत्नाकर की टीका में कल्लीनाथ ने लिखा है कि अंश स्वर से चौथे, पांचवे या सातवें स्वर तक तार स्थान में जा सकते हैं तथा मंद्र में तीन प्रकार से जा सकते हैं। अंश तक न्यास तक अथवा अपन्यास तक।

भरत ने अंश स्वर तक ही मंद्र में जाना स्वीकारा है क्योंकि उनके अनुसार अवरोह में अंश स्वर से पीछे मंद्र नहीं होता क्योंकि तीनों स्थानों मे (सप्तकों) मे अंश ही आरम्भ स्वर होता है।

5-6 न्यास और अपन्यास: - न्यास, अपन्यास, विन्यास और सन्यास की परिभाषा नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। किन्तु विद्वानों के अनुसार जाति गायन जिस स्वर पर समाप्त हो वह न्यास स्वर तथा जिस स्वर पर गति के विभिन्न खंड समाप्त हों वह अपन्यास स्वर कहलाता है। 18 जातियों मे कुल 21 न्यास स्वर तथा 56 अपन्यास स्वर बताए गए हैं।

7-8 अलपत्व और बहुत्व:- अलपत्व और बहुत्व दोनों ही जाति के लक्षण हैं। अलपत्व अर्थात कम / किसी स्वर को कम लगना या दिखाना अलपत्व कहलाता है। यह दो प्रकार से होता है- लंधन द्वारा अर्थात जिस स्वर को कम दिखाना है उसे लांध कर। तथा अनाभ्यास द्वारा अर्थात जिस स्वर को कम दिखाया है। उसे बार बार प्रयोग न करके।

बहुत्व का अर्थ है अधिक। किसी स्वर को अधिक प्रयोग करना स्वर का बहुत्व कहलाता है। यह भी दो प्रकार से होता है- अलंघन द्वारा अर्थात उस स्वर को कभी ना लांध कर उसे अनिवार्य रूप से कहकर। तथा अभ्यास द्वारा अर्थात उस स्वर को बार-बार प्रयोग करके।

9-10. षाड्वत्व तथा औडवत्व:- 6 स्वरों से युक्त जाति षाडव तथा 5 स्वरों से युक्त जाति औडव जाति कहलाती है।

भरत के अनुसार षड्ज तथा मध्यम ग्राम की शुद्ध तथा विकृत कुल 18 जातियां है। इनमें से 7 षड्ज ग्राम की तथा 11 मध्यम ग्राम की जातियां है। जाति के ये सभी लक्षण राग पर भी लक्षित होते हैं।

जति के भेद

जति के दो भेद कहे गए है- शुद्धा और विकृता।

1. शुद्धा जातियां - षड्ज ग्राम तथा मध्यम ग्राम की कुल मिलाकर 7 शुद्ध जातियां मानी गई हैं। इन सात शुद्ध जातियों के नाम सात स्वरों से ही लिए गए हैं। इन जातियों के नाम क्रमश: षाड्जी, आर्षभी, गंधारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी या निषादवती हैं। इनमें से षाड्जी, आर्षभी, धैवती और निषादवती, ये चार जातियां षड्ज ग्राम की तथा शेष तीन- गंधारी, मध्यमा तथा पंचमी मध्यम ग्राम की शुद्धा जातियां है।

शुद्ध जाति लक्षण:- भरत ने इन शुद्ध जातियों के लक्षण इस प्रकार कहें हैं:-

क) जिनके आरोह-अवरोह सम्पूर्ण हो।

ख) जिस स्वर से, जिस जाति का नाम लिया गया हो, वही स्वर उस जाति का ग्रह, अंश तथा न्यास स्वर हो।

ग) शुद्धा जातियों में न्यास स्वर मंद्र में होना चाहिए। यहां मंद्र से अभिप्राय, उस स्वर विशेष से है जिस पर मंद्र सप्तक पूर्ण

करते हैं, न कि मंद्र सप्तक से / अर्थात मध्य षड्ज।

1. विकृत जातियां:- भरतानुसार शुद्धा जातियों के लक्षणो में से 'न्यास' को छोड़कर एक या अधिक लक्षणों मे विकार करने से विकृता जाति बनती है। विकृता जातियां दो प्रकार से बनती हैं:- 1) एक या दो स्वरों को वर्जित करके अर्थात औडव या षाड्व प्रकार बनाने से तथा 2) जिस स्वर से जाति का (शुद्धा) नामकरण हुआ हो, उसे अंश, ग्रह अपन्यास मानने के नियम को भंग करके। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्यास - स्वर के नियम का उल्लघंन कभी नहीं होता है। विकृता जातियों की संख्या के विषय में भरत ने नही लिखा है। किन्तु "संगीत रत्नाकर" नामक ग्रंथ मे लिखा है कि ग्रह, अंश, अपन्यास नियम भंग करने से 49 तथा औडवषाडवादि नियम से 104 विकृता जातियां बनती हैं। अर्थात कुल 153 विकृता जातियां हैं।

2. संसर्गजा विकृता जातियां:- शुद्धा जातियों के इन विकृत भेदों के अलावा भरत ने 11 अन्य विकृत जातियां कही हैं, जो विकृता जातियों से भिन्न हैं। इन्हें बनाने की विधि के विषय मे भरत ने कहा कि इन्हें शुद्धा जातियों के परस्पर संयोग से बनाया जाता है। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ये जातियां केवल शुद्धा जातियों के संसर्ग से बनती हैं न कि शुद्धा मे विकृता जातियों के संसर्ग से। इस प्रकार बनी हुई जातियां "संसर्गता विकृता जातियां कहलाती हैं। ये जातियां शुद्धा जातियों के संसर्ग के कारण विकृत होती हैं।

इन 11 जातियों में से तीन षड्ज ग्राम की तथा 8 अन्य मध्यम ग्राम की जातियां हैं। षड्ज ग्राम की संसर्गता विकृता जातियों के नाम इस प्रकार हैं:- षड्जमध्यमा, षड्जोदिच्यवा तथा षड्जकौशिकी। मध्यम ग्राम की संसर्गजा विकृता जातियां निम्न है:- गान्धारोदीच्यवा, मध्यमादीच्यवा, रक्तगांधारी, आन्ध्री, नन्दयन्ती, गांधारपंचमी, कर्मारवी तथा कौशिकी। इन सभी 11 संसर्गजा विकृता जातियों को बनाने के लिए जिन शुद्धा जातियों का संसर्ग किया गया वे निम्न तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है:-

	संसर्गजा विकृता जातियां	ग्राम	संसर्गजा शुद्धा जातियां
1.	षड्जमाध्यमा	षड्ज	षाड्जी + मध्यमा
2.	षड्जोदिच्यवा	षड्ज	षाड्जी+गान्धारी+ धैवती
3.	षड्जकैशिकी	षड्ज	षाड्जी+गान्धारी
4.	गान्धारोदीच्यवा	मध्यम	षाड्जी+गान्धारी+धैवती+मध्यमा
5.	मध्यमादीच्यवा	मध्यम	गान्धारी+पंचमी+धैवती+मध्यमा
6.	रक्तगंधारी	मध्यम	गान्धारी+पंचमी+नैषादी + मध्यमा
7.	आन्ध्री	मध्यम	गान्धारी + षाड्जी
8.	नन्दयती	मध्यम	गान्धारी+पंचमी+आर्षभी
9.	गांधारपंचमी	मध्यम	गान्धारी+पंचमी
10.	कर्मारवी	मध्यम	नैषादी + आर्षभी + पंचमी
11.	कैशिकी	मध्यम	षाड्जी + गान्धारी + मध्यमा+पंचमी + नैषादी

इन सभी सात शुद्धा तथा ग्यारह संसर्गता विकृता जातियों को नाट्यशास्त्र में, स्वरों की संख्या की दृष्टि से तीन प्रकार से विभाजित किया गया है, जो निम्न है:- क) सम्पूर्ण अर्थात सात स्वर वाली ख) षाड्व अर्थात स्वर वाली तथा ग) औड्व अर्थात 5 स्वर वाली।

• जातियों का स्वरगत विभाजन:-

1. जो जाति सदा सम्पूर्ण अर्थात 4 स्वरों से युक्त रहती हैं वे नित्य सम्पूर्ण जाति या नित्यपूर्णा जाति कहलाती है। इनकी संख्या 4 है - क) षड्जकैशिकी ख) मध्यमादीच्यवा ग) कर्मारवी घ) गांधारपंचमी।

2. जो जाति 6 स्वरों से युक्त होने वाली होती है वे षड्ज जाति कहलाती है। इनकी संख्या 4 है- क) षाड्जी ख) गान्धारोदीच्यवा ग) आन्ध्री घ) नन्दयन्ती।

3. जिस जाति मे 5 स्वर होते हैं वह औड्व जाति कहलाती है। इनकी संख्या 10 है- क) आर्षभी ख) गान्धारी ग) मध्यमा घ) पंचमी ड़) धैवती च) नैषादी छ) षड्जोदिच्यवा ज) षड्जमध्यमा झ) रक्तगंधारी तथा ञ) कैशिकी।

गीति

गीति:— पद, ताल, लय, स्वर आदि से युक्त गानक्रिया गीति कहलाती है। भरत के अनुसार गीतियों का अंतर्भाव गान्ध्रव के अन्तगर्त है। शाड्गदेव के अनुसार वर्ण, पद तथा लय से समन्वित गानकिया 'गीति' कहलाती है।

गीतियों के दो प्रकार कहे गए हैं— स्वराश्रिता गीतियां तथा पदाश्रिता गीतियां।

गीतियों के दो प्रकार:-

1. पदाश्रिता गीतियां:-पदों के प्रयोग के विषय में बताने वाली तथा पदों पर आश्रित गीतियां पदाश्रिता गीतियां हैं। इनमें पद की प्रमुखता रहती है।

2. स्वराश्रिता गीतियां:- स्वरों के प्रयोग के विषय में बताने वाली, स्वरों पर अश्रित तथा स्वरों की प्रमुखता वाली गीतियां स्वराश्रिता गीतियां है।

भरत ने केवल पदाश्रिता गीतियां की ही व्याख्या की है—

स्वराश्रिता गीतियां पांच हैं- **शुद्धा, भिन्ना, गौड़ी, वेसरी तथा साधारणी।**

भरतोक्त चार पदाश्रिता गीतियां इस प्रकार हैं- **मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता तथा पृथुला।**

वृतियों के प्रकार :-वृति गायन तथा वादन की एक विशिष्ट शैली है। वृतियां त्रिविध बताई गई हैं- चित्रा, वार्तिक तथा दक्षिणा।

1. चित्रा:- द्रुत लय, सम यति तथा अनागत ग्रह "चित्रा" वृति की विशेषताएं है। इसमें बाघ की अपेक्षा गायन का प्राधान्य होता है। इसमें दो कलाएं होती है। (एक कला मे दो मात्राएं होती है)

2. वार्तिक:-वार्तिक वृति में गान तथा वाद्य का समान स्थान होता है। मध्य लय, स्त्रोतोगता यति तथा द्विकल ताल इसकी विशेषताएं है। इस शैली मे चार कलाएं होती हैं।

3. दक्षिणा - दक्षिणा वृति में विलम्बित लय, गोपुच्छा यति तथा चतुष्कल ताल की प्रधानता होती है। इसमें आठ कलाएं होती है।

श्रिता गीति के भेद:- पदाश्रिता गतियां के चार भेद हैं:-

1. मागधी गीति:-मागधी गीति शैली, भिन्न वृति में गाई जाती थी। इस गीत शैली का गायन भिन्ना अर्थात विभिन्न लय खंडों में करते थे। अर्थात गीत के प्रथम खंड का गान विलम्बित लय में, द्वितीय खंड का गान मध्य लय में तथा तृतीय तथा अंतिम खंड का गान द्रुत लय में किया जाता था।

2.अर्धमागधी गीति:- मागधी की अपेक्षा

अर्धकाल में अर्थात द्रुत लय में गाई जाने वाली गीति अर्धमागधी गीति कहलाती है। इसे गाते समय इसके द्वितीय खंड का प्रारम्भ प्रथम खंड के अंतिम अक्षर से तथा तृतिय खंड का प्रारम्भ द्वितिय खंड के अंतिम अक्षर से होता था।

3. सम्भाविता गीतिः- गुरू अक्षरों से युक्त गीति सम्भाविता गीति कहलाती थी।

4. पृथुला गीति - पृथुला गीति मे लघु अक्षर होते थे। ये हस्व स्वर भी कहलाते हैं।

ध्रुवा गीति

ध्रुवा गीतिः-नाट्यशास्त्र के ध्रुवा गीति के 32वें अध्याय में ध्रुवा गीतों का स्पष्ट तथा विस्तार पूर्वक उल्लेख है भरतानुसार छंद, पद तथा वृत की विशिष्ट रचना ध्रुवा - गीतों के निर्माण में सहायक होती है। गीति का आधार ही निबद्ध पदसमूह हैं तथा यही पदसमूह - जाति, सम तथा अर्धसम आदि प्रकार प्रमाण, स्थान तथा नाम, इन पांचों अंगो से ध्रुवा गीतों का निर्माण करते हैं।

ध्रुवा - गीत में स्वर, ताल तथा पद तीनों का समान योगदान रहता है। वर्ण, अलंकार, लय, यति, उपपाणि, भाषा, प्रमाण, काल इन अंगों के पारस्परिक निश्चित अर्थात ध्रुव सम्बंध के कारण इनको 'ध्रुवा' कहा जाता है।

भरत के अनुसार उनके द्वारा किया गया, ध्रुवा गीतों का विवेचन, नारदादि आचार्यों की परंपरा के अनुसार है।

इन ध्रुवा गीतों का निर्माण ऋक, पाणिका, गाथा तथा सप्तरूप प्राचीन गीतों के अंगो से हुआ है। तथा ध्रुवाओं का गान विभिन्न ग्राम रागों मे किया जाता था।

ध्रुवाओं का पंचविध वर्गीकरणः- ध्रुवाओं का उनके स्थान तथा प्रयोजन के अनुकूल नाट्यशास्त्र में पांच प्रकार के वर्गीकरण हुआ हैः-

1. प्रवेशिकीः- नाट्य में, पात्र के प्रवेश के प्रसंग के अनुकूल जिस ध्रुवा का गान हो वह "प्रवेशिकी" कहलाती है।

2. आक्षेपिकीः-किसी अंक के मध्य में नृत्य के साथ जिस ध्रुवा का गान हो वह "आक्षेपिक" कही जाती है। इसका गान द्रुत लय में किया जाता है।

3. प्रासादिकीः-इसका संबध विशिष्ट मनःस्थिति से है। नाट्य में प्रयुक्त हो रहे प्रमुख रस के अतिरिक्त किसी अन्य रस में निमग्न श्रोता को मूल रस का अस्वादन कराने के लिए इसका प्रयोग होता है।

4. अंतराः- नाट्य मे उत्पन्न दोष पर से श्रोता का ध्यान हटा कर दोष को दूर करने के लिए जिस ध्रुवा का गान होता है वह 'अंतरा' कहलाती है।

5. नैष्कामिकी - अंक की समाप्ति पर अथवा पात्रों के मंच पर से जाने पर जिस ध्रुवा का गान हो वह 'नैष्कामिकी' कहलाती है।

ध्रुवा के भेदः-रस तथा गुण के आधार पर ध्रुवाओं के निम्न छः भेद माने गए हैं-

1. शीर्षक
2. डद्धता
3. अनुबन्धा
4. विलम्बिता
5. ड्डिडत
6. अपकृष्टा

ध्रुवागीतों में पहले आलपगान, पश्चात् वाद्य तथा उसके पश्चात छन्दगान, यह क्रम रहता था। वाद्यों में ध्रुव गीतों के साथ मृदंग तथा पुष्कर जैसे वाद्यों से संगति की जाती थी।

मूर्च्छना

मूर्च्छनाः- किसी ग्राम में प्रयुक्त सात स्वरों के क्रम से आरोह-अवरोह करनें को उस राग की मूर्च्छना कहतें है। मूर्च्छनाएं सदा अवरोही क्रम

में ही बनती हैं।

भरत ने षड्ज तथा मध्यम ग्रामों की मिलकर कुल 14 मूर्च्छनाएं बताई हैं। इनमें से सात-सात मूर्च्छनाएं दोनों ग्रामों की हैं। इन्हीं की भांति गांधार ग्राम की भी मूर्च्छनाएं थी। किन्तु नाट्यशास्त्र में गांधार ग्राम तथा उसकी मूर्च्छनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाओं के नाम भरत ने इस प्रकार कहे हैं- उत्तरमंद्रा, रजनी, उत्तरायता, शुद्धषड्जा, मत्सरीकृत, अश्वक्रांता तथा अभिरूदगता। इनमें से उत्तरमंद्रा को आधा बताया गया हैं। इन मुर्च्छनाओं के स्वर इस प्रकार हैं-

1. उत्तरमंद्रा	सनि ध प म ग रे
2. रजनी	नि ध प म ग रे स
3. उत्तरायता	ध प ग म रे स नि
4. शुद्धषड्जा	प म ग रे स निध
5. मत्सरीकृत	म ग रे सनिधप
6. अश्वक्रांता	गरे स नि ध प म
7. अभिरूदगता	रेस नि ध प म ग

मध्यम ग्राम की भी सात मूच्छनाएं कही गई हैं तथा इनके नाम इस प्रकार बताएं गए हैं- सौवीरी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्धमध्या, मार्गवी, पौरवी तथा हृष्यका। इन सात मूर्च्छनाओं के स्वर इस प्रकार हैं:-

1. सौवीरी	म ग रे स नि ध प
2. हरिणाश्वा	ग रे स नि ध प म
3. कलोपनता	रे स नि ध प म ग
4. शुद्धमध्या	स नि ध प म ग रे
5. मार्गवी	नि ध प म ग रे स
6. पौरवी	ध प म ग रे स नि
7. हृष्यका	प म ग रे स निध

इस प्रकार यहां यह तथ्य प्रकाश में आता है कि षड्ज ग्राम की प्रारम्भिक मूर्च्छना स से तथा मध्यम ग्राम की प्रारम्भिक मूर्च्छना म से प्रारम्भ होती है तथा इन्हीं के आधार पर अन्य मूच्छनाएं बनती हैं। ये 14 मूर्च्छनाएं शुद्ध मूच्छानाएं कहलाती है। क्योंकि इनकी श्रुति व्यवस्था अपने ग्रामों की निश्चित श्रुति व्यवस्था के समान ही रहती है तथा इनमें सम्पूर्ण अर्थात सभी सात स्वर लगतें हैं।

मूर्च्छना के चार प्रकार:-

1. सम्पूर्ण मूर्च्छना:-शास्त्र में कथित तथा निश्चित श्रुति-व्यवस्था पर स्थित स्वरों के क्रमानुसार आरोह–अवरोह, सम्पूर्ण मूच्छनाएं हैं। ये दोनों ग्रामों को मिलाकर 14 हैं। इन्हे शुद्ध मूर्च्छना भी कहते है। इनमें सभी 7 स्वर, अपने ग्रामों के निश्चित श्रुति अंतराल पर रहते हैं।

2. साधारण कृतः - स्वाभाविक श्रुति-व्यवस्था में गंधार तथा निषाद की दो-दो श्रुतियां रहती हैं। किन्तु जब ग को चतु:श्रुतिक तथा नि को भी चतु:श्रुतिक बनातें हैं तो वे साधारण कृत स्वर कहलाते हैं। चतु:श्रुतिक के अंतर ग तथा चतु:श्रुतिक नि को काकली नि की संज्ञा दी जाती है। अत: जब सम्पूर्ण मूर्च्छना में ग तथा नि के स्थान पर अंतर ग तथा काकली नि की प्रयोग होता है तब वह मूर्च्छना साधारण कृत मूर्च्छना कहलाती है। दोनों ग्रामों को मिलाकर कुल 14 साधारण कृत मूर्च्छनाएं हैं।

3. षाडव :- साधारण कृत मूर्च्छनाओं को जब षट्स्वरी अर्थात छ: स्वर की बनाया जाता है तब वह षाडव मूर्च्छना कहलाती है। इनकी संख्या, दोनों ग्रामों में मिलाकर 14 है।

4. औडव :- साधरण कृत मूर्च्छनाओं में से जब दो स्वरों को छोड़कर मूर्च्छना बनाई जाती हैं तब वे औडव मूर्च्छना कहलाती है। ऐसी मूर्च्छनाओं की संख्या, दोनों ग्रामों में 14 है।

इस प्रकार मूर्च्छना के चार भेदों से मिलाकर कुल 56 मूर्च्छनाएं बनती हैं।

भरतकालीन बाद्य

बाघों का वर्गीकरण भरतकाल में ही चार प्रकार से हो चुका था। भरत ने नाट्यशास्त्र में तत्, वितत्, धन तथा सुषिर, ये चार प्रकार बताए हैं। नाट्यशास्त्र में वाद्यों के लिए " आतोध " संज्ञा है। नाट्यशास्त्र में वाद्यों का प्रयोग प्रारम्भ से लेकर अंत तक होता था। अत: गायन से वाद्यों का प्राबल्य, नाट्य में, या भरत काल में वाद्यवृंद का प्रचलन था। भरत काल में इस वाद्यवृंद के लिए कुतप संज्ञा थी। कुतप को नाट्यशास्त्र में, तीन प्रकार बताएं गए हैं:- क) तत कुतप ख) अवनद्ध कुतप तथा ग) नाट्य कुतप।

कुतप के प्रकार:-

1. तत कुतप:-तत कुतप में गायक–गायिकाओं की संगति के लिए तंत्री वाद्यों तथा सुषिर वाद्यों का सन्निवेश किया जाता था। इस सम्बंध में विपंची नामक वाद्य के वादक वैपंचिक वीणा नामक वाद्य के वादक वैणिक तथा वंशी वादक तीनों का स्पष्ट उल्लेख नाट्यशास्त्र में पाया जाता है।

2. अवनद्ध कुतप:- अवनद्ध कुतप में चर्म वाद्य का समावेश था। इनमें मृदंग, पणव तथा दर्दुरक जैसे वाद्य आते थे। इनके वादकों को मार्दगिक पाणविक तथा दार्दुरिक कहते थे।

3. नाट्य कुतप:-नाट्य कुतप में गायक तथा वादकवृंद के साथ नट-नटीयों को यथा योग्य स्थान पर बैठाया जाता था। इनके बैठने का स्थान भी निश्चित रहता था।

नाट्य में गायन की संगति के लिए मुख्य वाद्यों के रूप में वीणा तथा वेणु का प्रयोग होता था। नाट्यशाला के शिलान्यास के अवसर पर भी मंगल वाद्य बजते थे। ध्रुवा गायन में भी, पहले वाद्य तत् पश्चात आलाप फिर ध्रुवा गान, इस प्रकार वाद्यों का प्रयोग होता था।

वाद्यों के चार प्रकार:-

1. तत् वाद्य :-भरत काल में तत् वाद्यों में वीणा की प्रधानता थी। भरत ने वीणा के दो प्रमुख प्रकार माने हैं- विपंची और चित्रा। विपंची वीणा के नौ तार (तंत्री) थे। तथा चित्रा वीणा की सात तंत्रियां थीं। कच्छपी तथा धोषका इन्हीं वीणाओं के अंतगर्त आती थी। भरत कालीन वाद्यवृंद में चित्रा वीणा के वादक के लिए वैणिक संज्ञा थी। चित्रा वीणा की तंत्रियों का वादन अंगुलियों से होता था तथा विपंची वीणा को तंत्रियों वादन "कोण" के द्वारा किया जाता था। वीणा दंड को 'प्रवाल' तथा वीणा के खूंटियों वाले वक भाग के लिए 'प्रसेवक' संज्ञा थी।

2. सुषिर वाद्य :-भरतकालीन कुतपों में वंशी वादकों का प्रमुख स्थान था। तथा शंख और डक्किनी आदि वाद्यों को प्रत्यंग वाद्य माना जाता था। वेणु - वेणु दंड अर्थात बांस से बनाई जाती थी। पीतल, ताम्र अथवा रजत आदि धातुओं से वंशी का निर्माण इस काल में नहीं होता था।

सुषिर वाद्यों का वादन विधि, वंशीवादक के गुणावगुण के विषय में नाट्यशास्त्र के 30वें अध्याय में लिखा है। वेणु को वीणा का अनुगामी बताया गया है। तथा स्वर, ग्राम, मुर्च्छना आदि का वादन वेणु में वीणा के भांति ही किया जाता था।

3. अवनद्ध वाद्य:-अवन वादों का चतुर्विध वाद्यों में प्रमुख स्थान रहा है। मृदंग, पणव तथा दुर्दर जैसे चर्ग वाद्यों के लिए पोकर संज्ञा थी। इन वाद्यों के स्वतंत्र वाद्यवृंद में मृदंगवाद मार्दंगिक, पणव-वादक - पाणविक तथा दर्दुरक दार्दुरिक का प्रमुख स्थान रहता था। इन वाद्यों को भांड वाद्य भी कहा जाता था। भरताचार्यानुसार अनवद्य वाद्यों में मृदंग तथा दर्दुर मुख्य वाद्य तथा पटह, झल्लरी आदि प्रत्यंग वाद्य हैं।

भरतानुसार पौष्कर वाद्यों में पुष्कर वाद्य अर्थात मृदंग श्रेष्ठ है। तथा यह एक स्वतंत्र

वाद्य हैं। इनकी श्रेष्ठता का कारण इसकी बोल उत्पादन की क्षमता है। अर्थात पुष्कर वाद्य में से, सबसे अधिक बोल निकलतें हैं।

नाट्यशास्त्र में मृदंग के तीन आकार बताए गए हैं:- (क) हरीतकी अर्थात हल्दी के आकार का ख) यवाकृति अर्थात यव के आकार का ग) गोपुच्छाकार अर्थात गाय की पुंछ के आकार का। यवाकृति मृदंग के लिए अन्य संज्ञा त्रिपुष्कर थी तथा इसके भी तीन प्रकार थे - क) ऊर्ध्व मुख अर्थात तीनों मुख उपर की और वाला ख) दो मुख दोनो और तथा एक ऊपर की दिशा वाला तथा ग) तीनों मुख भिन्न-भिन्न दिशा वाला मृदंग या पुष्कर / इनके नाम आंकिक आलिंध्य तथा ऊर्धक थे।

दुर्दर वाद्य का आकार घट के समान होता था तथा इसका मुख 12 अंगुल चौड़ा होकर चर्म से ढका हुआ होता था।

4. घन वाद्य: - घन वाद्य काष्ट तथा कांस्य आदि धातुओं की बने होते थे। तथा इनका प्रयोजन ताल दर्शाना था। इनमें कांस्यताल, करताल आदि का सन्निवेश था।

पंचविध साम

संगीत का उद्गम सामवेद से माना जाता है। सामवेद में ऋग्वेद की ऋचाओं का संग्रह है। सामवेद में संग्रहित इन ऋचाओं का, वैदिक काल में यज्ञ-याग आदि के अवसरों पर गान किया जाता था। सामवेद का यह गान साम गान अथवा साम संगीत कहलाता है। सामगान करने वाले गायक ऋत्विज " कहलाते थे। इनकी संख्या तीन होती थी- प्रस्तोता, उद्गाता तथा प्रतिहर्ता। इनमें उद्गाता प्रमुख ऋत्विज होता था। इनके अतिरिक्त तीन से लेकर छ: तक उपगाता भी होते थे। जिनका कार्य, ऊँ हुं हों शब्दों का निरंतर उच्चारण करना था। जिससे गायन में निरंतरता बनी रहे। ये उपगाता निरंतर मंद्र स्थान पर गायन करते थे। तथा ऋत्विज जन इनसे तीसरे स्वर पर गायन प्रारम्भ करते थे। सामगान में निरंतरता बनाए रखने के लिए साम गान के विभिन्न खंड बनाए गए थे, जो 'भक्ति' कहलाते थे। सामगान की परंपरा में साम गान के पांच खंड करके गाने की प्रथा रही। इन पांच खंडों को "पांच भक्ति साम" या "पंचविध साम" कहा गया। किन्तु इसी परम्परा के कुछ गायकों ने साम गान के सात खंड करके गायन कार्य किया, जिसे "सात भक्ति गान कहा गया। किन्तु इन दोनों में पंचविध साम अधिक प्रचलित था। इसके पांच खंड प्रस्तावना उद्गीत, प्रतिहार, उपद्रव तथा निधन हैं। इन्हीं में प्रस्तावना से पहले हिंकार तथा बाद में प्रणव या आदि जोड़ने पर सात भक्ति साम कहलाता था।

पंचविध साम के खंड :-

1. प्रस्ताव: - यह साम का प्रारम्भिक भाग है, जिसे प्रस्तोता नामक ऋत्विज गाता है। यह भाग "हु" शब्द से प्रारम्भ होता है। उदाहरणार्थ- हुम्

2. उद्गीथ:- साम का यह भाग सर्वाधिक महत्व है। इसके प्रारम्भ में ऊँ का गान होता है। इसका अर्थ "ऊपर के स्वर में गान करना है। उदाहरणार्थ:- ॐ आयाहि वीतये गृणानो हृदयदातये।

3. प्रतिहार - प्रतिहार का अर्थ दो भागों को जोड़ने वाला है। इसका गायक प्रतिहार नामक ऋत्विज है। इसके दो उपभाग होते हैं- उपद्रव तथा निधन। प्रतिहार के उदाहरण स्वरूप - नि होता सत्सि बर्हिषि ऊँ।

4. उपद्रव: - यह प्रतिहार का मुख्य प्रथम भाग है। जब प्रतिहर्ता प्रतिहार का गायन कर देता है तब पुन: उपद्रव के रूप में प्रतिहार का गायन उद्गाता करता है। उदाहरणार्थ:- नि होता सत्सि ब।

5. निधन :- यह प्रतिहार तथा सम्पूर्ण मंत्र

का अंतिम भाग है। इस शेष भाग का गायन सभी ऋत्विज एक साथ मिलकर करते हैं तथा अंत में ऊँ का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार साम का अंतिम स्वर प्रषण या ऊँ है। उदाहरणार्थ:- र्हिषि ॐ।

सहायक ग्रंथों की सूची

1. वैदिक साहित्य : प्रो. बलदेव उपाध्याय
2. वैदिक साहित्य : पं. रामगोबिन्द त्रिवेदी
3. भरतसंगीत : प्रो० कैलाशचन्द्र देव
4. भारतीय संगीत : प्रो० मुले
5. संगीतशास्त्र भाग - 1-4 : पं. वि.ना. भातखण्डे
6. भारतीय नाट्यशास्त्र : कु. गोदाबरी केतकर
7. संगीत ओ संस्कृति : प्रज्ञानानन्द, कलकत्ता
8. भारतीय संगीत का इतिहास : डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे
9. संगीत बोध : डा० शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे
10. A Historical study of Indian Music : Swami Prajanananda

अनामिका का काव्य संसार

प्रवीन वर्मा

समकालीन कविता में अनामिका का विशेष महत्व है। साहित्य के क्षेत्र में अनामिका का आगमन उस समय हुआ, जब स्त्री विमर्श ज़ोरों पर था। एक ओर जमीनी स्तर पर स्त्रियाँ अपनी हक की लड़ाई लड़ रही थीं तो दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में कई स्त्रियाँ सक्रिय थीं, विशेषकर कथा साहित्य के क्षेत्र में अस्सी के दशक के बाद हिन्दी कविता के क्षेत्र में स्त्रियों की उपस्थिति दर्ज होने लगी। स्त्री रचनाकारों में अनामिका ने अपनी अलग पहचान बनाई है। अनामिका की कविता में आधुनिक स्त्री का स्वर सुनाई पड़ता है। उनकी कविताएँ स्त्री जीवन को चित्रित करने के साथ पुरुष समाज से प्रश्न भी करती है। स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की क्यों है? अनामिका की कविताएँ पुरुष विरोधी नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था विरोधी है। स्त्री समाज में बराबरी चाहती है और यह बराबरी तभी संभव हो सकेगी जब पुरुष स्त्री के साथ कदम से कदम मिलाकर चलेगा। इस संदर्भ में अनामिका कहती है कि, "बराबर का यह साथ तभी हो सकेगा, जब पुरुष अतिपुरुष न रहें और स्त्रियाँ अति स्त्री।"[1] अनामिका संतुलन को ही सुख का मूलमंत्र मानती है। पिछले तीन दशकों में जितना विकास स्त्रियों का हुआ हैं उतना पुरुषों का नहीं हुआ। आज भी पुरुष विकास की मानसिकता रामगुप्त वाली ही है, वह चन्द्रगुप्त अभी तक नहीं बन पाया है। समाज का स्त्री के प्रति उपेक्षित व्यवहार और दोयम दर्जे में रह जाने की पीड़ा कवयित्री के हृदय को व्यथित करता है। कवयित्री स्त्रियों की स्थिति से अनभिज्ञ नहीं हैं। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्रियों को हाशिये पर ला पटका हैं। उन्हें एक वस्तु के रूप में देखा, जो आवश्यकता पड़ने पर उपयोग में लाई जाती है। स्त्रियों के साथ फटी कॉपी का कागज, घड़ी, संगीत और रिश्तेदारों जैसा व्यवहार किया गया, इसलिए अनामिका स्त्रियों को इंसान की तरह पढ़ने का कायदा बताती है-

"एक दिन हमने कहा
हम भी इंसान हैं
हमें कायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसा पढ़ा होगा बीए के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन।"[2]

अनामिका की कविता का स्त्री विमर्श यूरोपीय ढांचे का नहीं, बल्कि ठेठ भारतीय संदर्भ का है। वहाँ वह स्त्रियाँ मौजूद हैं जो घर में बचपन से वृद्धावस्था तक छोटे-छोटे अधिकारों से वंचित रही हैं-

शोधार्थी—पीएच.डी, हिन्दी,अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली फोन

"राम, पाठशाला जा !
राधा, खाना पका !
राम, आ बताशा खा !
राधा, झाड़ू लगा !
भैया अब सोएगा,
जाकर बिस्तर बिछा!" [3]

पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की जगह कहाँ है? आज भी वह अपने घर और ससुराल में सम्मान तथा अधिकार से वंचित है। वह हवा, धूप और मिट्टी है उसका घर कहीं नहीं है। वह दोनों जगह परायापन महसूस करती है। यही स्त्री के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी है। वह सारी उम्र रसोई में अपने वजूद के बारे में सोचकर गुजारती है। यह मानसिक संघर्ष ही, स्त्री-पुरुष के संबंधों की जटिलता बन चुका हैं। 'डाक-टिकट' कविता में अनामिका स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता की ओर संकेत करती है—

"बच्चे उखाड़ते हैं
डाक-टिकट
पुराने लिफाफों से जैसे
वैसे ही आहिस्ता-आहिस्ता
कौशल से मैं खुद को
हर बार करती हूँ तुमसे अलग !
मेरे किनारे फट जाते हैं कभी-कभी
कुछ-न-कुछ मेरा तो निश्चित ही
सटा हुआ रह जाता है तुमसे !" [4]

भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री के संघर्ष का चित्रण कविता में आज अलग रूप में दिखाई पड़ता है, लेकिन हिंसक और क्रूर यथार्थ में अनामिका की कविता सृष्टि और समाज में करुणा तथा प्रेम को बचाए रखने की अनवरत यात्रा में है। इस यात्रा में वे भारतीय समाज में पुरुष सत्ता, वर्चस्ववादी और सामंती संरचना से जूझ रही है। अनामिका की कविता के संदर्भ में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि, "भारतीय जन जीवन में जो घटित हो रहा है और घटित होने की प्रक्रिया में जो कुछ गुम हो रहा है, अनामिका की कविता में उसकी प्रभावी पहचान और अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।"[5] अनामिका स्त्री के जीवन एवं घर को नकारती नहीं हैं, बल्कि अपनी भाषा से नई पहचान देना चाहती है। यह जानते हुए भी कि परिवार में स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की समझी जाती है और परिवार में उपस्थित होकर भी स्वयं को अनुपस्थित समझने लगती है। स्त्री की यही अनुपस्थिति 'अनुवाद' कविता में देखी जा सकती है-

"लोग दूर जा रहे हैं
हर कोई हर किसी से दूर
लोग दूर जा रहे हैं
और बढ़ रहा है
मेरे आस-पास का स्पेस।" [6]

स्त्री परिवार में आज भी अकेली है। विवाह के बाद तो स्त्री मारपीट, क्रूरता, अभद्रता, तिरस्कार सहती है। वैवाहिक संबंध में स्त्री की दयनीय स्थिति को 'टूटी-बिखरी और पिटी हुई' कविता में चित्रित किया है—

"पीठ नीली,
चेहरा पीला
लाल आँखें और
जख्म हरे-
कुदरत के सब रंगों की बोतल
उलट-पुलट जाती है मुझ पर
उनके आते ही।" [7]

अनामिका स्त्री की भयंकर स्थिति को सहज ढंग से काव्यानुभूति में परिवर्तित कर देती है। स्त्री अनुभूति के साथ-साथ पुरुष अनुभूति की मौजूदगी भी इनकी कविता को जमीन प्रदान करती है। यहाँ विभिन्न प्रकार की स्त्रियाँ जिसे

घर और बाहर कभी अहमियत नहीं दी, बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक स्त्री जीवन के बड़े-बड़े अंतर्विरोध दिखाई पड़ते हैं। घर-परिवार में छोटी-छोटी नाइंसाफियों को कवयित्री ने कविता की आँख से देखा है जो इससे पहले नदारत था-

"रहती हैं वृद्धाएँ, घर में रहती हैं
लेकिन ऐसे जैसे अपने
होने की खातिर हों क्षमाप्रार्थी
लोगों के आते ही बैठक से उठ जाती,
छुप-छुपकर रहती हैं छाया-सी,
माया-सी !" [8]

इस कविता को पढ़कर भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' याद आ जाती है। वहाँ भी शामनाथ अपनी माँ के साथ वैसा ही दुर्व्यवहार करता है जैसा इन पंक्ति में वृद्धा की स्थिति देखी जा सकती है। गौरतलब है कि आम्रपाली, रत्नावली, भामती और राधा के मिथक को आज की कसौटी पर कसकर दिखाने का समर्थ प्रयास किया है। भामती और राधा की बेटियाँ भूमंडलीकरण के दौर की बेटियाँ हैं। स्त्री के प्रति हिंसा को वह अच्छी तरह से जानती है तभी तो अनामिका अपनी कविता 'राधा की बेटियाँ' में घरेलू हिंसा का बिम्ब चाँद के दाग से जोड़कर प्रस्तुत करती है जोकि इस प्रकार है -

"क्या रखा है चाँद में?
अम्मा, ये उसके भी सिर पर
मुस्काता बैठा है जो दाग-
क्या उसके दूल्हे ने
मार-मार कर माथा फोड़ा होगा उसका
किसी शाम ?
क्या चाँद औरत है, अम्मा?" [9]

जब समाज में हिंसा, हत्या, क्रूरता, अराजकता जैसे तत्व विद्यमान होते हुए भी अनामिका सृष्टि व समाज में अपनी कविता के माध्यम से करुणा और मैत्री भाव का संदेश देती है। करुणा और मैत्री ही स्त्री-पुरुष के संबंधों का मूलाधार ही उन्हें नज़र आता है। 'आम्रपाली' कविता में वृद्ध ने कहा था आम्रपाली से- "रह जाएगी करुणा, रह जाएगी मैत्री, बाकी सब ढह जाएगा..."[10] इस कविता का उद्देश्य व्यापक है यहाँ एक वैभवशाली स्त्री के बहाने समूची मानवता की बात की गई हैं तथा संसार को करुणा और मैत्री का भी संदेश दिया गया हैं। अनामिका की कविता का मूल स्वर करुणा और मैत्री है। करुणा और मैत्री के साथ ही मुक्ति का स्वर भी विद्यमान है। अनामिका की कविताएँ मानसिक मुक्ति का वाहक हैं। यहाँ यथार्थ स्थिति का वर्णन करते हुए प्रश्न करने के साथ स्त्री मुक्ति के संघर्ष की गूंज सुनाई पड़ती हैं-

"कुछ है जो टूटेगा,
टूटेगा और फिर जमेगा,
लेकिन जो टूटेगा-
जम पाएगा बिल्कुल वैसा ही ?
इसकी ही चिंता है कविता।"[11]

अनामिका की कविताएँ स्त्री के यथार्थ के साथ-साथ व्यक्ति के सत्य को भी चित्रित करती है। गैर-असमानता को दरकिनार करके समानता की वकालत करती है-

"कब तक बंटना, कब तक छँटना
देखिए मुझे अपने अंतिम दशमलव तक
फिर कहिए, क्या मैं बहुत भिन्न हूँ आपसे?"[12]

अनामिका ने बृहत्तर संसार को स्त्री- दृष्टि से देखा है वहाँ वो सब स्त्रियाँ मौजूद हैं जो आधी दुनिया का प्रतिनिधित्व करती है। पूरी व्यवस्था में बदलाव तभी संभव है जब मुक्ति का स्वर विद्रोह में परिवर्तित हो। मुक्त होने के लिए चलना जरूरी है, पारंपरिक लीक से हटकर चलना। इसलिए कवयित्री कहती है-

"अब बस उठो, चलो! जैसी ही, चल दो-
दुनिया में एक यही काम है जरूरी-
यह चल पड़ना।"[13]

स्त्री के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यह है कि मुक्ति के लिए संघर्ष तो दूर की बात, मरने की भी फुर्सत उनके पास नहीं हैं । यहाँ तक कि मरते- मरते भी स्त्री सोचती है कि, "फंदा लगा लू कि पहले पोंछू मैं यह धूल पंखे की आँचल से"[14] यह स्थिति सामान्य स्त्री की भी है और सीता की भी रही होगी। अगर ईसा मसीह भी औरत होते तो इन्हीं यातनाओं से गुजरते, जिन यातनाओं से भारतीय स्त्रियाँ गुजरती हैं। अनामिका की कविता में पीड़ा और मुक्ति का गहरा अंतर्संबंध है, कवयित्री इस संबंध को जानती है तभी अपनी कविता 'दरवाजा' में कहती है-

"मैं एक दरवाजा थी
मुझे जितना पीटा गया
मैं उतना खुलती गयी।" [15]

पीड़ा और मुक्ति के संबंध के ही आशय का स्पष्टीकरण अनामिका 'अनुष्टुप' काव्य संग्रह के वक्तव्य में देती है, "वैयक्तिक, सामाजिक, भौतिक, आधिभौतिक जीवन की कोई भी तकलीफ जीवन की विडंबनाओं की एक महीन सी समझ अनुष्टुप में अनजाने विकसित कर देती है।"[16] अनामिका की कविता का एक पक्ष स्त्री की पीड़ा है, वहीं दूसरा पक्ष स्त्री की मुक्ति से संबंधित है। वस्तुत: अनामिका जिस स्त्री मुक्ति की बात करती है वह कोई बाहरी नहीं, बल्कि वह भीतर के विद्रोह की चेतना है। जो पैरों की जंजीरें तोड़कर एक दिन बाहर निकल आएगी। तब कोई भी बंधन उसे रोक नहीं पाएगा-

"एक चीख मेरे भी भीतर दबी है!
उसका बस चले अगर तो
मेरी पसलियाँ तोड़ती
निकल आए बाहर !
ये चीख मेरी
आदिवासी रूपसी की तरह
अब तक किले के तहखाने में
टहल रही है बेबस
जंजीरें छूमछनन उसके पैरों की
जिस दिन भी टूटेंगी-देखना-
बिन घुंघुरु नाच उठेगा जंगल !"[17]

अत: कहा जा सकता है कि अनामिका की कविता के सरोकार स्त्री-दृष्टि एवं रचना की दुनिया का विस्तार करने वाली एवं उनको अपने वक़्त की एक जागरूक तथा संवेदनशील कवयित्री के तौर पर देखा जाता है। वह पुरुष के विरूद्ध नहीं पितृसत्तात्मक व्यवस्था के विरूद्ध लिखती है। जहाँ भारतीय स्त्री का दुख, यातना और संघर्ष के बिम्ब उभरते दिखाई देते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. स्त्री विमर्श की उत्तर गाथा, अनामिका, सामयिक प्रकाशन, संस्करण 2019, पृष्ठ फ्लैप से
2. स्त्रियाँ, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 13-14
3. बेजगह, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 5
4. डाक-टिकट, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 88
5. समय के शहर में, अनामिका, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ पिछले कवर पृष्ठ से
6. अनुवाद, अनुष्टुप, अनामिका, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ 44
7. टूटी-बिखरी और पिटी हुई, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 46
8. वृद्धाएँ धरती का नमक हैं, खुरदुरी हथेलियाँ,

अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 49

9. राधा की बेटियाँ, दूब-धान, अनामिका, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ 27
10. आम्रपाली, टोकरी में दिगंत थेरीगाथा : 2014, अनामिका, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2015, पृष्ठ 14.
11. दाँत, बीजाक्षर, अनामिका, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ 15
12. भिन्न, अनुष्टुप, अनामिका, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ 51
13. वनमेथी और महाश्वेता दी, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 106
14. ऊपर सेज पिया की, खुरदुरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 33
15. दरवाजा, अनुष्टुप, अनामिका, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1998, पृष्ठ 46
16. अनुष्टुप, अनामिका, किताबघर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1998, भूमिका से
17. चीख, खुरदरी हथेलियाँ, अनामिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहला संस्करण 2005, पृष्ठ 43

राजस्थान के प्रमुख पारम्परिक लोकवाद्य एवं उनकी विशेषताएं

रुचिका अग्रहरि, प्रो. मीना सिंह,

सारांश

राजस्थान के लोकसंगीत में परिवेश, स्थिति एवं भावों के अनुरूप लोकवाद्यों का विकास हुआ।यहाँ के विश्व प्रसिद्ध विभिन्न प्रकार के राजस्थानी लोक संगीत भिन्न-भिन्न वाद्यों से जुड़े होने के कारण अपनी अलग ही विशिष्टता रखते हैं।जैसे-पाबू जी (लोक देवता)की कथा के साथ रावणहत्था,बगड़ावत के साथ गलालेग,अनेक बड़ी गेय कथाओं में तंदूरा व मंजीरा का प्रयोग होता है।कई देवियों व जातियों के साथ भी विशेष वाद्य जुड़े हुए हैं, जैसे- कैलादेवी के मेले में नगाड़ा बजाया जाता है।सामान्यत: पूंगी वाद्य यंत्र का प्रयोग सपेरों द्वारा किया जाता है।इसी प्रकार जातियों में देखेंगे कि भीलवाड़ा के आस-पास के भील 'मशक' बजाते हैं।मिरासियों में 'भपंग' लोकप्रिय है।ढोल,शहनाई, ढोलक,पूंगी आदि का प्रयोग विवाह, मुण्डन आदि अवसरों पर किया जाता है इस शोध पत्र के माध्यम से मैं राजस्थान के समृद्ध वाद्य परम्परा को उजागर कर उसके प्रचार प्रसार व संरक्षण की ओर ध्यानाकर्षित कर,भारतीय संस्कृति के संरक्षण में योगदान देना चाहती हूँ।

मुख्य बिन्दु- *लोक,संगीत, वाद्य, नृत्य, गीत।*

राजस्थानी लोक संगीत में वाद्य के साढ़े तीन प्रकार माने जाते हैं-1- फूंक वाद्य 2- खाल वाद्य 3- तार वाद्य और आधे में ताल वाद्य माने गए हैं।जो फूंक से बजते हैं वे फूंक वाद्य जैसे- बाँसुरी, पूंगी, अलगोजा आदि।जो खाल के बने होते हैं वे खाल वाद्य जैसे-नक्कारा,ढोलक,ढोल,ताशा आदि।जिनमें तार लगे होते हैं वे तार वाद्य जैसे- सारंगी,इकतारा,तंदूरा, अपंग आदि।और अंत में ताल वाद्य रखे गए।कुछ अन्य मत के अनुसार इनको 'गाल,बाल,खाल' की संज्ञा दी गयी।अपने इस शोध पत्र में मैं इन राजस्थानी लोक वाद्यों को भरत मुनि के द्वारा चतु:वाद्य वर्गीकरण के अनुसार प्रस्तुत कर रही हूँ-

1. तत् वाद्य

रावणहत्था- यह राजस्थान का प्रमुख तत् वाद्य है।यह भोपो का प्रमुख वाद्य है, इसे बड़े नारियल की कटोरी पर खाल मढ़कर बनाया जाता है। इसकी डांड बाँस की होती है, जिसमें खूंटियां लगा दी जाती हैं और उनमें नौ तार बांध दिए जाते हैं।यह वायलिन की भांति गज से बजाया जाता है,यह गज घोड़े की पूँछ के बालों से निर्मित होता है।गज के अंतिम सिरे पर घुंगरू बंधे होते हैं, जिनके संचालन से ध्वनि उत्पन्न होती है।पाबू जी की फड़ बाँचते समय भोंपें रावणहत्था का प्रयोग करते हैं।

शोधार्थी : संगीत विभाग, स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, गाज़ीपुर (उ.प्र.)
शोध निर्देशक : अध्यक्ष, संगीत विभाग, स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाज़ीपुर (उ.प्र.)

इकतारा- यह वाद्य यंत्र गोल तुम्बे में बाँस की डंडी फंसाकर बनाया जाता है।तुम्बे का एक हिस्सा काटकर उस पर चमड़ा मढ़ दिया जाता है। बाँस पर दो खूंटियां लगाकर ऊपर नीचे दो तार बांध दिए जाते हैं। इसका वादन तार पर अंगुली ऊपर नीचे करके किया जाता है। इकतारा को एक हाँथ से पकड़कर बजाया जाता है और दूसरे हाँथ से खड़ताल बजाई जाती है।कालबेलिया, नाथ साधु-सन्यासी आदि इकतारा बजाते हुए लोक-संगीत की मधुरता बढ़ा देते हैं।

चौतारा- यह चार तारों वाला वाद्य है, इसकी बनावट सितार या तानपूरे के समान होती है, लेकिन यह फ़र्क होता है कि इसकी कुण्डी लकड़ी की बनी होती है,कुण्डी पर लकड़ी की बनी हुई घुडच लगी होती है एवं इसके तारों को मिलाने का क्रम उल्टा होता है।इसे कामड़ जाति के लोग तथा रामदेव जी के भजन गाने वाले और निर्गुण भजन गाने वाले नाथपंथी बजाते हैं।इसे तंबूरा व निशान भी कहा जाता है।

सारंगी- यह वाद्य सागवान, कैर या रोहिड़े की लकड़ी से बनाई जाती है।इसके तार बकरे की आँत के बने होते हैं और घोड़े की पूँछ के बालों से बने गज से इसका वादन होता है।बाड़मेर,जैसलमेर क्षेत्र की लंगा जाति अपने लोक संगीत में सारंगी का अधिक प्रयोग करती है।मिरास,जोगी और मांगनिहार कलाकार भी सारंगी के साथ गाते हैं।

कमायचा- पारंपरिक वाद्यों में यह वाद्य भी ख़ूब प्रसिद्ध है।कमायचा जैसलमेर और बाड़मेर क्षेत्र का लोकप्रिय वाद्य है।दिखने में यह सारंगी के समान होता है, परन्तु बनावट में भिन्न है, इसकी तबली सारंगी से चौड़ी व गोल होती है।तबली पर चमड़ा मढ़ा होता है, इसके तार बकरी की आंतो को सुखाकर बनाए जाते हैं तथा इस हेतु घोड़े के बालों का भी प्रयोग किया जाता है। इसमें दो मोर तथा नौ मोरनियां होती हैं, इसकी ध्वनि में भारीपन व गूँज होती है। मांगणियार कलाकार कमायचा का अधिक प्रयोग करते हैं।

जन्तर- यह वाद्य वीणा की तरह होता है, इसमें दो तुम्बे होते हैं, इनके बीच बाँस की लंबी नली होती है, जिसमें चार तार होते हैं।इसके तारों को हांथ की अंगुली व अंगूठे से आघात करके बजाया जाता है।इसका वादन खड़े होकर गले में लटकाकर किया जाता है।यह वाद्य गूजर भोपों में अधिक प्रचलित है।देव नारायण जी की फड़ का वाचन करते समय भोंपे जन्तर वाद्य बजाते हैं।

रवाज- यह सारंगी की श्रेणी का वाद्य यंत्र है, जिसे गज के स्थान पर नखे(अंगुलियों के नाखून)के प्रयोग से बजाया जाता है।तारों की संख्या इसमें 12 होती है, चार प्रमुख तार तांत के बने होते हैं तथा आठ तार तरबों के होते हैं, इसके घट का तार सन की रस्सी का बना होता है।रवाज मेवाड़ क्षेत्र में राव व भाटों में अधिक प्रचलित है।

भपंग- भपंग लम्बी आल के तुम्बे से बना वाद्य है, जिसके एक सिरे पर चमड़ा मढ़कर बनाया जाता है,चमड़े में एक छेद करके तार को एक खूंटी से बांध देते हैं।इसे काँख में दबाकर एक हांथ से तांत को खींचकर या ढीला छोड़कर उसपर दूसरे हांथ से लकड़ी के टुकड़े का प्रहार करके बजाया जाता है।इसकी आकृति डमरु से मिलती-जुलती है।भपंग मेवात क्षेत्र का प्रसिद्ध वाद्य है।

अपंग- अपंग वाद्य लकड़ी,धातु,चर्मपत्र,लौकी के खोल,बकरी की खाल,बांस आदि से बना होता है।मान्यता है कि इसे संत इस्माइल नाथ जोगी ने बनाया था।इसके वादन का तरीका भपंग के जैसा ही है।यह वाद्य भील तथा गरासिया जनजाति द्वारा मुख्य रूप से बजाया जाता है।

2. सुषिर वाद्य

अलगोजा- इस वाद्य यंत्र के राजस्थान में अनेक रुप प्रचलित हैं।इसे राजस्थान का राज्य वाद्य मानते हैं।इसमें बांसुरी के जैसी नली होती है, जिसमें चार से सात छेद किए जाते हैं, वादक एकसाथ दो अलगोजे मुँह में रखकर बजाता है।एक पर एक-सी ध्वनि बजती रहती है तथा दूसरे अलगोजे पर भिन्न-भिन्न स्वर निकाले जाते हैं।यह जैसलमेर, जोधपुर, बाड़मेर, बीकानेर, जयपुर, सवाई माधोपुर व टोंक आदि में अधिक लोकप्रिय है।इसका प्रयोग भील एवं कालबेलियां जाती अधिक करती हैं।

पूंगी- यह वाद्य घीया या एक विशेष प्रकार के तुम्बे से बना होता है, जिसका ऊपरी हिस्सा लम्बा व पतला तथा नीचे का हिस्सा गोल होता है।अलगोजे के समान इसमें भी एक नली में स्वर कायम किए जाते हैं और दूसरी नली से स्वर निकाले जाते हैं।इसमें साँप को मोहित करने की शक्ति होती है, यह कालबेलिया जाति का प्रमुख वाद्य है।

भूंगल- यह पीतल का बना सुषिर वाद्य है जो कि लगभग तीन हाँथ लम्बा होता है।इसकी आकृति बांकिया के समान होती है, इसे भेरी भी कहा जाता है।यह युद्ध क्षेत्र में भी बजाया जाता है।यह मेवाड़ की भवाई जाति का प्रमुख वाद्य यंत्र है।

मशक- यह वाद्य आधुनिक बीन(बैग पाइप)से मिलता-जुलता साज़ है। चमड़े से बनी मशक में बजाने वाला एक ओर मुँह से उसमें हवा भरता है और दूसरी ओर दोनों हाथों की अंगुलियों की सहायता से स्वर निकालता है।इसको विशेषतया भैरू जी के भोंपें बजाते हैं।

मोरचंग- यह वाद्य मोर की आकृति का होता है, इसलिए इसका नाम मोरचंग कहलाया।यह वाद्य लोहे या पीतल से बना होता है, इसके मध्य एक मजबूत पतला तार होता है।इसका एक सिरा मुँख में रखकर श्वास दी जाती है और दूसरे सिरे पर अंगुली से आघात करके स्वर उत्पन्न किया जाता है।

सुरणई- यह सुषिर वाद्यों की श्रेणी का वाद्य है। यह शहनाई से मिलता-जुलता वाद्य यंत्र है। यह एक सिरे से पतला व आगे कीप नुमा होता है। लंगा तथा ढोली जाति मांगलिक अवसरों पर यह वाद्य बजाते हैं।पेपे खां इसके प्रसिद्ध वादक हैं।

नागफणी- यह वाद्य पीतल का बना हुआ होता है, आकार में यह सर्पिलाकार नली होती है।नली के पिछले हिस्से में एक छेद होता है, जिससे स्वरोत्पत्ति होती है।

3.अवनद्ध वाद्य

ताशा- यह वाद्य एक चपटे और पतले नगाड़े के शक्ल का होता है, जिसका पेंदा तांबे का होता है।यह चपटी परात की तरह होता है और इसके ऊपर बकरे का पतला चमड़ा मढ़ा रहता है।इस वाद्य को दो पतली बाँस पट्टियों से बजाया जाता है।शेखावटी की ओर कच्छी घोड़ी नृत्य में ताशा बजाते हैं।

नौबत - नौबत वाद्ययंत्र सर्व धातु की लगभग 4 फीट गहरी अर्ध अंडाकार कुंडी को भैंस की खाल से मढ़कर एवं चमड़े की डोरियों से कसकर बनाया जाता हैं। इस लकड़ी के डंडों से मंदिरों में बजाई जाती हैं। राजा महाराजाओं के यहां अक्सर सुबह, शाम व दोपहर में यह वाद्य बजा करती थी।

ढोल - ढोल लोहे या लकड़ी के गोल घेरे पर दोनों तरफ चमड़ा बढ़कर बनाया जाता है। इस पर लगी डोरियों को कड़ियों के सहारे खींच कर इसे कसा जाता है। वादक इसे गले में लटका कर लकड़ी के डंडे से बजाता है। इसे मांगलिक

अवसर पर व तीज -त्योहार पर अधिक बजाया जाता है। भीलों के गैर नृत्य, शेखावाटी के कच्छी घोड़ी नृत्य और जालौर के ढोल नृत्य में ढोल वाद्य का प्रयोग होता है।

मांदल- मांदल वाद्य राजस्थान के अवनद्ध वाद्यों में अपना स्थान रखता है। मांदल की बनावट मृदंग के समान होती है। यह मिट्टी से निर्मित होता है जिस पर हिरण या बकरे की खाल मढ़ी होती है। मांदल का एक मुंह छोटा और दूसरा मुंह बड़ा होता है। इस पर मढी हुई खाल पर जौ का आटा चिपका कर बजाया जाता है और साथ में थाली भी बजाई जाती है। मांदल भीलो और गरासियों का प्रमुख वाद्य है। यह मोमेलां गांव में विशेषत: बनता है।

चंग/डफ - चंग वाद्य लकड़ी के गोल घेरे से बना होता है। जिसके एक तरफ बकरे की खाल मढ़ी होती है। यह दोनों हाथों से बजता है। शेखावटी क्षेत्र में होली के अवसर पर चंग वाद्य बजाया जाता है। कालबेलिया जाति के व्यक्ति चंग बजाकर लोकगीत गाते हैं।

खंजरी - खंजरी वाद्ययंत्र आम की लकड़ी की बनी होती हैं, जिसके एक तरफ चमड़ा मढ़ा होता हैं। इसका घेरा चार अंगुल चौड़ा होता है। इसे दाहिने हाथ से पकड़कर बाए हाथ से बजाया जाता है। खंजरी मुख्यत: कामड़, भील, नाथ, कालबेलिया, जाति के लोग बजाते है।

पाबू जी के माटे- पाबू जी के भक्तों द्वारा पाबू जी की फड़ बाँचते समय यह बजाया जाता है। इसे मिट्टी के दो बड़े बर्तनों के मुख पर खाल चिपका कर बनाया जाता है दोनों माटो का वादन अलग-अलग व्यक्ति द्वारा किया जाता है इस वाद्य यंत्र पर नायक या थोरी जाति के लोग राजस्थानी लोक देवता पाबूजी के फड़ बाँचते है।

डेंरु- यह लोक वाद्य भी आम की लकड़ी से निर्मित होता है। जिसके दोनों और बारीक चमड़ा मढ़ा होता है। इसको डोरियों से कसा जाता है।डेंरु को एक हाथ से पकड़ कर डोरियों को दबाव डालकर कसा और ढीला छोड़ जाता है तथा दूसरे हाथ से लकड़ी की पतली डंडी से बजाया जाता है। इसे झाड़ पीर व गोगा जी के भक्तों द्वारा अधिक बजाया जाता है। इसको ढाक भी कहते हैं। यह डमरू का बड़ा रूप है। बजने में इसकी अलग ही विशेषता है,डेंरु एक छोटी लकड़ी से बजाया जाता है। इसके साथ छोटी थाली या कांसी का कचोला (कटोरा) बजाते हैं और इस पर भारत गीत गाते हैं।

4. घन वाद्य -

मंजीरा - मंजीरा पीतल तांबे या कांसे की मिश्र धातु से बना कटोरीनुमा आकार का वाद्य है। जिसके किनारे फैले हुए होते हैं। इसके मध्य भाग में छेद कर डोरी बांधी जाती है जिसे हाथ से पकड़ कर दोनों मजीरों को आपस में घर्षित कर ध्वनि उत्पन्न की जाती है। मंजीरा निर्गुण भजन और होली के गीतों के साथ तथा तंदूरे एवं इकतारे के साथ भी बजाया जाता है। रामदेव जी के भोंपे, कामड़ जाति एवं तेरहताली नृत्य में मंज़ीरो का प्रयोग किया जाता है। मंजीरा वाद्य यंत्र हमेशा जोड़े में ही बजाया जाता है।

झांझ - यह झांझ वाद्य मजीरे का ही बड़ा रूप है। 30 सेंटीमीटर की लकड़ी पर लोहे के गोल-गोल टुकड़े लगा दिए जाते हैं। दो झांझ को एक साथ एक ही हाथ से बजाया जाता है। शेखावटी क्षेत्र में कच्छी घोड़ी नृत्य में इसका मुख्य प्रयोग किया जाता है।

खड़ताल - खड़ताल कैर व बबूल की लकड़ी के दो टुकड़ों के बीच पीतल की छोटी-छोटी गोल तस्तरीया लगाकर बनाया जाता है, जो की लकड़ी के टुकड़ों को परस्पर टकराने के साथ झंकृत होता है। खड़ताल को एकतारे

के साथ बजाया जाता है। यह बाड़मेर जैसलमेर की मांगणियार जाति का मुख्य वाद्य है।

थाली- यह कांसा की बनी हुई थाली के एक किनारे में छेद कर उसमें डोरी बांधकर अंगूठे से लटका कर लकड़ी की डंडे से बजाया जाता है। इस मांदल, डफ , ढोल और चंग के साथ बजाने से विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न होती है। चरी नृत्य के दौरान थाली का प्रयोग किया जाता है।

घंटा - यह लोग वाद्य एक उल्टे गमले जैसा वाद्य होता है, जो सामान्यत: पीतल जस्ता या तांबे से बना होता है। प्राचीन काल में सेना के हाथियों के गले में या पीठ पर यह लटकाया जाता था। घंटा सूचना वाहक का कार्य करता हैं।

चिमटा - यह वाद्य लोहे की दो पत्तियो को लगभग डेढ़-दो फीट लंबाई में मोड़कर चिमटा बनाया जाता है। गांव में रसोई घर में प्रयुक्त चिमटे से यह थोड़ा बड़ा होता है। भजन- कीर्तन के समय साधु-संतों द्वारा यह बजाया जाता है।

रमझौल - चमड़े अथवा कपड़े की पट्टी पर घुंघरू बांध कर रमझौल बनाई जाती है। नर्तकियां नृत्य के दौरान पैरों में बांधकर नृत्य करती हैं। घोड़े के पैरों में भी रमझौल बांधी जाती है।

लेजिम - लेजिम बांस व जंजीर से मिलाकर बनाया गया धनुषाकर वाद्य है। लेजिम में पीतल की छोटी-छोटी पट्टियां लगी होती हैं, जिसे हिलाने पर झनझनाहट की ध्वनि निकलती है। यह गरासिया का वाद्य माना जाता है। विद्यालयों में राष्ट्रीय पर्वों पर बालिकाएं भी लेजिम बजाती हैं।

श्रीमण्डल - श्रीमण्डल राजस्थान के लोक वाद्य में बहुत पुराना वाद्य है। खड़े झाडनुमा इस वाद्य में चांद की तरह गोल गोल छोटे-बड़े टांकोरे लटके हुए रहते हैं। दो पतली डंडी की सहायता से इसे बजाया जाता है। इसका वादन वैवाहिक अवसरों पर अथवा मंदिर में किया जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बोराणा, रमेश राजस्थान के लोक वाद्य, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन 2008
2. बोराणा, रमेश, राजस्थान की सांगीतिक परंपरा, राजस्थान संगीत नाटक अकादमी, जोधपुर सन 2003
3. कल्ला, डॉ वंदना, राजस्थानी लोक तत् वाद्य, राजस्थानी ग्रंथकर प्रकाशन, जोधपुर, प्रथम संस्करण, सन 2018
4. सामर, देवीलाल, राजस्थान का लोक संगीत, भारतीय लोक कला मंडल, उदयपुर, द्वितीय संस्करण, सन 2018
5. गोस्वामी, डॉ प्रेमचंद , राजस्थान: संस्कृति ,कला एवं साहित्य, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, आठवां संस्करण, 2013

वैदिक कालीन विवाह पद्धतियाँ एवं परम्पराएँ

डॉ महेश कुमार शुक्ला, सोनिया तिवारी

सारांश

वैदिक संस्कृति के अनुसार वैवाहिक पद्धतियों के आठ प्रकार माने गए हैं जो क्रम से हें ब्राम्ह, देव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गंधर्व, राक्षस और पैशाच। शुभ योग कें देवी पूजा, वर वरण तिलक, हरिद्रालेप, द्वार पूजा, मंगलाष्टकं, हस्तपीतकरण, मर्यादाकरण, पाणिग्रहण, ग्रंथिबन्धन, प्रतिज्ञाएं, प्रायश्चित, शिलारोहण, सप्तपदी, शपथ आश्वासन आदि परम्पराओं को पूरा किया जाता है। इस प्रकार दाम्पत्य संबंध से एक हुए गृहस्थ पारिवारिक संस्था का निर्माण करते हैं। इसके फलस्वरूप पवित्र दंपति गर्भाधान संस्कार द्वारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के उद्देश्य को चरितार्थ करते हुए उत्तम संतति को समाज एवं राष्ट्र के लिए आहूत करते हैं।

संकेत शब्दः- *पाणिग्रहण, ब्राम्ह, अर्श, गृह्नसूत्र, सूर्या, गृहस्थाश्रम, अत्रि, धुरव-सूर्य, वैवाहिक।*

विवाह शब्द की व्युतपत्ति वि उपसर्गपूर्वक वहन करना अर्थ वाली वह धातु से धञ् प्रत्यय लगाकर हुई है जिसका अर्थ है 'विशिष्ट प्रकार से वहन करना'। विवाह की संस्था के महत्व पर हमारे वेदों, गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवम् काव्य-मनुस्मृति मे आता है -

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम्।।

अर्थात्, वैदिक ग्रन्थो में विवाह को भार्या की प्राप्ति का निमित्त बताया गया है, इस से इसे 'पाणिग्रहण' कहा जाता है। पाणिग्रहण संस्कार द्वारा वर और वधू की एक आध्यात्मिक इकाई को सूत्रबद्ध किया जाता है। इस पवित्र वैवाहिक यज्ञ को अग्नि तथा देवों के साक्ष्य में पूर्ण किया जाता है। विवाहोत्सव एक मांगलिक पर्व की भांति जीवन को नई शक्ति, सामश्र्य एवं ऊर्जा से भर देता है। जीवन को मर्यादा और संस्कार से अनुशासित रखने के लिए विवाह एक बहुमूल्य पद्धति है। विवाह एक घनिष्ठ, आत्मीय और अन्तरंग साथी के लिए किया जाता है। इस लोकयात्रा का लक्ष्य लोकमंगल के लिए वंशवृद्धि में योग देना है। इस पवित्र विवाह कर पति-पत्नी आपस में प्रेम और आत्मीयता के तारों से एक-दूसरे के प्रति जन्म-जन्मांतरो के लिए घनिष्ठ सम्पर्क सूत्रों से बंध जाते हैं जो एक सुंदर योग होता है। एक अन्य श्लोक में दाम्पत्य जीवन के स्वर्णिम सूत्र को इस प्रकार प्रकाशित किया गया है कि -

दाम्पत्यमनुकूलं चेत्किं स्वर्गस्य प्रयोजनम्।
दाम्पत्यं प्रतिकूलं चेन्नरकं किं गृहमेव तत्।।

अर्थात्, मनुष्य का दांपत्यजीवन यदि अनुकूल हो तो स्वर्ग का क्या प्रयोजन है, और साथ ही यदि मनुष्य का दाम्पत्यजीवन प्रतिकूल हो जाए तो नर्क क्या है, वह घर ही नर्क बन

निर्देशक एवं शेधार्थी सह इतिहास : डॉ. सी. वी. रमन विश्वविद्यालय, करगी रोड, कोटा
निर्देशक एवं शेधार्थी शोधार्थी : करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

जाता है।

हमारे गृह्यसूत्रों, स्मृतियों, पुराणों एवं नीतिशास्त्रों में विवाह के प्रकार एवं उनके लक्षणों का परिचय प्राप्त होता है। प्राचीनकालीन भारत में आठ प्रकार के विवाह मान्य थे- ब्राम्ह, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच -

ब्राह्यो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।

ब्रम्ह विवाह में नवयुवक छात्र विद्या प्राप्त करेन के बाद विवाह करने हेतु योग्यता धारण करता है। आठ प्रकार के विवाहों में ब्रम्ह विवाह को सर्वोच्च स्थान मिला है। प्राचीन काल में गुरूकुल प्रणाली प्रचलित थी जिसमें नवयुवक ज्ञान तथा विशेषज्ञता पाने के लिए अपने गुरू के साथ रहने जाता था। नवयुवक के सभी आवश्यक विशेषज्ञताएँ प्राप्त करने के बाद वह विवाह के योग्य हो जाता है। उसके माता-पिता उचित घर और योग्य वधु के चयन के लिए प्रयास करते हैं। कन्या के माता पिता भी सुयोग्य वर देखते हैं जिसमें उसका चरित्र, कौशल, आचरण संबंधित विचार किया जाता है, इसमें वर का परिवार तथा कुटुम्ब भी देखा, परखा जाता है।

वर्तमान के विपरीत लड़की के परिवार को लड़के के परिवार को कोई दहेज नहीं देना पड़ता था। कन्यादान की रस्म होती थी जो इस बात का प्रतीक थी कि पिता अपनी बेटी लड़के को सौंपता है। आठ प्रकारों में से धर्मशास्त्रों में इसे सर्वोत्तम प्रकृति का विवाह माना गया है। कन्यादान की यह प्रथा आज भी हमारे देश में विवाह के रस्मों की एक मुख्य परम्परा है।

ब्रह्म विवाह के निचले पायदान पर दैव विवाह को रखा गया है जिसका अर्थ है कि यज्ञ के दौरान लड़की का विवाह पुजारी से कराया जाता है। अपनी बेटी के लिए उपयुक्त लड़के की उचित अवधि तक प्रतीक्षा करने के बाद और जब उन्हें कोई नही मिलता है, तब लड़की के माता-पिता उस स्थान दूल्हे की तलाश में जाते है जहां एक बलिदान आयोजित किया जा रहा होता है।

विवाह का एक रूप अर्श विवाह भी रहा था। संस्कृत में अर्श का अर्थ ऋषि हेाता है और इसलिए अर्थ विवाह ऋषियों के साथ विवाह का सुझाव देता है। इस प्रकार के विवाह में दुल्हन को दूल्हे से मिले दो गायों के बदले में दिया जाता है। इस प्रकार की शादियाँ इसलिए होती थीं क्योंकि दुल्हन के माता-पिता ब्रम्ह संस्कार के अनुसार सही समय पर अपनी बेटी की शादी का खर्च वहन नहीं कर पाते थे, इसलिए लड़की की शादी एक बूढ़े साधु से कर दी जाती है। हालाँकि, इस तरह की शादी को अच्छा नही माना गया हैं क्योंकि इसमें लेन-देन जैसा व्यवसाय किया जाता है। इस विवाह में दूल्हे के पिता कुछ भी नहीं लेते और विवाह पवित्र यज्ञ के साथ संपन्न किया जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रजापत्य विवाह एक प्रकार का हिंदू विवाह है। इस प्रकार का विवाह ब्रम्ह विवाह के समान है, जो प्रजापत्य विवाह का उत्पत्ति हो सकता है। यह एक भांति ब्रम्ह विवाह के समकक्ष है, सिवाय इसके कि दुल्हन का पिता उसके दूल्हे को नहीं, बल्कि दूल्ह के पिता को उपहार के रूप में देता है।

प्रजापत्य विवाह में, पुरूष और महिला संयुक्त रूप से पवित्र कत्र्तव्यों का पालन करते हैं। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती के अनुसार, पिता अपनी बेटी को दूल्हे को मंत्रों के साथ संबोधित करते हुए देता है कि, ''आप दोनों एक संग अपनी धर्म निभाएं।''

इस प्रकार के विवाह में पवित्र यज्ञ में, विद्वान व्यक्ति और माता-पिता विवाह करते

हैं और लड़के और लड़की दोनों को अपने पारिवारिक जीवन को धार्मिक रूप से जारी रखने की सलाह देते हैं। इस विवाह में सभी विवाहित विद्वान नवविवाहित जोड़े को आशीर्वाद देते हैं।

विवाह का एक लोकप्रिय रूप गंधर्व विवाह भी रहा है जो वर्तमान में भी है। इसे दिव्यों का विवाह अथवा प्रेम विवाह के नामों से भी जाना जाता है। इस विवाह में मालाओ का साधारण आदान-प्रदान सम्मिलित है। इस प्रकार के विवाह का उल्लेख हिन्दू पौराणिक कथाओं और महाकाव्यों में पाया जाता है। संभावित रूप से कभी किन्ही कारणों से जोड़ों को परिवार का आशीर्वाद नहीं मिल पाता है, वे इस वैवाहिक प्रथा में शरण लेते हैं।

गंधर्व विवाह का इतिहास गृह्यसूत्र के अनुसार यूँ है कि इसमें लड़की अपने पति का चयन स्वंय करती है और वैदिक अभिलेखों के अनुरूप यह ऋग्वैदिक काल का विवाह का सबसे प्रारंभिक और सामान्य रूप है। ऋग्वैदिक मान्यता के अनुसार इस प्रकार के विवाह से पूर्ण वर-वधू अपने ग्राम्य जीवन अथवा किन्हीं अवसरों जैसे मेलों, त्योहारों आदि पर एक-दूसरे से मिले थे। इस दौरान दोनों ने एक-दूसरे को पसंद किया, जाना-पहचाना और इस परिचय के पश्चात् उन्होनें अपनी स्वतंत्र पसंद को प्राथमिकता दी। यह आपसी आकर्षण के फलस्वरूप भी हो सकता है। इस प्रकार के विवाह को सामान्यत: बड़ो, रिश्तेदारों, स्वजनों से अनुमति प्राप्त होने के बाद स्वीकृति मिल जाती है।

विवाह के अन्य रूपों में असुर विवाह में दूल्हे को दुल्हन के पिता या रिश्तेदारों को धन देना पड़ता है। दूल्हा समाज में दुल्हन के परिवार की स्थिति के अनुसार कीमत निर्धारित करता है। विवाह के इस रूप का मुख्य विचार धन है। विवाह के इस रूप में दुल्हन खरीदी जाती है।

असुर विवाह में वर, वधू के लिए बिल्कुल भी उपयुक्त नहीं होता है। वह स्वेच्छा से दुल्हन के माता-पिता व संबंधियों को उतनी संपत्ति देता है जितनी उसमें देने का सामथ्र्य होता है। दूल्हे की योग्यता के स्थान पर उसकी धन-संपदा-संपत्ति को आंका जाता है और मूल्य निर्धारित किया जाता है। यह वैवाहिक प्रणाली किसी उत्पाद की खरीदारी की तरह है जो एक प्रकार से अवांछनीय है। कभी-कभी ऐसी स्थिति में दूल्हा दुल्हन की तुलना में निम्न सामाजिक पद या जाति का होता है।

असुर विवाह की तरह ही राक्षस विवाह भी ऐसी ही प्रकृति का विवाह है जिसके अंतर्गत कन्या का मर्ज़ी नही देखी जाती है। इसके विपरीत कन्या को बहला-फुसलाकर या झूठ बोलकर उससे विवाह किया जाता है। यह कन्या पर थोपा गया लगता है जिसमें रोती-बिलखती कन्या को अपहृत कर लिया जाता है जो असामाजिक भी प्रतीक होता है। राक्षस विवाह का उल्लेख इतिहास में महाभारत कथा में मिलता है जिसके अनुसार भीष्म ने अपनी माता सत्यवति को हस्तिनापुर के सिंहासन पर कभी नही बैठने और सिंहासन के प्रति वफादारी निभाने का वचन दिया था। भीष्म सत्यवती और शांतनु के सौतेले बेटे थे। सत्यवती और शांतनु के दो पुत्र थे जिनके नाम थे चित्रांगद और विचित्रवीर्य। शांतनु के स्वर्गवास होने के समय दोनों राजकुमारी की आयु बहुत कम थी, अत: भीष्म द्वारा राज्य का भार संभाला गया। राजकुमार चित्रांगद ने भी राज्य का संचालन कुछ समय तक संभाला था, लेकिन अन्य राजाओं के द्वारा उसको मृत्यु प्राप्त हुई। राजकुमार विचित्रवीर्य को नशे की बुरी लत लगी हुई थी और वह राजकाज को संभालने के योग्य भी नही था। यह जिम्मेदारी भीष्म को मिली जो एक ब्रह्मचारी थे। इसी समय काशी

के राजा ने अपनी तीन कन्याओं की शादी के निमित्त स्वयंवर आयोजित किया था, लेकिन किसी कारण से हस्तिनापुर राज्य में स्वयंवर का आमंत्रण नही भेजा गया था।

भीष्म को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्हें यह आत्सम्मान तथा राजसम्मान की गरिमा पर अपमान की तरह लगा, जिसके प्रतिउत्तर में भीष्म ने राजकुमारियों का बहला फुसलाकर, झूठ बुलवाकर अपहरण करवा लिया और उन्हें विचित्रवीर्य से विवाह करने के लिए कहा, परन्तु उन्होनें विचित्रवीर्य से विवाह के लिये मना करते हुए भीष्म से विवाह की इच्छा जतलाई, परन्तु भीष्म ने आजीवन विवाह न करने की प्रतिज्ञा की थी, इसलिये मना कर दिया। अम्बा नामक राजकुमारी ने भगवान शिव की घोर तपस्या का वरदान लिया, जिसके कारण अगले जन्म में वह भीष्म की मृत्यु का कारण बनी। राक्षस विवाह का एक प्रसंग रामायण में आता है जिसमें राक्षसराज रावण के द्वारा राम की धर्मपत्नी सीता को साधु के भेष मे छलपूर्वक उनकी कुटिया से उठाकर, अपहरण कर अपनी राजधानी लंका ले जाया जाता है और सीता के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है, जिसे सीता के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है और तब राक्षसराज रावण के द्वारा सीता को अशोक वाटिका में नज़रबन्द कर के रखा जाता है।

राक्षस विवाह का एक प्रसंग रामायण में आता है जिसमें राक्षसराज रावण के द्वारा राम की धर्मपत्नी सीता को साधु के भेष में छलपूर्वक उनकी कुटिया से उठाकर, अपहरण कर अपनी राजधानी लंका ले जाया जाता है और सीता के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा जाता है, जिसे सीता के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है और तब राक्षसराज रावण के द्वारा सीता को अशोक वाटिका में नज़रबंद कर के रखा जाता है।

अंतिम और सबसे भ्रष्ट विवाह पद्धति पिशाच या पैशाचिक विवाह की पद्धति रही। मनुस्मृति में आता है कि- 'सोई हुई, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरापान की हुई, राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक दुष्कर्म करने के बाद उससे विवाह करना पिशाच विवाह है।'

इस प्रकार से हुए विवाह को सबसे निम्न पायदान पर रखा जाता है। इस पद्धति के अंतर्गत लड़की का कौमार्य भंग हो जाने और सामाजिक रूप से बहिष्कृत कर दिये जाने, साथ ही सामाजिक सम्मान की अधिकारिणी बनाने के निहितार्थ कन्या का विवाह किया जाना जैसे कारण सम्मिलित है।

स्वामी दयानन्द विरचित 'सत्यार्थ प्रकाश' में पिशाच विवाह को भ्रष्टतम प्रकृति के विवाह की संज्ञा मे रखा गया है। इसके अंतर्गत चतुर्थ समुल्लास में गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए वेदों मे निर्धारित नियमों, विधि-विधानों, पद्धतियाँ, परम्पराओं, योग्यताओं का सुंदर वर्णन किया गया है। इसमें एक सुंदर श्लोक में आता है कि-

सन्तुष्टो भार्यया भत्ता भत्र भाऱ्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।।
मनु.।।

जिस कुल में स्त्री से पुरूष और पुरूष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है उसी कुल में आनन्द, लक्ष्मी और कीर्ति निवास करती है और जहाँ विरोध, कलह होता है वहाँ दु:ख, दैन्य, दारिद्रय एवं निदा निवास करती है। अत: जैसी स्वंयवर की रीति आऱ्यावत्र में परम्परा से चली आती है वही विवाह उत्तम है। जब स्त्री-पुरूष विवाह करना चाहे तब विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल, कुल, शरीर आदि का परिमाणादि यथायोग्य होना चाहिये। जब तक इन का मेल नही होता तब तक विवाह में कुछ भी सुख नहीं होता है और

न बाल्यावस्था में विवाह करने से सुख हेाता है।

आधुनिक काल में वैवाहिक स्वरूपों में विविधताओं के अंबार लगे हुए हैं। देश, काल, परिस्थितियों के अनुसार वैवाहिक पद्धतियों एवं परम्पराओं में संकुचलन, विघटन, विस्तार जैसे विभिन्न संभावित बदलाव घटित हुए हैं, फिर भी आज भी वैवाहिक संबंधों वैदिक विधि-विधान एवं महत्व की लोकप्रियता को स्वीकार किया जाता है। हिंदू धर्म के अनुसार ब्रम्हर्षि मनु द्वारा साधुओं और ऋषि-महर्षियों को बताई गई नीतियों के आधार पर ही 'मनुस्मृति' को रचा गया है। ऐसा माना जाता है कि मनु का एक-एक शब्द स्वंय ब्रम्ह के ही वचन हैं।

वैदिक कालीन विवाह परम्परा की सूत्रधार दो महिलाएं रहीं जिन्होने विवाह संस्कार को विधिवत् स्वरूप प्रदान किया था। इनके अंतर्गत वेदों में रोमाला, घोषाल, सूर्या, अपाला, विलोमी, सावित्री, यमी, श्रद्धा, कामायनी, विश्वम्भरा, देवयानी आदि विदुषियों के नाम वेद विशेषज्ञ विदुषियों के रूप में आते हैं। इसी ऋषि परंपरा में सूर्या सावित्री ने 47 मंत्रो के विवाह सूक्त की रचना की जो एक कीर्तिमान है। यह विवाह सूक्त ऋग्वेद में (10.85) में संकलित हैं और लगभग 5100 वर्षों से लेकर वर्तमान काल तक हिन्दू विवाह पद्धति के अंग हैं। उनके द्वारा रचित मंत्रो को प्रयोग कर उन्होनें खुद का विवाह किया और आज भी विवाह के समय पर उन्हीं मंत्रों से विवाह का विधि पूर्ण की जाती है। उदाहरणार्थ, पाणिग्रहण के समय पिता वर के हाथ में कन्या का हाथ देता है तो वर कन्या का वरण करते समय उसे वचन देता है कि-

गृहणामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया
पत्या जरतऽ अष्टिः यथा असः।
भगः अर्यमा सविता पुरऽधिः मध्य त्वा
टदुः गार्हऽपत्याय देवा।।

पति कहता है, 'तुम्हारे सौभाग्य के लिए तुम्हारा हाथ मैं अपने हाथ में लेता हूं। मै तुम्हारा पति हूँ, मेरे साथ ही तुम वृद्ध हो। भाग्यपति अर्यमा, सविता, पुरंधि आदि सारी दिव्य विभूतियों ने तुम्हें मेरे हाथों में सौंपा है जिससे गृहस्थ धर्म का हम पालन कर सकें।

इसी क्रम में पाणिग्रहण एंव विवाह विधि के संपन्न होने के अवसर पर पिता अपनी कन्या से वचन लेते हुए कहते हैं कि -

प्र इतः मुंचामि न अमुतः सुबद्धा अमुतः करम्।
यथ-इथ इन्द्र मीढ़वः सुऽपुत्रा सुऽभगा असति।।

अर्थात इस स्थान से यानि पिता के घर से मैं तुम्हे मुक्त कर रहा हूँ, किन्तु उस अन्य स्थान से तुम्हें कोई छुट्टी नही है। मैं तुम्हे पतिगृह से पूर्णतः आबद्ध कर रहा हूँ। हे इन्द्र, हे परमेश्वर, हे मनोरथ पूर्ण करने वाले, इस वधु को सौभाग्यवती एवं पुत्रवती बनाना।

इस प्रकार इन वेदगामी ऋषिकाओं ने अमूल्य संस्कारों की पीठिका पर सामाजिक एवं पारिवारिक परम्पराओं की वैश्विक नींव रखी उसकी प्रेरणा उनमें निहित 'वसुधैव कुटुंबकम' की भावना और मानव तथा प्राणीमात्र के कल्याण व मंगल की भावनात्मक आस्था रही। विवाह संस्था एवं गृहस्थ आश्रम के प्रति समर्पित 47 मंत्रो से रचित वैदिक विवाह सूक्त यशस्विनी सूर्या सावित्री की सामाजिक व पारिवारिक धुरी के प्रति विलक्षण स्वीकृति है। इस स्वीकृति से जुड़ा नवदंपति जोड़ा वृद्धजनों का आशीर्वाद लेते हैं, इसके लिये सूत्र है कि -

सुमंगलीरियं वधूः इमां समेत पश्यत
सौभाग्यं अस्मेदत्वाय अथ अस्तं वि परा इतन

अर्थात् यह नववधु मांगलिक भाग्यवाली है। सो इसके दर्शन कर इसे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देकर जावें।

इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तलम (कालिदास कृत) में आता है कि सम्राट दुष्यंत के कोई पुत्र नही होने से वह अभिश्रापित थे जिससे उन्हें देवी शकुन्तला संग गंधर्व विवाह कर भरत नामक उत्तम पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई। मार्कण्डेय पुराण में आता है कि रूचि वीतरागी स्वभाव का होने से विवाह को दु:ख और पाप का साधन मानता था, लेकिन अपने पितरों के उद्धार के लिये वृद्ध होने की आयु में मालिनी नाम की युवती से विवाह करता है। इसी भांति पृथुश्रवा जो वैरागी होकर तपस्वियों का जीवन व्यतीत करता था ने भी पितृ ऋण से मुक्त होने के ध्येय से विवाह किया और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर अपने सद्प्रयोजन को पूर्ण किया।

इसी क्रम में महाभारत में सद्गृहस्थ होने के महत्व पर एक कथा प्रकाशित होती है जिसके अनुसार कुणिगर्ग ऋषि की मानसी पुत्री ने अपने यौवनकाल को कठोर तपस्विनी जीवन को समर्पित किया। अपने योग्य तपस्वी पुरूष नही मिलने पर उन्होनें विवाह नही किया, किन्तु परलोक सिद्धि की कामना होने पर यह पक्ष उद्घाटित हुआ कि अविवाहितों के लिए यह वर्जित, निषिद्ध है, इस समस्या के निदान व उपचार के लिए उन्होनें गालव के पुत्र श्रड्ग्वान को अपने आधे तप का अंश दान किया जिससे उन्हें स्वर्गिक गति की प्राप्ति हुई।

एक अन्य उद्धरण के अनुसार हर्षचरित में बाण लिखते हैं कि, जब हर्ष ने उस पर दुश्चरित्र होने का आरोप लगाया तो ऐसी स्थिति में उसने अपना पक्ष विवाहित एवम् सद्गृहस्थ बताते हुए रखा और अपनी पुष्टि की। विवाह वैवाहिक जीवन पद्धति एवम् परम्परा चरित्र रक्षण और आचारशीलता का एक कवच बनकर कार्य करता है, इससे यह एक प्रगति सूत्र भी है।

यह सद्गति वैयक्तिकता से सामाजिकता की दिशा में ले जाते हुए मनुष्य के समस्त लक्ष्यों की पूर्णता हेतु समस्त साधन खड़े करती है। विवाह के द्वार से प्रविष्ट होकर गृह-यज्ञ के अगले चरण की ओर बढ़ा जाता है।

प्रसिद्ध उक्ति है कि, ''गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्मात् ज्येष्ठाश्रमो गृही।''

अर्थात् जिस प्रकार वायु का आश्रय पाकर सभी प्राणी जीवित है, उसी प्रकार अन्य सभी आश्रम गृहस्थाश्रम का आश्रय लिये रहते हैं। इसीलिये सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को सबसे ज्येष्ठ आश्रम माना गया है। इसका कारण है कि बाकी तीनों आश्रमवासी यथा-ब्रम्हचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी सभी जनें गृहस्थों के ही माध्यम से उपकृत होकर अपनी प्रभावना में स्थित होते हैं।

आदिकाल से चली आ रही हमारी संस्कृति, सभ्यता, परंपरागत मूल्य हैं जो हमारी अनमोल थाती है। विवाह मात्र एक संयोग, आवश्यकता, परिपाटी होने की सीमा से भी आगे की विस्तृत एवं व्यापक व्यवस्था है जिससे जुड़े वैदिक इतिहास पर अभी अनुसंधान शेष है। विवाह वह संस्था है जिसके आधार पर अन्य समस्त सत्ताएँ अपने अस्तित्व को कायम रखे हैं। विवाह जब धर्मसंगत होता है तो वह पशु को मानव और मानव को ईश्वर बनाने की शक्ति रखता है क्योंकि वह स्वंय में एक आचार संहिता, एक संविधान बन जाता है और ऐसी न्याय व्यवस्था को जन्म देता है जो प्राकृतिक ममता व समता की रीति-नीति पर आधारित होती है।

वैदिक कालीन पद्धति एवं परम्परा में विवाह एक व्रत, तप और संकल्प होता है जिसमें एकनिष्ठा होती है। इसमें मनुष्य जीवन की पूर्णता पाणिग्रहण संस्कार के बाद से प्रारम्भ मानी जाती है। इसके अनुसार नैतिक जीवन के सुप्त पड़े भीरत के संस्कारों का विकास गृहस्थ जीवन में

होता है। गृहस्थी को वेदों में सर्वांग पूर्णता का विद्यालय कहा गया है और विवाह को उसका प्रवेश द्वार। इसीलिये वेद पाणिगृहीत पुरूष से कहलवाते हैं कि -

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगोअर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।

- ऋग्वेद 10/85/36

अर्थात्, .''हे प्रियतमे! जीवन के इस पुण्य पर्व पर मैं देवताओं की सुखद साक्षी में तुम्हारा हाथ अपने हाथ में लेता हूँ। हे सुहागिनि! तुम चिरकाल तक मेरी साथी- सौभाग्यशालिनी बनकर रहो। मैं अपनी गृहस्थी का संचालन तुम्हारे हाथ में देता हूँ, सुखपूर्वक इसका निर्वाह करो।''

विवाह का उद्देश्य आपस में प्रीतियुक्त रहते हुए राष्ट्र को सुसंतति प्रदान करना है। ऐसी परम्परा को जीवित रखने के लिए ही 'पाणिग्रहण' को संस्कार का रूप दिया जाता है।

धर्मपत्नी को सहधर्मिणी, सहयोगी, साथी, सहचर की तरह प्रेरक वेदोक्त धर्म स्वीकार करता है जो दांपत्य आनंद, ऐश्वर्य, माधुर्य तथा प्रेम का सूत्रधार है। यही वैयक्तिक गठबंधन परिपक्व व परिपुष्ट होकर पारिवारिक एवम् सामाजिक गठबंधन के रूप में परिणीत होता है।

विवाह एक दिव्य संकल्प है, जो राष्ट्र के भावी बल, सत्ता एवं सम्मान को जीवंत रखने के लिए लिया जाता है। वेदों की सफल वैवाहिक परंपरा में इंद्रियजनित लालसाओं और भोग-भाव को मर्यादित कर भाव, प्रवृत्ति, प्रकृति में शुद्धि, संयम, त्याग की दिशा में प्रगति की जाती है। इस पवित्र, मांगलिक विवाहोत्सव में संतति की उत्पत्ति से मात्र प्रजनन नही अपितु वंश रक्षण, धारण, पोषण के महत्वपूर्ण ध्येयों की उपलब्धि होती है।

विवाह के विभिन्न गुणधर्म व प्रकृतियों के उपस्थिति में भी प्रेम ही इसका मूलाधार, प्राण व चेतना है। यह एक सुखद संगम है जिससे परिपूर्णता का जन्म होता है।

विवाह के ध्रुव-सूर्य ध्यान के अनुसार इस का संपूर्ण सार आता है कि, ध्रुव स्थिर तारा है। अन्य सब तारागण गतिशील रहते हैं, पर ध्रुव अपने निश्चित स्थान पर ही स्थिर रहता है। अन्य तोर उसकी परिक्रमा करते हैं। ध्रुव दर्शन का अर्थ है - दोनों अपने-अपने परम पवित्र कत्र्तव्यों पर उसी भांति दृढ़ रहेंगे, जैसे कि ध्रुव तारा स्थिर है। ध्रुव स्थिर चित्त रहने की और अपने कत्र्तव्य पर दृढ़ रहने की प्रेरणा देता है। इसी प्रकार सूर्य की अपनी प्रखरता, तेजस्विता, महत्ता सदा स्थिर रहती है। वह अपने निर्धारित पथ पर ही चलता है, यही हमें करना चाहिए। यही व्रत चिरकाल तक वैवाहिक जोड़ा करता है।

संदर्भः-

- महाभारत 122/7
- ऋग्वेद, 1/66/3
- अथर्ववेद 1/14/3
- तैत्तिरीय सं. 6/1/8/5
- तैत्तिरीय ब्रा, 3/9/4/7
- शतपथ ब्रा. 5/9/4/7
- ऋग्वेद 6/61/1
- तैत्तिरीय सं. 6/3/10/5
- आ.ध.सू 2/6/13/16-17 पाणिग्रहणादि सहत्वं कर्मसु
- महा. 13/24/4
- महा. 1/74/41
- वेस्टर मार्क, द हिस्ट्री ह्यूमन मैरेज, 1, पृ0 26
- बृहदारण्यक उप., 6/4/3
- मार्कण्डेय पुराण, 21/68-73

- ब्रह्मपुराण, 104/7-14
- स्वामी दयानन्द सरस्वती 'सत्यार्थ प्रकाश', (चतुर्थ समुल्लास)
- महाभारत आदि पर्व अध्याय 220 श्लोक 1-15
- महाभारत आदि पर्व अध्याय 220 श्लोक 16-35
- महाभारत आदि पर्व अध्याय 14 श्लोक 1-7 (हिन्दी) कृष्णकोश।
- श्रीनिवासन ए.वी., 'द वैदिक विवाह पुस्तक', 20 अगस्त 2019, पेंग्विन ईबरी पें्रस, पेपरबैक, आई एस बी एन- 10 (0143445913) आई एस बी एन- 13 (978-0143445913)
- अनुभवानंदजी स्वामी एवम् श्रीनिवासन ए.वी., 'हिन्दू वेडिंग: द गाइड', (6 नवंबर 2010), पेपरबैक, व्हाइट रिवर प्रेस, प्रथम संस्करण, आई एस बी एन-10 (1935052381) आई एस बी एन- 13 (978-1935052388)
- मिश्र श्रीनारायण (शुभाशंसा लेखक), केशव कुमार कश्यप् (सम्पादक), कृष्णदास संस्कृत श्रृंखला 202, 'मनुस्मृति:', (1 जनवरी 2007), प्र.स. चैखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

अजराडा घराने के उस्ताद हबीबुद्दीन खाँ साहब द्वारा बजायी गई विस्तारशील रचनाओं में निहित सौंदर्य

नंदकिशोर प्रभाकर दाते, प्रो. अजय अष्टपुत्रे

शोध सार :

प्रस्तुत शोध पत्र में अजराडा घराने के उस्ताद हबीबुद्दीन खाँ साहब द्वारा बजाती गई विस्तारशील रचनाओं मे निहित सौंदर्य के बारे मे लिखते समय अजराडा घराने का स्थान तबले के छह घरांनो मे द्वितीय स्थान पर रहा है। तबले का सर्वप्रथम घराना दिल्ली घराना माना जाता है तथा अजराडा घराना दिल्ली के पुत्र के रूप मे माना जाता है। इसी घराने के उस्ताद हबीबुद्दिन खाँ साहब जिनका नाम आज इस घराने के लिए अमर है। इनके पूर्व के कलाकारो ने इस घराने में तबला वादन की प्रस्तुती की है, लेकिन आज केवल परिशिष्ट के रूप में उनका नाम लिया जाता है। अपितु खाँ साहब का नाम आज भी अजराडा घराने की बात आती है तो लिया जाता है, या अपने बिरादियों में केवल उन्हें ही खलिफा का मान सन्मान क्यों प्राप्त हुआ। निश्चित रूप से इन्होने जो अपने वादन में लोगो के सामने तबले की विस्तारशील रचनाओं में अजराडा घराने की विशेषताओं द्वारा सौंदर्य पूर्ण प्रस्तुतीकरण किया।

शोध पत्र :

तबला यह 300 साल पूर्व माना जाता है। तबला की उत्पत्ति के बारे में अमीर खुसरो का नाम लिया जाता है परंतु इस बात की पुष्टि अभी तक नहीं हुई है। अत: इतिहास मौन है। परंतु यह पता चलता है कि तबला की उत्पत्ति के साथ ही उसकी वादन पद्धति के बारे में सोचा गया और दो बाज निर्माण हुए। जिसमें 1) बंद बाज (पश्चिम बाज), 2) खुला बाज (पूरब बाज) सर्वप्रथम बंद बाज के अंतर्गत दिल्ली घराने की शुरुआत हुई, जो बंद बाज की विशेषताओं के आधार से की गई। दिल्ली घराने की विशेषताओं का अभ्यास करते हैं तो पता चलता है कि यह दो उंगलियों का बाज है। बंद बोलो का चलन है। इसे किनार का बाज भी कहते हैं। यहां विस्तारशील रचनाओं का चलन ज्यादा देखने को मिलता है। इस बंद बाज के अंतर्गत दिल्ली घराने के पश्चात अजराड़ा घराने की उत्पत्ति हुई, जिसमें तीसरी उंगली अनामिका का प्रयोग, बायें का काम, आडी लय का समावेश, पेशकार और पेशकार कायदा तथा लम्बछड कायदों का चलन देखने को मिला अर्थात बंद बाज के अंतर्गत दिल्ली और अजराड़ा इन दो घरानों की विशेषताएं खास तौर से देखने को मिलती है।

तत्पश्चात पूरब बाज अर्थात खुला बाज की उत्पत्ति हुई, जिसमें फर्रुखाबाद, लखनऊ और बनारस इन घरानों का समावेश होता है। अब

शोधार्थी : "शिवकपा," मुजुमदार वाडा, तबला, खारीवाव रोड, रावपुरा, वडोदरा–390001
मार्गदर्शक : डिपार्टमेंट ऑफ, फॅकल्टी ऑफ परफॉर्मिंग आर्ट्स, द महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, वडोदरा

अगर देखा जाए तो लखनऊ घराने में ज्यादातर चाला, चलन, गत एवं यहां कथक नृत्य का चलन ज्यादा होने के कारण उन बोलों का समावेश देखने को मिलता है। फर्रुखाबाद घराने में ज्यादातर गत, रेला, रव, पेशकार इन बोलो का चलन होता है। उसी तरह बनारस घराने के अंतर्गत लग्गी, लड़ी, परन, फर्द गत, आदि के चलन के साथ-साथ उठान का भी प्रयोग होता है।

इस तरह बंद बाज और खुला बाज के द्वारा पांच घरानों की शुरुआत हुई और साथ ही में अलग विशेषताओं के साथ पंजाब घराने की भी शुरुआत हुई। इस तरह घराने प्रचार में आए। पर इन घरानों की परंपरा अगर देखे तो हम यहां सिर्फ बंद बाज की परंपरा के बारे में विचार करेंगे। जिसमें सर्वप्रथम घराना दिल्ली घराना माना जाता है। इस घराने के प्रवर्तक उस्ताद सिद्धार्थ खॉं ढाढ़ी हुए। इन्हीं की परंपरा में उस्ताद सिताब खॉं हुए। जिनके पास मेरठ जिले के अजराड़ा गांव से दो तबला वादक दिल्ली आकर बसे। जो थे उस्ताद कल्लू खॉं एवं मीरु खॉं। ये दोनों तबला की दिल्ली घराने की तालीम लेकर पुन: अपने गांव अजराड़ा में आकर बसे। यहां रहकर अपने रियाज और मौलिक विचारों के साथ अलग-अलग नई विशेषताएं निर्माण की। जिस कारण एक नए घराने की शुरुआत हुई और वह घराना है अजराड़ा घराना। इनकी वंश परंपरा में "मोहम्मदी बख्श, चांद खॉं, काले खॉं, कुतुब खॉं, तुल्लन खॉं एवं घीसा खॉं हुए।" 1) "कुतुब खॉं के पुत्र, हसू खॉं के पुत्र वंशज एवं शिष्यों के बंबू खॉं, शम्मू खॉं तथा नन्हे खॉं हुए इसी परंपरा में अजीजुद्दीन खॉं नियाजु खॉं तथा विशाखा की परंपरा में जिम्मू खॉं तथा उनके शिष्य साफिया खॉं निजामुद्दीन खॉं जमीर अहमद आदि के नाम उल्लेखनीय है।" 2) "लगभग सन 1945 इ. में उस्ताद शम्मू खॉं के पुत्र उस्ताद हबीबुद्दीन खॉं संगीत जगत में चमके और इनका वादन लगभग केवल दो दशकों तक ही रह सका। हबीबुद्दीन खॉं ने उस्ताद मुनीर खॉं से भी शिष्य बन कर शिक्षा प्राप्त की थी। खॉं साहब के हाथ में वह जादू था कि जहां वे बजाते थे बेजोड़ बजाते थे। वह सोलो की अपेक्षा संगत करने में अधिक पटु थे।" 3)

जैसे कि हमने देखा की, दिल्ली, अजराड़ा और फर्रुखाबाद घराने के तबला वादक अपने एकल तबला वादन की शुरुआत पेशकार से करते हैं, तत्पश्चात कायदा और फिर रेला। यह सभी विस्तारशील रचनाएं हैं। जैसे कि ऊपर हमने डॉ आबान ए मिस्त्री जी के शोध प्रबंध, 'पखावज और तबला के घराने एवं परंपरायें' में देखा कि उस्ताद हबीबुद्दिन खॉं साहब अजराड़ा घराने की परंपरा में से थे। जैसे उन्होंने मुनीर खॉं साहब के पास तालीम ली थी, उसी तरह शंम्मू खॉं साहब ने उस्ताद नत्थू खॉं साहब को दिल्ली घराने की तालीम देने के लिए घर पर बुलाने की शुरुआत की। वह उस्ताद नत्थू खॉं साहब के गंडाबंथ शागिर्द थे। अब यहां उस्ताद हबीबुद्दिन खॉं साहब के वादन में विस्तारशील रचनाओं में निहित सौंदर्य के बारे में जानकारी प्राप्त करते समय यह पता चलता है कि खॉं साहब ने विस्तारशील रचनाओं को प्रस्तुत करते समय उन रचनाओं की विशेषताओं को ध्यान में रखकर उसका संपूर्ण अभ्यास करके प्रस्तुत किया है। परंतु उनके वादन में वही रचनाओं के सौंदर्य की अनुभूति अलग ही देखने मिलती है। यहां सर्वप्रथम पेशकार की विशेषता और खॉं साहब के वादन में उसकी सौंदर्यात्मकता इस पर प्रकाश डालेंगे।

● **पेशकार :** यह संकल्पना तबला के दिल्ली एवं अजराड़ा घराने के एकल तबला वादन में खास तौर से बजाई जाती है। उसी

तरह फर्रुखाबाद घराने में भी यह रचना देखने मिलती है। इस रचना की विशेषताएं यह है की यह एकल तबला वादन की शुरुआत में बजाई जाती है। इसमें बायें का विशेष काम किया जाता है। जिसमें अजराड़ा घराने के तबला वादक जब बायें का काम करते हैं तब इसमें खास तौर से मिंड लगाकर बाये के घुमारे से और घिसी से उन बोलों का विस्तार किया करते हैं। इसकी लय डगमगाती हुई देखने मिलती है। तबला के जितने भी बोल है, वर्ण है, उन सभी बोलो का इसमें खूब अच्छी तरह से उपयोग किया जाता है। इसके विस्तार के बारे में अगर विचार करें तो इसमें किसी भी प्रकार का बंधन नहीं है। अर्थात कायदा के विस्तार में जिस तरह खाली-भरी और बोल इनका बंधन रहता है, उस तरह से पेशकार में नहीं किया जाता। इसमें सिर्फ बोलो की जोड़ ठीक से हो रही है कि नहीं इस पर ध्यान दिया जाता है। पेशकार में अलग-अलग लयकारीयों का भी विचार किया जाता है। जिससे एक चमत्कृती से पेशकार को सजाया जाता है। मैं यहां खास बात कहना चाहूंगा, मेरे गुरु प्रो सुधीर कुमार सक्सेना जी जिन्होंने आडी के पेशकार की संकल्पना को प्रचार में लाया जो उनका खुद का विचार है।

" 'पेशकार' वादन प्रकार स्वतंत्र तबला वादन में आलापी की भूमिका अदा करता है किंबहुना स्वतंत्र तबला वादन में गायन की अलापी के लिए समांतर रचना पैदा करके उसका विस्तार करने के प्रयत्न के परिणाम स्वरुप ही 'पेशकार' वादन की निर्मित हुई।" 4)

उपरोक्त विशेषताओं को लेकर जब उस्ताद हबीबुद्दिन खॉं साहब ने उसे पेश किया, बजाया, तब यह पता चला कि वह अपने वादन में दिल्ली के पेशकार को और फर्रुखाबाद के पेशकार को बारी-बारी बजाकर उसका विस्तार इस तरह करते थे कि बोलो के तालमेल के साथ संवाद हो रहा है। वैसे खॉं साहब ने पेशकार तो बजाया परंतु पेशकार से अधिक पेशकार कायदा बजाया। अर्थात इन्हीं पेशकार के बोलो का उपयोग करके उसका विस्तार कायदे तक किया करते थे। और जब विस्तार कायदा के अंग से किया जाता है तब उसे 'पेशकार कायदा' इस नाम से संबोधित किया जाता है। पेशकार के विस्तार में से निकलकर 'पेशकार कायदा' सीधे दुगुन में शुरू किया जाता है। अर्थात पेशकार को दुगनी लय करके बजाया नहीं जाता, मुख्य लय में ही बजाया जाता है। इस तरह 'पेशकार कायदा' यह संकल्पना कायदे की भांति मुख्य लय और दुगनी लय करके नहीं बजाया जाता। इसे पेशकार में से सीधे दुगनी लय में बजाया जाता है। अत: इसी पेशकार कायदा का प्रस्तुतीकरण जब खॉं साहब करते थे तब उसमें जो सौंदर्य की अनुभूति होती थी उसके बारे में अगर हम सोचे, तो जैसे कि उस्ताद हबीबुद्दिन खॉं साहब की तालीम दिल्ली घराने के उस्ताद नत्थू खॉं साहब से भी हुई थी। अत: उनके वादन में दिल्ली और अजराडा दोनों का समन्वय देखने को मिलता था। जैसे कि पेशकार कायदा का विस्तार करते समय बल, पेच, कुल्फी, लौट-पलट, आदि विविध प्रकारों का उपयोग करते थे दिल्ली घराने के अभ्यास अनुसार उन्होंने विस्तार करते समय 'धाती धाधा तिरकिट' 'धाती धागे धिनातिधा' आदि, बोल-समूह का उपयोग करके उसमें सौंदर्य पैदा किया। उसी तरह अजराड़ा घराने का विचार देखा जाए तो कईं बोलो का उपयोग उन्होंने किया। जैसे 'घिनातिना' 'क्डधातीधा' 'धागेन धाती धागेन' 'धागेन तिनक घिनक तिनक' आदि।

● **कायदा :** कायदा की व्याख्या अगर देखें तो ऐसा कह सकते हैं कि, 'बोलो की क्रमबद्ध रचना जो ताल के विभागानुसार हो तथा जिसका पर्याप्त रूप से विस्तार हो सके उसे कायदा कहते

हैं।' 'कायदा' अर्थात 'नियम' अर्थात जब इसे बजाया जाता है तब 'खाली-भरी' का ध्यान रखते हुए कायदे को इन नियमों में बांधा जाता है। इस संकल्पना के अनुसार जब इसे बजाया जाता है तब कायदे में 'तिंना / धिंना' उसी तरह 'तिनाकिना / धिनागिना' और तिस्त्र जाति के अंतर्गत देखें तो 'तिननिनाकिन / धिनधिनागिन' आदि बोलो के उपयोग से यह नियम का चुस्तता से पालन किया जाता है। "अजराडा घराने में और विशेषत: उस्ताद हबीबुद्दिन खाँ साहब के वादन में 'कायदे' के प्रस्तुतीकरण में और एक निराले ही तंत्र का अवलंब किया गया और वह तंत्र है 'कायदे' के प्राथमिक प्रस्तुतीकरण में डगमगानेवाली (हिलोरे लेनेवाली) लय रखकर कायदा प्रस्तुत करना। अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम नीचे का कायदे का एक उदाहरण लें :-

धा_घिडनग धिनधागेतिट धागेनधात्रक धिनागदिगन।
धिनधागेतिट धागेनागेधिन धागेनधात्रक तिनाकतीकन

उपर्युक्त 'कायदे' में 'भरी' के 'कायदे' की रचना का भाग क्रमांक 1, 2, 3, की डगमगाती चाल से बजाकर उन भागों को तीन मात्राओं में समाप्त करने के बदले 'सवातीन' मात्राओं तक ले जाना और चौथी मात्रा का भाग 'धिनागदिगन' (धिनागदिं__) पौन मात्रा में बजाकर काल के 'ता_किटतक' से आरंभ करना। इस तंत्र का उपयोग करके श्रोताओं में चैतन्य निर्माण करना भी अजराड़ा का वैशिष्ट्य मानना पड़ेगा।" 5)

उस्ताद हबीबुद्दिन खाँ साहब का वादन सुनने के पश्चात ऐसा लगता है कि उनके पेशकार कायदे के वादन में एक अलग उनका विचार देखने को मिलता है। जहां उन्होंने खास तौर से 3-1/2 और 4-1/2 मात्राओं का विभाजन करके अपना वादन प्रस्तुत किया है। यही एक विशेष सौंदर्य उनके इस कायदे में दिखाई देता है।

"दिल्ली घराने में कायदे के जो शब्द 'भरी' प्रक्रिया में बजेंगे वही शब्द 'खाली' प्रक्रिया में भी बजते हैं। किंतु अजराड़ा घराने में रचना की 'खाली' बजाते समय 'भरी' में आए हुए शब्द प्रयोग किये ही जाएंगे ऐसी बात नहीं है। इस घराने में 'कायदे' की 'खाली' लेते समय उसे अलग ही शब्दों से आरंभ करने की एक सुंदर पद्धति है। उदा.-

धिना_धागेन धात्रकधागेन धात्रकधातीधा धिनतिनाकिन।
ताकेतिरकिट धिना_धागेन धात्रकधातीधा धिनतिनाकिन।
तिनतिनाकिन ताकेतिरकिट ताकितिटताकि त्रकतिनाकिडनग।
तिरकिटतकता_तिरकिट धिना_धागेन धात्रकधातीधा धिनधिनागिन

उपर लिखे हुए 'कायदे' में काल में 'किना_ ताकेन तात्रकताकेन' न करके 'तिननिनाकिन ताकेतिरकिट' शब्द-समुह से काल दर्शाया गया है।" 6)

" 'कायदा' सुनियोजित एवं सुनिश्चित व्यंजन प्रधान शब्द या शब्द समूह और उनके पूरक सहायक स्वरमय अंतिम शब्दों की बनी हुई विस्तारक्षम, खंडबद्ध, खाली-भरी युक्त और तालाकार एवं कलापूर्ण ऐसी रचना है। जिसका प्रस्तुतीकरण साधारणत: मध्यलय में होता है।" 7) "कायदे की समाप्ति तिहाई से करने की प्रथा है। पुरानी परंपरा के कलाकार एक अत्यंत आसान तिहाई लेकर कायदे का प्रस्तुतीकरण पूरा कर दिया करते थे, किंतु आज विविध आकारों और विरामों की तिहाई लेकर कायदा समाप्त करने की प्रथा लोकप्रिय बनती जा रही है।" 8) "दिल्ली घराने में 'कायदे' के खंड 4 + 4

मात्राओं के होते हैं और कई बार यह 3 + 2 + 3 ऐसी मात्राओं के भी हुआ करते हैं। ऐसे ही खंड अजराड़ा की रचनाओं में भी होते हैं। परंतु अजराड़ा घराने में (और विशेषत: हबीबुद्दीन खाँ के वादन में) 4-1/2 और 3-1/2 मात्राओं के खंड करके उस रचना को प्रस्तुत किया जाता है तथा उसका विस्तार किया जाता है तथा इन नवरचित खंडो के कारण उस रचना के विस्तार को एक अलग ही मोड प्राप्त होता है। अर्थात वह सुंदर ही होता है।" 9)

● **रेला :** एकल तबला वादन में पेशकार शुरुआत में सीमित समय बजाकर उसके बाद कायदा बजाया जाता है। और कायदे के बाद रेला का स्थान आता है। रेला का उपयोग पखवाज वादन में ज्यादा दिखाई दिया है और आज भी होता है। 'किटतक', 'तिरकिट', 'धिरधिर', 'धिडनग', 'दिनतक' आदि बोलों के उपयोग से इस संकल्पना की रचना की जाती है। तबला वादन में भी इस रचना का खूब अच्छी तरह से उपयोग होने लगा। इस संकल्पना में 'जाति' का उपयोग भी खूब अच्छी तरह से किया है। जिस वजह से इसका सौंदर्य बढ़ता है। जैसे चतस्त्र में तो रेला बजता ही है, परंतु तिस्त्र तथा मिश्र जाति के भी रेले सुनाई देते हैं। जैसे की यहां हम उस्ताद हबीबुद्दिन खाँ साहब के वादन के बारे में बात कर रहे हैं तो, तुरंत अजराडा घराना सामने आता है। खाँ साहब ने अजराड़ा की वादन विशेषताओं का उपयोग करके इस संकल्पना को खुब अच्छी तरह बजाया।

रेला की अगर व्याख्या की जाए तो इस तरह हो सकती है – कम बोलो का उपयोग करके छोटी-छोटी रचनाएं बनाकर उसे द्रूतलय में बजाने की संकल्पना इसमें दिखाई देती है और ऐसा कहा जाता है कि पानी के प्रवाह जैसे इसका चलन रहता है और यह जैसे खत्म होती है उसके बाद सम से जुड़कर यह रचना एक वर्तुलाकर जैसी दिखाई देती है। यहां मुझे एक किस्सा याद आ रहा है, जो की मेरी पढ़ाई के समय गुरुओं के मुख से सुना था और मेरे मुख्य गुरु, जो अजराडा घराने से तालुकात रखते हैं और खुद उस्ताद हबीबुद्दिन खाँ साहब के वरिष्ठ, मुख्य शिष्य पंडित प्रोफेसर सुधीर कुमार सक्सेना जी ने भी इसके बारे में बताया था की, "खाँ साहब मोहर्रम में ताशा बजाया करते थे और उसमें जिस तरह फलक में बजाने की पद्धति दिखती है उसी का उन्होंने अपने वादन में प्रयोग किया और रेला जैसी संकल्पना को द्रूत तो ठीक है परंतु उनके विचार जैसे सिर्फ फलक में बजाने के लिए रहते थे, अत: उन्होंने इस रेला जैसी रचना को अतिद्रूत लय में बजाया है।"

"पंडित अरविंद मुळगावकर ने अपनी 'तबला' पुस्तक में 'रेले' की परिभाषा इस प्रकार की है –

रेला वह रचना है, जिसमें बोल-समूह का पहला अक्षर स्वर और अंतिम अक्षर व्यंजन हो, प्रत्येक दो मात्राओं के बीच के फासले में स्वर के आगे अधिकाधिक व्यंजन हो, द्रूतलय में बजाने के कारण जो 'रव' निर्माण करने वाला हो और जिसमें स्वैर लौट-पलट अथवा कायदे जैसा विस्तार किया जाता हो।" 10)

खाँ साहब का वादन सुनने के बाद ऐसा लगता है कि, रेला यह संकल्पना वे जब प्रस्तुत करते थे तब जैसे कि, वे 'मुट्ठी' का 'धीरधीर' बजाया करते थे। अब यह चमत्कृती वह अपने हाथों से किया करते थे। यह भी उनके वादन में निहित सौंदर्य ही है। इस तरह कई बार वे 'रेला' की 'रव' करके बजाया करते थे। अर्थात् रेला की मुख्य लय ही वे चार गुन में बजाते थे और इस लय में बोलो का भराव करके रव किया करते थे। इन सब चमत्कृतियों से ही उनके वादन में

सौंदर्य की अनुभूति होती है।

इस तरह अजराड़ा घराने के उस्ताद हबीबुद्दीन खॉ साहब जिन्होंने अपने तबला वादन में दिल्ली घराने के उस्ताद नत्थू खॉ साहब एवं अजराड़ा करना के उस्ताद शम्मू खॉ साहब जी से तालीम प्राप्त करके तथा दोनों घरानों की वादन विशेषताओं का सूक्ष्म अभ्यास करके एवं अपने मौलिक विचारों से और कौशल्य से तबला वादन के क्षेत्र में कई आयाम प्राप्त किये। इस तरह जो दोनों घरानों में से विस्तारशील रचनाएं प्रचार में आई उन रचनाओं को अपने कौशल्या से फलक में बजाकर संगीत के क्षेत्र में एवं बिरादियों में भी नाम करके खलीफा का सम्मान प्राप्त किया। सिर्फ फलक में ना बजाते हुए उन रचनाओं में जो सौंदर्यपूर्ण विचार दिखाई देते थे, उन्हें फलक पर भी उसी तरह पेश किया करते थे। ये ही उनकी खासियत थी।

● संदर्भ :

1. पखावज और तबला के घराने एवं परंपरायें, डॉ आबान ए मिस्त्री, पृष्ठ क्रमांक 129, वर्ष 1984
2. पखावज और तबला के घराने एवं परंपरायें, डॉ आबान ए मिस्त्री, पृष्ठ क्रमांक 129, वर्ष 1984
3. पखावज और तबला के घराने एवं परंपरायें, डॉ आबान ए मिस्त्री, पृष्ठ क्रमांक 129, वर्ष 1984
4. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 105, वर्ष 2000
5. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 224, 225, वर्ष 2000
6. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 225, वर्ष 2000
7. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 121, वर्ष 2000
8. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 123, वर्ष 2000
9. तबला वादन कला और शास्त्र, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 227, वर्ष 2000
10. तबला वादन में निहित सौंदर्य, पं. सुधीर माईणकर, पृष्ठ क्रमांक 94, वर्ष 2000

सतनामियों में प्रचलित संस्कार तथा सतनाम पंथ के सामाजिक संगठन का अध्ययन

डॉ महेश कुमार शुक्ला, लक्ष्मीनारायण कुर्रे

सारांश

भारत धर्मनिरपेक्ष देश व समानता सर्व धर्म एक ही भावना रखता है कि आवधारणा एवं उदारवादी, मानवतावादी, विश्वशांति जनकल्याण की भावना सम्मिलित है। हमारी भारतीय संस्कृति में अनेक महान महात्माओं की त्याग आत्मचिंतन का महात्माओं की त्याग आत्मचिंतन का महत्व रहा है। वैसे ही छत्तीसगढ़ की अंचल में समाज को जागरण की भावना विकसित करने के कार्य सें सतनाम पंथ का महत्वपूर्ण स्थान रहा।

शब्दकुॅजी- *सदवचन, परोपकारिता, बंधुत्व, उदारवादी, मानवतावादी, विश्वशांति, अद्वैतवादी।*

प्रस्तावना

भारत देश की पवित्र भूमि में सतनाम पंथ का इतिहास समानता, मानवता, एवं एकता विकास की ओर सदैव तत्पर रहा है। सतनाम पंथ प्रांरभ से ही गौरवशाली रहा है। भारत में सतनाम पंथ की एक समृद्ध परम्परा रही है। इस दृष्टिकोण से सतनामी संस्कृति की अपनी विशेष महत्व है। एवं सतनाम पंथ ने भारतीय विकास के मार्ग में सतनाम पंथ का महत्वपूर्ण स्थान रहा हैं। अत: आगे संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।सतनाम पंथ के मानने वालो का धार्मिक जीवन सदैव मानवता की भावना से भरी हुयी थी व समानता एवं आर्दर्शो से ओत-प्रोत है। सदकर्म सदव्यवहार सदाचार, सदवचन, मानवता, परोपकारिता बंधुत्व यह सभी सतनाम पंथ के अनुयायियों का जीवन तत्व में शामिल है। सतनाम पंथ निर्गण विचारधारा से सम्बधित थी व अद्वैतवादी थे। व निराकार की उपासना करता था उनके पंथ में यह तत्व विधमान थी इन्हीं कारणों की वजह से वह पाखण्डवाद व अंधविश्वासो का विरोध करते थे।

सतनामी संस्कार:- भारतीय संस्कृति में परम्पराओं और संस्कारों का अपना विशेष स्थान है। संस्कार मनुष्यों के अन्तकरण और बाह्य दोनो पक्षों के शुद्धिकरण करने हेतु एवं आत्मबल का प्रसार करता है। मानव के सामाजिक जीवन में संस्कार का शुरूआत जन्म से लेकर मृत्यु तक किये जाते है जिनका अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही धर्म प्रधान रही है। प्रत्येक समुदाय का अपना एक अलग धर्म संस्कृति नियम एवं संस्कार होता है। एवं उनकी विशेषताएॅ होती है। हिन्दु समाज में मानवों के लिए कुछ महत्वपूर्ण संस्कार निर्धारित किये गये है। जिनका नर-नारी जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण महत्व है। इसी तरह हिन्दु समाज के

सह प्राध्यापक इतिहास : डॉ. सी. वी. रमन विश्वविद्यालय
शोधार्थी : करगी रोड, कोटा, बिलासपुर (छत्तीसगढ़)

अंतगर्त सतनाम पंथमार्गी अर्थात् सतनामी समाज के कुछ मूलभूत संस्कार होते है-

गर्भाधान संस्कार- इसे संस्कार में गर्भवती महिला को नम्रता, प्रसन्नता और सात्विकता पर बल दिया जाता है। शुद्धशाकाहारी सात्विक भोजन के साथ गुरू द्वारा दिया गया प्रसाद पंचमेवा भोजन देना शुभ माना जाता है।

मन, वचन व कर्म में शुचिता और कोमलता आने के लिए महापुरूषो व संत की जीवनी एवं सत्संग सुनायी जाती है। इससे शिशु सदाचारी, तेजवान गुणवान, सज्जन स्वभावशील प्रवृत्ति का होता है।

नामकरण-शिशु के जन्म के छठवा दिन सामान्य रूप समारोह आयोजित कर नाकरण किया जाता है। जिसमें परिवार के मुख्याओं द्वारा शिशु को आर्शीवाद प्रदान किया जाता है। जिससे शिशु को दीर्घायु अवस्था की कामना की जाती है।

मुण्डन (चूड़ाकर्म संस्कार):- जब शिशु का जन्म होता है उसके नवें दिन शिशुका मुण्ड़न कार्यक्रम किया जाता है। इस कार्यक्रम में परिवार व रिश्तेदारों को आमंत्रण दिया जाता है। इसके पश्चात् इच्छानुसार माता-पिता द्वारा परमपूज्य सत्य सतनाम की पूजा चैका एवं मंगल भजन किया जाता है।

निष्क्रमकः- सूर्य के सम्पर्क में पहली बार नवजात शिशु को लाया जाता है ताकि शिशु को सूर्य के भांति ऊर्जाशील हो। सतनामियों द्वारा सूर्य की उपसाना कि जाती है। शिशु प्रकाश पुंज सूर्य की तरह शिशुओं के प्रखर रूपवान ऊर्जावान उन्नतिशील होने की कामना की जाती है।[33]

अन्नप्राशन संस्कारः- जब शिशु की आयु 6 महिनो की होती है तो शिशु को मिष्ठान बनाकर पहली बार कुछ खिलाया जाता है। तब से फिर शिशु खाने की शुरूआत कर देता है। इस कार्यक्रम को धूम-धाम से लोगो द्वारा मनाया किया जाता है। एवं बड़े - बुर्जुगों द्वारा शिशु की मंगल जीवन की कामना करते हुये आशीष दिया जाता है। फिर इसके पश्चात् शिशु को धीरे-धीरे भोजन खिलाया जाता है।

विधानरम्भ संस्कारः- जब बालक की आयु 5 वर्ष 7 वर्ष का हो जाता है। तब वह शिक्षा ग्रहण करने के लिए योग्य हो जाता है। तब विद्यालय में प्रवेश कराया जाता है। सतनामी समाज में इस के लिए किसी भी प्रकार का रस्म-रीति-रिवाज नहीं था परन्तु वर्तमान समय में संस्कार को नया आयाम देने के लिए गुरूपूजा और आर्शीवाद प्राप्त करने की प्रथा धीरे-धीरे शुरूआत होती जा रही है।

विवाह संस्कारः- विवाह जीवन के महत्वपूर्ण संस्कारो में से एक है। क्योंकि समाज में गृह सूत्रों का प्रारम्भ विवाह संस्कार से ही आरम्भ होता है। इस समाज के लोगो द्वारा विवाह दो तरीको से किया जाता है। पहले विवाह प्रचलित पद्धति के अनुसार किया जाता था परन्तु वर्तमान समय में नयी पद्धति से किया जाता है। विवाह में मंडपाच्छादन, चुलमाटी, मंगराहन पूजा, देवपूजन, हरिद्रालेपन, बारात की रश्में होती है। सतनामी समाज में वर्तमान समय विवाह में होने वाले फिजुल खर्ची को रोकने के लिए सतनामी धाम ने विवाह का आयोजन किया करते है। जैसे भण्डारपुरी, गिरौदपुरी, अमरटापू, तेलासी धाम, आदि। यह परंम्परा दस सालों से चलती आ रही है।

कंठीमाला धारण एवं यज्ञोवपीत संस्कारः-विवाह के उपरांत वैवाहिक जीवन को सुसंस्कृति बनाने के लिए नवविवाहित जोडा, मंगल कामना के उद्देश्य के साथ सतनामी समाज में कान फूँकने और कंठी धारण करने का पवित्र संस्कार सम्पन्न कराया जाता है।

कंठी धारण संस्कार सामान्यत: विवाह के समय विवाह के पश्चात् अनिवार्य रूप से किया जाता है। जिसे सामान्य भाषा में गुरू बनाने की प्रथा कहा जाता है।

खड़ाऊ:- खड़ाऊ को पादुका भी कहा जाता है। खड़ाऊ को पैरो में पहना जाता है। खड़ाऊ को पहनने से पैर सुरक्षित, सुकोमल, सुन्दर, स्वच्छ रहता है। इसके साथ-साथ इस धारण करने से नेत्रों की रोशनी बढ़ती है। यह मुख्य रूप से चंदन की लकड़ी का बनता है। या भी बेल की लकड़ी का उपयोग करते थे जो कि कंकड़, पत्थर, धूल, धूप आदि पैरो को बचाता है।

जनेऊ:- जनेऊ पुरूषों के द्वारा ही धारण किया जाता है यह सफेद रंग का एक प्रकार का धागा है। जनेऊ धारण करना पुरूष वर्गो के लिए श्रेष्ठ माना जाता है। सामान्यत: जनेऊ का शाब्दिक अर्थ सादा जीवन निर्वाह करना होता है। अर्थात् जो मानव जनेऊ को धारण कर लेता है। वह सत्य व अहिंसा के मार्गो का अनुकरण करना स्वीकार कर लेता है। इसे धारण करने से एक प्रषन्नता उत्पन्न होती है। मानसिक विकार से मुक्ति मिलती है साथ एक उच्च आदर्श विचार हमारे मन में उत्पन्न करने में मदद मिलती है।

आहार:- मानव शरीर के लिए नुकसानदायक के साथ कई शारीरिक समस्याओं व कष्टपूर्ण होता है। प्रत्येक मनुष्य को अपने प्राणों के रक्षा के दृष्टिकोण से मुख के मार्ग जो भी भोज्य पदार्थ हो चाहे वह तरल द्रव के रूप में या ठोस रूप में हो जो ग्रहण किया जाता है वही आहार कहलाता है। मनुष्यों को भोजन सादा, शुद्ध ताजा, शाकाहारी व संतुलित भोजन ारने पर बल दिया गया है। मृतक संस्कार:-मनुष्य का जन्म हुआ है तो वह मृत्यु भी उसे प्राप्त होगा यही प्रकृति का नियम है। अत: प्रत्येक मानवों के मृत्यु को सहर्ष ही स्वीकार करता है। यह संस्कार प्रत्येक धर्म में अलग-अलग विधि से सम्पादित होता है। सतनामी संस्कृति में मृतक संस्कार अन्य प्रत्येक मरणासन्न व्यक्ति को गुरू के उपदेशों को सुनाया जाता है। ताकि मृत आत्मा को शांति की प्राप्ति हो सके तथा पंचामृत पान कराया जाता है।

जय स्तम्भ की स्थापना- उन्होंने इस सतनाम के प्रतीक जय स्तम्भ को स्वतंत्रता बंधुत्व और न्याय का प्रतीक बताया जिसमें श्वेत ध्वजा प्रेम, करूणा, दया, सहिष्णुता, सहानुभूति और शान्ति का प्रतीक है। तीनों लोहे का छल्लानुमा गुजर, प्रेम करूणा और दया का प्रतीक है। पाँच फूट बॉस का डंडा पंचशील को दर्शाता है। अर्थात् प्राणी हिंसा का निषेध, पर स्त्रीगमन का कामचार का निषेध, मिथ्या भाषण या झूठ का निषेध शराब आदि नशीली चीजों का निषेध को दर्शाता है। गॉव के मध्य चैराहे में इसे गाड़ने का लक्ष्य यह है कि आते जाते हर व्यक्ति का नजर उस जय स्तम्भ पर पड़े ताकि उसके मन में सत् के प्रति आचरण कार्य के लिए मन में अपने आप उपदेश व संदेश का प्रतीक। इस जय स्तम्भ में आन्तरिक और बाहा जीवन के सम्पूर्ण गुण समाहित है। ध्वज का चतुकोणी होना चार प्रकार की सत् शक्ति में एकता प्रगट होने का प्रतीक है।

जैतखाम मे प्रमुख रूप से पाँच भागो में बाँटा गया है:-

(1) चबूतरा (2) खम्भा (3) तीन हुक (4) बॉस का डंडा (5) सफेद ध्वज।

गिरौदपुरी धाम में छत्तीसगढ़ सरकार ने एक भव्य विशाल सुन्दर जैतखाम का निर्माण करवाया है।

(2) पूजन विधि:- सतनाम पंथ के अनुयायी निगुर्ण भक्ति धरा को मानते थे। इस समुदाय या सतनाम पंथ अनुयायी गुरूगदी की पुजा, जैतखाम की अर्चना एंव गुरू बाबा घासीदास जी की पूजा व उनकी सप्तसिद्धांत का अनुसरण करते है।

गुरू गद्दी एंव साथ सतनाम का भजन, चैका पूजा, मंगलगीत गाया करते है। कई व्यक्तियों द्वारा समाधि भी लगाया जाता है। सतनामपंथ को मानने वालो के लिए चरणामृत का अपना एक विशेष महत्व है।

चैका- चैका पूजा सतनाम पंथ के अनुयायियो द्वारा किया जाता है। चाहे कुछ शुभ मांगलिक कार्य हो, विवाह पर,छट्ठी के अवसर पर यह गुरूगद्दी की स्थापना पर हो किया जाता है। चैका आरती से गुरू जी के जीवन से जुडी हो सारी घटनाओं उनके चारित्रिक जीवन व उनके कार्यो, उपदेशो का बखान किया जाता है। चैका पूजा मुख्यत: 7 से 8 घंटे तक जाती हैं इसके माध्यम से बाबा ज्ञानमार्ग गुरूवाणी आदि बताया गया है। चैका पूजा विधि करने के पीछे सतनाम पंथ मार्गियों का विश्वास की प्राप्ति है। सभी कष्ट, विपत्ति, विलक्षण, दुख सभी दूर हो सकते है कईयों के द्वारा इसे मन्नत अर्थात् मनोकामना की पूर्ति हेतु किया जाता है। चैका पूजन में मंगल गीत, गाया जाता है। जो बहुत प्रिय होता है घर में शुभ कार्यो के उपलक्ष्य में या दुखत: परिस्थितियों में चैका पूजन किया जाता है। चैका पूजन सबसे ज्यादा 18 दिसम्बर जो कि गुरू पर्व के अवसर पर या पूरे दिसम्बर माह में चैका पूजा किया जाता है परन्तु ऐसी कोई मान्यता नहीं कि चैका पूजा सिर्फ दिसम्बर में किया जाता है।

इसमें आरती गीत गाया जाता है। स्त्रीयों द्वारा सुंदर थाली सजाकर पीतल के बर्तन में रखकर किया जाता है। फिर पुरूषों द्वारा भी किया जाता है। यह मन को मोहित कर लेने वाली पूजा विधि है जिसमें हृदय में सत् ज्ञान संचार होता है।

प्रमुखत: यह बाबा गुरू के जीवन के सभी घटनाओं को क्रमबद्ध वर्णन किया जाता है। बाबा के जन्म से लेकर अद्वितीय अवस्था तक समग्र जीवन एवं बाबा द्वारा किये गये सामाजिक कार्य, चमत्कारिक कार्यो का वर्णन किया जाता है। इसका सतनाम धर्मोवलंबी में इसका विशेष महत्व है। इसके द्वारा बाबा का स्मरण एवं ध्यान लगाकर अपने चित् में बाबा में सिद्धांतों एवं उपदेशों को बताया गया है।

पंथी गीत:- पंथी गीत व पंथीनृत्य हमारे छत्तीसगढ़ संस्कृति की विशेष पहचान है। पंथी नृत्य के ट्ठारा से सतनामियों द्वारा अपनी धार्मिक आस्था को व्यक्त किया जाता है सत्य की महिमा को अभिव्यक्त करता है। पंथी लोकनृत्य एक ऊर्जा से भरपूर व नृत्य है इस नृत्य को युवा पीढियो ट्ठारा किया जाता है इसे महिला व पुरूष दोनो कर सकते है पंथी नृत्य के माध्यम से लोगो को जागरूक कर गुरू जी चारित्रिक घटनाओ को गाना के माध्यम से बताया जाता है। गुरू जी के प्रेरक शिक्षाओं और उनके आदर्शो को सहेज कर के साथ-साथ उसके समाधान का संदेश मिलता है।

सामाजिक संगठन:- संत शिरोमणि गुरू जी ने अपने जीवन काल में ही सतनामी समाज के मानवों के लिए सामाजिक व्यवस्था विकास एंव अपने अनुयायियों के नैतिक उत्थान के लिए सामाजिक रूप से कुछ महत्वपूर्ण पद निर्धारित किये थे। इसके साथ ही निर्धारित पद पर नियुक्त पदधारी के लिए एक आचार संहिता बनाकार उनके कर्तव्यों का मूलभूत निर्धारण भी किया था। यह निम्नलिखित है:-

(1) गुरू:-किसी भी समाज में हो गुरूओं का स्थान सदैव उच्च रहता है। गुरू ने अपने कुछ ससंकार में बनाये गये हैं और वे सदैव उनके साथ खड़े रहते है।26 उनके दिव्यज्ञान से समाज के सम्पूर्ण लोग आलोकित अवस्था प्राप्त करते है। इस व्यवस्था के अनुसार सतनामी समाज के गुरू परिवार के आगे उनके वंशज सदस्यों को गुरू तुल्य ही माना जाता है। वे यह

बात को स्वीकार करते है कि गुरू अपने उच्च विचार व उच्चादर्शो के ही कारण गरिमा मंडित होता है। तथा अपने अनुयायी, नैतिक शिक्षा देते हुए उन्हे मार्गदर्शन देते हुए उन्हे विकास की अग्रसर करते है।

(2) राजमहंत:- सतनामी समाज के व्यवस्थानुसार समाज में श्रेष्ठ व ज्ञानी और गुणवान व्यक्ति को गुरू द्वारा चुनाव कर राजमहंत के पद पर सुशोभित किया जाता है। इस पद पर सुशोभित व्यक्ति को अपने उच्च आदर्शो के साथ मानव समाज को सही दिशा प्रदान करना। ये राजमहंत गुरू द्वारा दिये गये कार्यो का संचालन व आयोजन करते थे। गुरू जी के समय राजमहंत के पद पर दो व्यक्ति अर्थात् दो परिक्षेत्रों मे बँटे हुये थे एवं बाबा द्वारा प्रत्येक परिक्षेत्र पर दो-दो राजमहंत पद पर नियुक्त करते थे। राजमहंत का प्रमुख दायित्व होता था जैसे:-गुरू के द्वारा दिये गये धर्मोपदेश को लोगों तक पहुँचाना, सतनाम पंथ के मार्ग पर चलने को प्रोत्साहित करना, नैतिकता व बंधुत्व की भावना उजागर करना समाज को एकत्रित करना आदि कार्य राजमहंतो के कर्तव्यों में शामिल था। राजमहंत को अपने आप में विचारों की पवित्रता बनाये रखना, आचरण की श्रेष्ठता स्थापित करना एवं एक संयमित जीवन जीने के लिए लोकोप कारिता का होना उनके लिए अति महत्वपूर्ण होता है।

(3) संत - संत शब्द को परिभाषित करना अर्थात् सतनामी समाज के सभी व्यक्तियों को संत कहा जाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पूरा सतनामी समाज संत होता है। सतनामी संत समाज गुरू समाज गुरू जी द्वारा बताये गये सिद्धांतो उपदेश एवं सदकार्यो, सदव्यवहार, सदवचन एवं व्यवस्थाओं के अनुसार जीवन को निवार्ह करते है। एवं अपने सामाजिक कार्यो को कर्तत्यपूर्ण से निर्वाहन करते थे और वह राजमंहत के आदेशो का पालन करते थे। सतनामी समाज के व्यक्ति शांत सरल स्वभाव एवं सात्विक विचार रखने वाले प्रेम बंधुत्व नम्रता उदारता, दयालुता इस समाज की लोगो कि विशेषताएँ है।

(4) छड़ीदार (भण्डारी):- समाज के हर एक गावँ एक पद भण्डारी का होता था। हॉलाकि इनका पद समाज में थोड़ा निचले स्तर का होता है। परन्तु इनका कार्यो का भार बहुत अधिक होता है। अगर भण्डारी एवं छड़ीदार न हो तो समाज के कार्य चाहे वे धार्मिक हो या समाजिक कार्य सम्पादन करने बहुत परेशानी हो जाती है। अर्थात् दोनों की विशेष रूप से दायित्व होती है।

अत: यह कहा जा सकता है कि भण्डारी व साटीदार समाज के प्रमुख सूत्रदार है। इस पद की नियुक्ति गुरू गोसाई द्वारा की जाती है। अगर इस पद पर शुशोभित व्यक्ति अगर अपने कत्र्तव्यों का निर्वहन सहीं एवं उचित ढंग से नहीं कर पाता है तो उन्हें उनके पद से पदयुक्त कर दिया जाता है। इस प्रथा की शुरूआत गुरू बालकदास के समयकाल में समयकाल में शुरू हुआ था। ग्राम स्तर के प्रमुख सामाजिक कार्यो का संचालन भण्डारी व साटीदार द्वारा मिलकर किया जाता है। समाज में होने वाले प्रमुख कार्यो को जैसे जन्म, मृत्यू, विवाह आदि कार्यो को पूरी ईमानदारी के साथ पूर्ण करता है। जिसे नियमानुसार वसूल करता है और उसका लेखा- जोखा रखते हुये उसे सामाजिक कार्यो हेतु राशि दे देता है। समाज में होने वाले प्रत्येक मांगलिक एवं सामाजिक कार्यो के समय गुरूगद्दी की स्थापना करते है। सामाजिक कार्यो को शुद्धता कुशलता से बनाये रखने हेतु भण्डारी व साटीदार को भी कुछ न्याय दण्ड विधान सम्बधी शक्तियॉ प्राप्त है। परन्तु यह सभी शक्तियॉ गुरू के पास केन्द्रित रहती है। परन्तु ग्राम स्तर पर होने वालो विवादो को निपटने हेतु अधिकार प्रदान किया गया है। जब गुरू गोसाई

ग्राम भ्रमण निरीक्षण पर पधारते है तो लोगों द्वारा उनके आने की प्रसन्नता में साज-सज्जा एंव पंथी नृत्य का आयोजन कर गुरू गोसाई का स्वागत करते है। स्वागत के चरण में गुरू को अनुयायी गुरू का पैर पखार कर अर्थात् चरण का धोकर चरणामृत पान करता है। इन सभी कार्यो को पूरा होने के बाद गुरू गोसाई सामाजिक गतिविधियाँ का निरीक्षण करने निकलते है।

सतनामियों की दण्ड प्रणाली:- समाज को सही मार्ग-निर्देशों पर व्यवस्थित रूप से चलने-चलाने हेतु कुछ सामाजिक नियमों का निर्माण किया जाता है।

इन नियमों का उचित नियमानुसार पालन नहीं करने पर समाज के व्यक्तियों द्वारा दण्ड दिया जाता है।

सतनाम सत्यता पर आधारित धर्म है। इसलिए सतनाम को सत्य शाश्वत्, सनातन, सार्वभौम धर्म कहा जाता है। सतनाम निराकार निर्गुण, सद्भाव सदकर्म, सद्व्यवहार, सदाचार, सदवचन अनादि अनंत परमचेतन आत्म परायणता विश्यों का समन्वय है जो कि स्वार्थपरता को छोड़कर प्रेम दया, सेवा, उदारता, संयम एवं अहिंसा मावन सेवा का स्वरूप है।

संदर्भ सूची

- खुंटे टी.आर. सतनाम दर्शन, सतनाम कल्याण एवं गुरूघासीदास चेतना संस्थान
- सोनवानी आई आर. छत्तीसगढ़ के राष्ट्रीय आंदोलन में सतनाम पंथ का योगदान 1885-1947 तक (शोध प्रबंध)
- सत्य ध्वज स्मारिका अंक -9 1992
- दैनिक भास्कर दिनॉक 18.12.2019 बुधवार
- घृतलहरे - भाऊराम सतनाम रहस्य
- मनहर नम्मूराम छत्तीसगढ़ के सतनामी रत्न प्रथम खण्ड
- मनहर नम्मूराम, सतनाम धर्म ग्रन्थ सतसागर
- सोनवानी आई. आर. सत्य प्रभात
- नम्मूराम मनहर, सतनाम धर्म ग्रंध सतसागर
- सोनी जे. आर. सतनाम रहस्य
- सतनाम दर्शन
- शैलेन्द्र गुरूघासीदास का मार्ग

पर्यावरणीय संकट के दौर में पारम्परिक पारिस्थितिक ज्ञान की प्रासंगिकता : एक विहंगावलोकन

मनीष कुमार डॉ श्वेता तिवारी

सार

सतत विकास आधुनिक समय में एक लोकप्रिय शब्द के रूप में उभरा है, जो पर्यावरणीय मुद्दों के बारे में मानवता की बढ़ती जागरूकता को दर्शाता है। हालांकि, कुछ दशक पहले ऐसा नहीं था। प्राकृतिक संसाधनों के गैर जिम्मेदाराना दोहन के साथ अनियंत्रित और अनुचित गतिविधियों ने हमें एक गंभीर वास्तविकता और अंधकारमय भविष्य की ओर धकेल दिया है। इसलिए, दुनिया भर में ऐसे विकास के नए मॉडल आजमाए जा रहे हैं जो पर्यावरण और पारिस्थितिकी को प्राथमिकता देते हैं और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने का प्रयास करते हैं। दुर्भाग्य से, ऐसी चर्चाओं में 'लोक समाजों' के जीवंत अनुभवों को समुचित रूप से शामिल नहीं किया गया है, जबकि इन समुदायों का इस क्षेत्र में अनुकरणीय योगदान रहा है। उनके जीवन-शैली और पर्यावरणीय ज्ञान का सम्मान करने और उसे मुख्यधारा में लाने के बजाय, उन्हें अक्सर हाशिए पर रखा जाता रहा है। परिणामस्वरूप, उनके पारंपरिक ज्ञान और सतत जीवनशैली के अमूल्य ट्रैक-रिकॉर्ड को व्यापक रूप से मान्यता नहीं मिल पाई है, जिससे समकालीन पर्यावरणीय विमर्शों में एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण छूट जाता है। हालाँकि, आज लोक ज्ञान अनुसंधान और विकास के क्षेत्र में काफी रुचि का विषय बन गया है। संरक्षण और प्रबंधन में लोक ज्ञान के योगदान को तेजी से मान्यता मिल रही है, और कई देशों में इसे लागू करने के प्रयास चल रहे हैं। यह तेजी से स्वीकार किया जा रहा है कि लोक ज्ञान सफल पारिस्थितिक बहाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान और पारिस्थितिक संरक्षण एवं बहाली के बीच संबंध का पता लगाना है।

मुख्य शब्द : *पर्यावरणीय संकट, लोक समाज, पारम्परिक पारिस्थितिक ज्ञान, पारिस्थितिक संरक्षण*

प्रस्तावना: सैद्धांतिक एवं वैचारिक आधार

प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान के अनुसंधानकर्ताओं ने पर्यावरणीय खतरों से बचने के लिए और पारिस्थितिकी-तंत्र के संरक्षण और बहाली में लोक समाजों के पारंपरिक ज्ञान को एक मॉडल के रूप में लागू करने और सतत विकास की नीति और व्यावहारिकता को मजबूत करके की वकालत की है (गाडगिल, बर्केस, और फोल्के, 1993; बर्केस, 2018)। मानव-पर्यावरणीय अंत:क्रियाओं पर वैज्ञानिक अनुसंधान अब एक उभरता हुआ विज्ञान के रूप में स्थापित हो रहा है। यह अवधारणा यह स्वीकार करती है कि मानव समाज का कल्याण पारिस्थितिकी प्रणालियों के कल्याण से निकटता से संबंधित है। आज पर्यावरणीय संकट और जलवायु परिवर्तन हमारे समकालीन समय की सबसे गंभीर संकटों में से एक हैं, जिनका प्रभाव स्थानीय स्तर से लेकर वैश्विक स्तर पर महसूस किया जा रहा

है। ये संकट मुख्य रूप से मानवीय गतिविधियों, विशेषकर औद्योगिकीकरण, अति-उपभोक्तावाद, और प्राकृतिक संसाधनों के अनियंत्रित दोहन के उत्पाद हैं। औद्योगिक क्रांति के पश्चात से ही पृथ्वी का औसत वैश्विक तापमान लगभग 1.2 डिग्री सेल्सियस बढ़ चुका है। इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज (2021) की रिपोर्ट के अनुसार, यदि वर्तमान उत्सर्जन दर लगातार ऐसे ही जारी रहती है, तो 21वीं सदी के अंत तक तापमान में 1.5°C से 2°C तक की वृद्धि हो सकती है, जो व्यापक पर्यावरणीय और सामाजिक प्रभावों का कारण बनेगी। इससे जन-जीवन तबाह होने के कगार पर रहेगा। जलवायु परिवर्तन को तेजी से गति देने में कार्बन उत्सर्जन की मुख्य भूमिका है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओशनोग्राफी, भारत (2021) की एक रिपोर्ट के अनुसार, सन् 2100 तक समुद्र का स्तर 0.5 से 0.7 मीटर तक बढ़ सकता है। इस रिपोर्ट के आधार पर भारतीय इलाके मुख्यत पश्चिम बंगाल, ओडिशा, और तमिलनाडु जैसे तटीय राज्यों में लाखों लोग विस्थापित हो सकते हैं। इसके अलावा, समुद्र के जल स्तर में वृद्धि से नमक का पानी खेती योग्य जमीनों को बंजर में बदल सकता है, जिससे कृषि उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा। जलवायु परिवर्तन से जैव-विविधता का ह्रास काफी तेज गति से बढ़ रहा है। आई.यू. सी.एन. (2022) के रिपोर्ट के अनुसार, लगभग 1 मिलियन प्रजातियाँ विलुप्त होने के कगार पर हैं, जिनमें जलवायु परिवर्तन सबसे बड़ा कारण है। जलवायु परिवर्तन के कारण प्राकृतिक आवास प्रभावित होते हैं, जिससे कई प्रजातियाँ जीवित नहीं रह पातीं।

वर्तमान स्थिति को लेकर पूर्व में सामाजिक पर्यावरणविदों द्वारा अपने विचार प्रस्तुत किए गए थे। 1980 और 1990 के दशकों में, पूंजीवाद और औद्योगिकीकरण के प्रतिकूल प्रभावों को लेकर दो प्रमुख समाजशास्त्री, एंथोनी गिडेंस और उलरिक़ बेक, ने 'जोख़िम समाज' (रिस्क सोसाइटी) के विचार को प्रस्तुत किया, जिसमें पर्यावरणीय संकट एक प्रमुख चिंता का विषय बताया गया। उलरिक़ बेक (1992) ने पर्यावरणीय संकट को आधुनिक समाज के सबसे महत्वपूर्ण और जटिल जोख़िमों में से एक माना। उन्होंने तर्क दिया कि औद्योगिकीकरण के साथ उत्पन्न होने वाले ये जोख़िम व्यापक सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं को प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में, एंथोनी गिडेंस ने जलवायु परिवर्तन को 21वीं सदी की सबसे जटिल चुनौतीपूर्ण समस्याओं में से एक के रूप में चिन्हित किया, यह बताते हुए कि इसका प्रभाव केवल पर्यावरण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अस्थिरता को भी जन्म देता है। इन विद्वानों के विचार वर्तमान समय में वैश्विक पर्यावरणीय चुनौतियों को समझने और उनका सामना करने के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। पर्यावरणीय समस्याओं की कोई एक सीमित परिधि नहीं होती है, ये देश और काल को लांघते हुए एक चक्र के रूप में सतत चलते रहते है, जिनसे सभी का प्रभावित होना लाजिम है। उलरिच बेक के विचारों में पर्यावरणीय संकट का जोख़िम समाज में संरचनात्मक स्तर पर केंद्रीय भूमिका निभाता है। उनके अनुसार, पर्यावरणीय संकट का उदय इस बात का प्रतीक है कि औद्योगिकीकरण और वैज्ञानिक प्रगति ने केवल भौतिक समृद्धि नहीं, बल्कि गंभीर पर्यावरणीय और स्वास्थ्य जोख़िम भी पैदा किए हैं। लेकिन इसका निज़ात अभी बहुत दूर की चीज़ है।

बेक ने इन जोखिमों को न केवल तकनीकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक संदर्भ में भी देखा है। बेक और

गिडेंस के विचारों पर गहन दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि समाज की भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। समाज पर्यावरणीय समस्याओं से कैसे निपटता है और एक टिकाऊ भविष्य की ओर अग्रसर होता है, ये उसके पारम्परिक चातुरी (विज्डम) से समझा जा सकता है। बेक की सोच वर्तमान वैश्विक मुद्दों, जैसे कि जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता की हानि, और पर्यावरणीय न्याय के आंदोलनों को समझने के लिए अत्यधिक प्रासंगिक है। उनका तर्क था कि इन जोख़िमों का समाधान केवल तकनीकी नहीं हो सकता, बल्कि इसके लिए एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है, जिसमें सामूहिक कार्रवाई, नीतिगत परिवर्तन, और वैश्विक सहयोग शामिल है। जब हम समाज की भूमिका की बात करते हैं तो उनका पारंपरिक ज्ञान सबसे अधिक प्रासंगिक हो जाता है। पारंपरिक ज्ञान को लेकर संयुक्त राष्ट्र (1992) द्वारा जैव-विविधता पर केन्द्रित कन्वेंशन का अनुच्छेद 8 हमें निर्देशित करता है कि हम, "जैव-विविधता के संरक्षण और सतत् उपयोग के लिए प्रासंगिक पारंपरिक जीवन-शैली को अपनाने वाले स्वदेशी और स्थानीय समुदायों का ज्ञान, नवाचारों और प्रथाओं का सम्मान करें, उन्हें संरक्षित करें और बनाए रखें...।" भारत में भी राज्य सरकारों को इस विचार पर गौर करना चाहिए। पारंपरिक ज्ञान आज की सबसे अहम जरूरत बन पड़ी है। पारंपरिक ज्ञान को अलग-अलग समाज, संस्कृतियों और अकादमिकता में इसे अलग-अलग नाम से जाना जाता है। इस पर एक जैसा नामकरण करने की अलग चुनौती है और एक तरीके से खूबसूरती भी है। इसकी कोई एक सार्वभौमिक परिभाषा अभी उपलब्ध नहीं है। एक चुनौती और है कि वो समाज इसे क्या बुलाता है जो इसे प्रैक्टिस करता है। इसे सम्बोधित करने के लिए कई शब्दों का उपयोग किया जाता है (बर्केस, 1993)। जिसमें पारम्परिक पारिस्थितिक ज्ञान, स्थानीय ज्ञान, देशज ज्ञान, लोक ज्ञान, किसानों का ज्ञान, आदिवासी/जनजाति/वनवासी ज्ञान एवं अन्य शामिल हैं। लेकिन इन सब के विमर्श में मूल बात यह है कि इसके केंद्र में प्रकृति के सापेक्ष जीवनबोध की बात होती है। ऐसे समाज की केन्द्रीय दृष्टि ये होती है कि, उत्पादन और उपभोग को अधिकतम करने की तुलना में अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय स्थिरता और अखंडता को संरक्षित करना है। इनका जीवन प्रकृति के हर घटक के साथ सम्पूर्णता में जीवनयापन करता है। जिसमें लोगों के स्थानीय प्रकृति से उनके संबंधों और अंतर्क्रिया के फलस्वरूप उक्त ज्ञान संरचित होता है। पी. जे. उशर परिभाषित करते हैं,

> "पारम्परिक पारिस्थितिक ज्ञान उन लोगों के संदर्भ में वर्णित किया जा सकता है, जिनका लंबे समय से एक विशेष पर्यावरण के साथ अवलोकन और अनुभव जुड़ा होता हैं, जिससे ये परिणामस्वरूप बहुत प्रभावी रूप से कार्य करते हैं, भले ही उन्हें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अनपढ़ माना जाता हो। यह विशेषाधिकार प्राप्त या रहस्यमय ज्ञान नहीं होता, जैसे कुछ सांस्कृतिक घटनाएं- जैसे अनुष्ठान, उपचार या आध्यात्मिकता- कभी-कभी हो सकती है" (उशर, 2000:186)।

इनकी जीवन-दृष्टि प्रकृति के शोषण की नहीं प्रकृति से पोषण पर आधारित होती है। इन समाजों में वस्तुओं के संग्रह और बर्बादी बहुत दूर की चीज होती है। समुदाय के सदस्यों के बीच रिश्ते पारस्परिकता और दायित्वों पर आधारित होते हैं। प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन साझे अर्थों और ज्ञान पर केंद्रित होता है। पर्यावरणीय संकट को देखते

हुए कहा जा सकता है कि, आज समय की जरूरत है कि पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान और वैज्ञानिक ज्ञान का समागम किया जाए। पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान और वैज्ञानिक पारिस्थितिक ज्ञान के बीच सहयोग न केवल प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग को सुनिश्चित कर सकता है, बल्कि इससे नई और नवाचारी समाधानों का उदय भी हो सकता है (गाडगिल, बर्केस, और फोल्के, 1993)। इनके अनुसार, पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों को नजरअंदाज करना एक बड़ी भूल होगी, क्योंकि यह ज्ञान हजारों वर्षों के अनुभव और परंपराओं का परिणाम है।

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान की प्रासंगिकता

आज जब विश्व पर्यावरणीय संकट के दौर से गुजर रहा है तब हमें एक ऐसी जीवनशैली और दृष्टि की जरूरत है जो हमें इससे निजात दिला सके। ऐसे मामलों में हम स्थानीय संस्कृति की ज्ञान परंपरा की और अभिमुख हो सकते हैं। भारत में मानव और प्रकृति के संबंधों एवं उन से उपजे अनुभव और ज्ञान की संस्कृति के रूप में अभिव्यक्ति की एक लंबी परम्परा रही है। वैदिक काल से लेकर अब तक के वाचिक और साहित्यिक धारा में पर्यावरणीय चेतना, पारिस्थितिकी ज्ञान, और प्रकृति के साथ सातत्य पूर्ण जीवनयापन करने की व्यवस्था रही है (मीरा बैंदूर 2015:65)। पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान का महत्व सांस्कृतिक, सामाजिक, और पर्यावरणीय दृष्टिकोण से बहुत गहरा है। यह ज्ञान प्रणाली, जो पीढ़ियों से मौखिक रूप से और व्यवहारिक अनुभवों के माध्यम से सांस्कृतिक रूप से हस्तांतरित होती रही है, स्थानीय समुदायों की आजीविका, सांस्कृतिक पहचान, और पारिस्थितिकी से जुड़े निर्णयों का मूल आधार रही है। पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान समुदायों को उनके स्थानीय पर्यावरण के साथ एक संतुलित और टिकाऊ जीविकोपार्जन का संबंध बनाए रखने में मदद करती है। आज जब पर्यावरणीय संकट का अभिशाप अस्मिता को निगल जाना चाहता है, तब पारंपरिक बोध उसे सहेजकर रखने में सहायक सिद्ध होता है। पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान न केवल आर्थिक गतिविधियों में मदद करता है, बल्कि यह सांस्कृतिक रीति-रिवाजों और परंपराओं में भी बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है। यह ज्ञान स्थानीय समुदायों की सांस्कृतिक पहचान और उनके सामुदायिक संबंधों को स्थिर बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विशेष रूप से आदिवासी और ग्रामीण समुदायों में, प्रकृति के साथ उनके पारंपरिक संबंध उनकी सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़ करते हैं। भविष्य की जोख़िमों से निपटने में एक तरह से जीवनबीमा के रूप में कार्य करते हैं। इसकी प्रासंगिकता कई पक्षों से उजागर होती है, जिन्हें स्पष्ट अवलोकन और इसकी महती भूमिका की समीक्षा की जा सकती है:

जीवनयापन और कल्याणार्थ हेतु

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान लोक समाज की आजीविका, सांस्कृतिक पहचान और उनके सशक्तीकरण की प्रेरणा है, जो उनके अस्तित्व को बनाए रखती है। वर्तमान में, जब विश्व में आधुनिक विचारधारा के समर्थक, जो प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा जमाने की होड़ में हैं, वहीं लोक समाज आज भी प्रकृति के बेहद निकट है। वे अपने पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान के आलोक में प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में आज भी स्थानीय संस्कृतियाँ प्रकृति के प्रति कृतज्ञता के साथ रहती हैं। इनका जीवन प्रकृति से सीधे तौर पर जुड़ा होता है। ये प्राकृतिक वस्त्रों से चटाई

बनाने समान बनाते हैं और उन्हें स्थानीय या शहरी बाज़ारों में बेचते हैं। गाडगिल और गुहा (2018) अपनी पुस्तक में ऐसे ही महाराष्ट्र की दो जातियों का हवाला देते हैं, हलाकी जाति के लोग केवड़ा (पनडानस) के पत्तों से चटाई बनाते हैं, वहीं पतगार साइप्रस की बेंत का प्रयोग करते हैं (गाडगिल और गुहा 2018: 89)। इन पारंपरिक तकनीकों का ज्ञान और उपयोग न केवल आर्थिक रूप से सहायक है, बल्कि यह सांस्कृतिक धरोहर को भी संरक्षित रखता है। इसके अतिरिक्त, पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान जैव-विविधता के संरक्षण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उदाहरण के लिए, आदिवासी समुदाय अपने वन्य क्षेत्र की पारिस्थितिकी को समझते हैं और अपने जीवन के लिए जरूरी संसाधनों का सतत उपयोग करते हैं। यह ज्ञान उन्हें वन्य जीवों, पौधों और अन्य जैविक संसाधनों के संरक्षण में सक्षम बनाता है। माधव गाडगिल और रामचंद्र गुहा (1995) ने अपनी पुस्तक 'इकोलॉजी एंड इक्विटी' में इस बात को रेखांकित करते हुए कहा है कि, "पारंपरिक ज्ञान और आधुनिक विज्ञान के बीच का अंतर, पर्यावरणीय और सामाजिक असमानताओं को समझने के लिए आवश्यक है। वे कहते हैं कि पारंपरिक ज्ञान न केवल स्थानीय समुदायों के जीवन को समृद्ध करता है, बल्कि यह वैश्विक पर्यावरणीय चुनौतियों के समाधान में भी सहायक हो सकता है।" पारंपरिक ज्ञान एक तरह से ऐसे समाजों के लिए टॉर्च बेयरर की भूमिका में होता है।

सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने में

पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान संस्कृति के उन तत्वों में समाहित है जो संस्कृति को पूर्णता प्रदान करते है। इसके माध्यम से कई सामाजिक क्रियाएँ की जाती है जिसमे विभिन्न प्रथाएँ, कर्मकांड, विश्वास और मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। यह सभी एक समग्रता को लिये हुए एक विशेष प्रकार की संस्कृति को प्रतिबिंबित करते हैं। जैसा कि कई विद्वान लिखते हैं कि स्थानीय संस्कृति व पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान मे पृथकता को ढूंढना कठिन है (अग्रवाल, 2009)। यह ज्ञान पीढ़ियों से चली आ रही रीति-रिवाजों, परम्पराओं और सामाजिक प्रथाओं का संग्रह है, जो किसी समुदाय की विशिष्टता को परिभाषित करता है। उदाहरण के लिए, भारत के आदिवासी समुदायों में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान उनके सांस्कृतिक जीवन का केंद्र है, जहाँ यह उनके भाषा, संगीत, नृत्य, कला और सौंदर्य के रूपों में अभिव्यक्त होता है। एक अन्य उदाहरण में, मिथिला के लोक-जीवन में व्याप्त पारंपरिक मिथिला चित्रकला और पारंपरिक बुनाई कला (सिक्की एवं अन्य), उनके सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक है। उनकी चित्रकला और बुनाई की विशिष्ट विधियाँ, रंगों और डिज़ाइनों के साथ, उनके मैथिल संस्कृति की सांस्कृतिक विरासत को दर्शाती हैं। आज विश्व भर में सांस्कृतिक पहचान बचाए रखना सबसे जटिल एवं चुनौतीपूर्ण कार्य बना हुआ है। वहीं, पारंपरिक ज्ञान, सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखने के इस पहलू के साथ समुदायों को बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों के खिलाफ भी सुरक्षा प्रदान करता है। यह ज्ञान उनके समाजों को वैश्वीकरण के दबावों के बीच अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता को बनाए रखने में भी मदद करता है।

पर्यावरण संरक्षण और संसाधन प्रबंधन के रूप में

पिछले कुछ दशकों से पर्यावरणीय संकट मुख्यत: चिंतनीय विषय रहा है, जिसमे जैव-विविधता संरक्षण और संसाधन प्रबन्धन प्रमुख

पक्ष रहे हैं। राज्य व संस्थाओं द्वारा कई नीतियों व कार्यप्रणालियों की व्यवस्था रही है लेकिन बाजार हित के कारण अधिकांश विफल रहे हैं। इनके टॉप-डाउन मॉडल ऊपरी सतह पर सिर्फ एक सिद्धांत बन कर रह गए हैं, जिनका प्रकृति संरक्षण में विफलता के सिवाय कुछ हासिल नहीं हुआ है। वहीं स्थानीय संरक्षण पद्धति नीचे से ऊपर की ओर जाने वाली प्रक्रिया है, जिसमें यह चेतना रहती है कि संसाधनों का इस्तेमाल उचित रूप में किया जाए। लोगों के व्यवहारों को पद प्रदर्शित उनकी संस्कृति में अंतर्निहित पारिस्थितिक ज्ञान करती है, जो विशेष मान्यताओं प्रथाओं, कर्मकाण्ड, लोकाचार और विश्वास द्वारा उनकी वाचिक परंपरा एवं जीवनशैली का हिस्सा होती है, जो दीर्घकाल तक अनवरत संरक्षण करने वाला मॉडल होता है। फिक्रेट बर्केस (2018), जो पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान पर व्यापक शोध कर चुके हैं, ने इस ज्ञान को संसाधन प्रबंधन और सामुदायिक स्थिरता के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण संसाधन के रूप में पहचाना है। अपनी पुस्तक 'सैक्रेड इकोलॉजी' में बर्केस ने बताया है कि पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान न केवल पर्यावरणीय प्रथाओं को निर्देशित करता है, बल्कि यह सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। यह निष्कर्ष कनाडा की 'क्री' आदिवासी और कुछ अन्य आदिवासी समाजों के हवाले से है। बर्केस के अनुसार, यह ज्ञान स्थानीय समुदायों को अपने पर्यावरणीय संसाधनों के साथ लंबे समय तक संतुलित और सामंजस्यपूर्ण संबंध बनाए रखने में सक्षम बनाता है। मिथिला में तालाबों के जरिए जल संचयन की पारंपरिक व्यवस्था और राजस्थान के थार मरुस्थल में 'खड़ीन' व्यवस्था जल संरक्षण का अनुपम मिसाल हैं। स्थानीय जीव-जंतुओं और वनों को लेकर विश्वास की परंपरा संरक्षण की दुहाई देते हैं।

सशक्तिकरण का आधार

पारंपरिक संरक्षण और स्थानीय प्रबंधन के योजनाओं में पारम्परिकक परिस्थिति ज्ञान के समाविष्ट होने से स्थानीय ज्ञान की वैधता, मूल्य, क्षमता एवं दृष्टिकोण को सबल बनाता है। 1973 में उत्तराखंड के मध्य भाग में में चिपको आंदोलन शुरू किया गया, जिसका मुख्य कारण स्थानीय लोगों के पारिस्थितिक ज्ञान की उपेक्षा कर वहां के प्राकृतिक संसाधनों को विकासात्मक कार्यों में उपयोग करने की योजना थी। यह आंदोलन भारत के सबसे बड़े पर्यावरणीय आंदोलनों में से एक बन गया। स्थानीय लोग इसका विरोध करने की प्रेरणा अपने पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान की ही उपज मानते हैं, जो इन्हें अपने अधिकारों के प्रति सशक्त बनाती है। कई अनुसंधानकर्ताओं ने पाया है कि जिन क्षेत्रों में पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान का सम्मान और उपयोग किया जाता है, वहाँ परंपरागत रूप से पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान अधिक सफलतापूर्वक किया जाता है। यह बात स्पष्ट करता है कि आधुनिक विज्ञान और पारंपरिक ज्ञान का संयोजन एक स्थायी भविष्य के लिए महत्वपूर्ण है। पारंपरिक ज्ञान का सशक्तिकरण का आधार होना एक महत्वपूर्ण पक्ष है। वंदना शिवा द्वारा चलाया गया 'नवदन्या आंदोलन' (1987) एक उत्कृष्ट उदाहरण है, जहाँ पारंपरिक कृषि ज्ञान के माध्यम से किसानों को सशक्त किया गया है। इस आंदोलन ने पारंपरिक बीजों के संरक्षण और जैविक खेती को बढ़ावा देकर किसानों को आर्थिक और सामाजिक रूप से सशक्त किया है। इसमें अधिकतर महिलाओं की ही भागीदारी है। नवदन्या आंदोलन इस बात का उदाहरण है कि कैसे पारंपरिक ज्ञान समुदायों को अपनी आजीविका सुरक्षित रखने और बाहरी

कृषि मॉडल के दबाव से बचाने में मदद करता है। इससे इनके जीविका को सुरक्षा की गारंटी मिलती है।

उपसंहार

समाज के अस्तित्व के साथ ही पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव जीवन का अभिन्न अंग रहा है। हाल के वर्षों में इस ज्ञान में बढ़ती रुचि के पीछे यह मान्यता रही है कि यह एक ऐसा ज्ञान है जो प्रकृति, जैव-विविधता, दुर्लभ प्रजातियों, संरक्षित क्षेत्रों, पारिस्थितिक प्रक्रियाओं, और सतत विकास के लिए एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण के रूप में स्वीकार किया गया है (बर्केस, 2018)। यह ज्ञान हमेशा एक विषय के रूप में न सही, लेकिन अनौपचारिक रूप से मानव चेतना में अंतर्वस्तु के रूप में अंतर्निहित रहा है। वर्तमान समय में, जब आधुनिक विकास के मॉडल पर्यावरणीय असंतुलन और संसाधनों के अव्यवस्थित उपयोग का कारण बन रहे हैं, वहीं पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान एक स्थायी और संतुलित जीवन के लिए मार्गदर्शक के रूप में उभर रहा है। यह ज्ञान हमें प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है, जो कि आज की प्रकृति विनाशक और उपभोक्तावादी सोच से परे है। अंततः हम कह सकते हैं कि, पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान न केवल पर्यावरणीय संरक्षण के लिए आवश्यक है, बल्कि यह समाजों के सांस्कृतिक और सामाजिक ताने-बाने और निरन्तरता को भी बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अब इसे संरक्षित और पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है, ताकि यह ज्ञान आने वाली पीढ़ियों के लिए एक स्थायी एवं सतत भविष्य का निर्माण कर सके। पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान में निहित नैतिकता, विवेक, और अनुभवों का महत्व आज के पर्यावरणीय संकट के समय में और भी बढ़ जाता है, और यह हमें एक संतुलित और सतत भविष्य की ओर ले जाने में सहायक हो सकता है।

संदर्भ

- बर्केस, फिक्रेट, 2018. सेक्रेड इकोलॉजी. फोर्थ इडिशन, न्यूयॉर्क: रूटलेज.
- गाडगिल, एम., बर्केस, एफ., और फोल्के, सी., 1993. इंडिजेनस नॉलेज फॉर बायोडायवर्सिटी कांजेर्वेशन. साउथ कैरोलिना, यूएस: एम्बियो, 151–156.
- आईपीसीसी, 2021. क्लाइमेट चेंज 2021: द फिजिकल साइंस बेसिस. इंटरगवर्नमेंटल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज ऑफ सिक्स्थ असेसमेंट रिपोर्ट में वर्किंग ग्रुप I का योगदान. https://www.ipcc.ch/report/ar6/wg1/
- नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ ओशियानोग्राफी (एनआईओ), 2021. इम्पैक्ट ऑफ क्लाइमेट चेंज ऑन कोस्टल इकोसिस्टम्स एंड ह्यूमन वेल-बिइंग इन इंडिया. https://www.nio.org/files/impact-climate-change.pdf
- इंटरनेशनल यूनियन फॉर कंज़र्वेशन ऑफ नेचर (आईयूसीएन), 2022. आईयूसीएन रेड लिस्ट ऑफ थ्रेटन्ड स्पीशीज. वर्शन 2022-1. https://www.iucnredlist.org/
- बेक, यू. (1992). रिस्क सोसाइटी: टुवर्ड्स ए न्यू मॉडर्निटी. लंदन: सेज प्रकाशन, पीपी. 21.
- गिडेंस, ए. (1998). द थर्ड वे: द रिन्यूअल ऑफ सोशल डेमोक्रेसी. पॉलिटी: रिप्रिंट एडिशन, पीपी. 27-28.
- संयुक्त राष्ट्र (1992). कन्वेंशन ऑन बायोलॉजिकल डाइवर्सिटी (संकलनों के साथ). रियो डी जनेरियो, ब्राज़ील: संयुक्त राष्ट्र.
- बर्केस, एफ.(1993). ट्रेडिशनल इकोलॉजिकल नॉलेज इन पर्सपेक्टिव," इन ट्रेडिशनल इकोलॉजिकल नॉलेज: कॉन्सेप्ट एंड केसेस.

इंटरनेशनल प्रोग्राम ऑन ट्रेडिशनल इकोलॉजिकल नॉलेज एंड, संपादक जे. टी. इंग्लिस (ओटावा, कनाडा: इंटरनेशनल डेवलपमेंट रिसर्च सेंटर), 1-9.

- उशर, पी. जे. (2000). ट्रेडिशनल इकोलॉजिकल नॉलेज इन एनवायरनमेंट असेसमेंट एंड मैनेजमेंट. आर्कटिक, 53(2), 183–193. http://www.jstor.org/stable/40512207
- गाडगिल, एम., बर्केस, एफ., और फोल्के, सी., 1993. इंडिजेनस नॉलेज फॉर बायोडायवर्सिटी कांजेर्वेशन. साउथ कैरोलिना, यूएस: एम्बियो, 151–156.
- बैंदूर, एम . (2015). नेचर इन इण्डियन फ़िलासफ़ी एंड कल्चरल ट्रेडिशंस. स्प्रिंगर
- गाडगिल, माधव और गुहा, रामचंद्र. (1992). दिस फ़िश्यर्ड लैंड: ऐन इकोलॉजिकल हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया. हिंदी संस्करण,यह दरकती ज़मीन, अनुवादक: कमल नयन चौबे, 2018. ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली
- गाडगिल, माधव और गुहा, रामचंद्र, 1995. इकोलॉजी एंड इक्विटी: द यूज़ एंड एब्यूज़ ऑफ नेचर इन कंटेम्पररी इंडिया. नई दिल्ली: पेंगुइन इंडिया.
- अग्रवाल, ए. (2009). व्हाई "इंडिजेनस" नॉलेज? जर्नल ऑफ़ द रॉयल सोसाइटी ऑफ़ न्यूज़ीलैंड, 39(4), 157-158.
- बर्केस, फिक्रेट. (2018).
- https://www.navdanya.org/
- बर्केस, फिक्रेट. (2018).

जांजगीर चाम्पा जिले में प्रचलित हस्तकलायें - एक अध्ययन

श्री रामरतन साहू, दिनेश कुमार राठौर

सारांश

जांजगीर-चाम्पा जिले में हस्तशिल्प का इतिहास काफी गौरवपूर्ण एवं समृद्धशाली रहा है। भारत के मध्य में स्थित छत्तीसगढ़ राज्य के अंतर्गत जांजगीर -चाम्पा जिला अपनी कला संस्कृति और संपन्नताओं के लिये पूरे राज्य में प्रसिद्ध है। वर्तमान जांजगीर-चाम्पा जिले की स्थापना 25 मई सन् 1998 को हुई थी। मध्यकालीन इतिहास में कलचुरी नरेश जाज्वल्यदेव प्रथम ने इस नगर की स्थापना बारहवी शताब्दी में की थी 1 हस्तकला ऐसे कलात्मक कार्य को कहते है जो उपयोगी होने के साथ साथ सजाने के काम आता है। जिसे मुख्य रूप से हाथ से या सरल एवं छोटे औजारो की सहायता से बनाया जाता है। छत्तीसगढ़ के साथ-साथ जांजगीर जिला हस्तशिल्प का सर्वोकृष्ट केन्द्र माना जाता है। यहां दैनिक जीवन की सामान्य वस्तुएं भी कोमल एवं कलात्मक रूप से गढ़ी जाती है।

शब्दकुजीं- *गुनगुनाने, अर्जुन, पंखुड़िशें, उमरेली, मर्यादित, बहेराडीह, सर्वोकृष्ट, रेशम, शताब्दी।*

प्रस्तावना

जांजगीर-चाम्पा जिला हस्तकलाओं के लिये विश्वविख्यात है जीवन के मन में लड़ते हुए लहुलुहान मनुष्य ने जब लहू पोंछकर मुस्कुराने की चेष्ठा की, गीत गुनगुनाने का प्रयास किया, सुख संजाने का प्रयत्न किया, तब कला की कली अनजाने ही खिली खिलखिलायी। जांजगीर जिले के हस्तकलाअें में कोसा कला, कंचन कला, काष्ठ कला, मिटटी से बनने वाली वस्तुए, गोदना कला, गोबर चित्रकला, पत्ता कला आदि कलाये जिले को एक अलग पहचान दिलाती है। कई समुदायों एवं जातियों के लिये हस्तशिल्प आय का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत हैं। हस्तशिल्प का विस्तार परंपराओं को बचाने उनके पूर्नमूल्यांकन करने और उन्हें आगंतुको के साथ साझा करने का एक तरीका है। इस जीवन में युद्ध ही सब कुछ नहीं है, उससे भी श्रेष्ठ, उससे भी सुंदर कुछ है। उसी सुंदर का उसने कला का रूप दिया।

जिले की प्रमुख हस्तकलाएं

कोसा कला- जिले में कोसा वस्त्र बनाने का इतिहास 200 वर्षो से भी अधिक है। कोसा एक प्राकृतिक कीट उत्पाद है यह कीट मुख्य रूप से अर्जुन, साल,साजा के वृक्षों पर पाये जाते है। कोसा फल से उत्पन्न रेशे से बने वस्त्र को कौशेय और कोसा की बुनकरी व व्यावार करने

सह. प्राध्यापक (इतिहास), डॉ. सी.वी.रमन् विश्वविद्यालय, करगीरोड, कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)
शोधार्थी : डॉ. सी.वी.रमन विश्वविद्यालय करगीरोड, कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)

वाली जाति को कोष्ट कहा जाता है जो संशोधित होकर वर्तमान में देवांगन शब्द का रूप ग्रहण कर चुका है।

जांजगीर-चांपा में निर्मित कोसा सिल्क को दुनिया में सबसे अच्छे सिल्क में शुमार किया जाता है। पूरी दुनिया से अपने नर्म टेक्सचर सिल्क जो कि सबसे शुद्ध प्रकारों में गिना जाता है। इसकी लोकप्रियता विदेशी पर्यटकों के आगमन के साथ ही यहां की कोसा सिल्क साड़ियो के निर्यात में दिनों-दिन बढ़ोतरी हो रही है इसकी खासियत इसका रंग है। यह प्राकृतिक रूप से हल्के सुनहरे रंग में मिलता है। जिसे पलाश, लाख और गुलाब की पंखुड़ियों से बने रंगों से डाई किया जाता है। कोसा निर्माण के लिए ककून को मिलाकर एक पूरा धागा तैयार होता है। इसके बाद रंग लगाया जाता है फिर इस धागे से साड़ियों को तैयार किया जाता है। जो कि 7 से 8 दिनों के कठिन परिश्रम के बाद साड़ी डिजाईन तैयार होता है। साड़ियों का विशाल कलेक्शन जिले के बाजार में उपलब्ध है। कोसा के विभिन्न प्रकार होते है जैसे मलबरी कोसा, तसर कोसा मूंगा कोसा, एरी कोसा पोली कोसा रैली कोसा एवं उष्णकटिबंधीय तसर मोंमरा कोसा इन्हे राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय बाजार में बहुत पसंद किया जा रहा है।

जिले के बुनकर हाथों से न केवल सूत बुनता है बल्कि उसमें उसकी संवेदना तथा भाव भी शामिल होता है। हाथकरघा पर बुनी हुई पारंपारिक साड़ियाँ बनावट एवं डिजाईन की समृद्धि के लिए अलग ही स्थान रखती है हाथकरघे की बुनाई हस्त कला का बहुमुखी एवं सृजनात्मक प्रतीक है। आज जिले के रेशम खास तौर से हाथकरघा उत्पादों के क्षेत्र में उत्कृष्ठ तो है ही साथ ही विश्वसनीय भी है। चाम्पा व उनसे लगे ग्राम सिवनी, उमरेली, बाराद्वारा, ठठारी, बेलादुला, जांजगीर बलौदा में हजारों देवांगन परिवार बुनकरी कार्य करते है। यहां के बुनकर समुदाय के लगभग 5 हजार बुनकर परिवार कोसा सिल्क की नगरी चाम्पा में निवासरत है। इनकी बुनकरी कला के साथ इन्हे स्वरोजगाार या कौशल विकास जैसे राजनीतिक मुददे को प्रभावित करने के साथ-साथ इस विशेष व्यवसाय में महारत रखते है जो समाज के लगभग सभी वर्गो तक सीधी पहुंच बनाती है।

कंचन कला - जिले के हस्तशिल्प कला की दूसरी प्रमुख विशेषता यहां पर पाई जाने वाली कंचन निर्मित आभूषण है। चाम्पा में स्वर्णकार जाति के कारीगरों द्वारा बनाए जाने वाले स्वर्ण गहनों की पारंपरिक आभूषणों का निर्माण अधिक मात्रा में होता है। एक समय था जब चांपा के सोनार मोहल्ला में शायद ही ऐसा कोई घर रहा होगा जहां सोना-चांदी का काम नहीं होता था। चांपा में बनने वाले ऐसे-ऐसे आभूषण है जिनका नाम लोगो ने शायद ही सुना होगा और ये सभी आभूषण सिर्फ और सिर्फ चांपा में ही बनते है। सर्वप्रथम सोने के आभूषणों में - अर्यरिंग, बुलाक, कंठा, दुलरी, तिलरी, कटवा, ढार, तरकी, पटिया, खिल्वां, बेपला नाथ, गुखरू, पंखा बारी, चार फोकला, झाला, नथ, झुमका, चंपाकली, गजमन दाना, करनफूल, फूली, बिंदिया, चुड़ी इतयादि और भी अनेक आभूषण इसी प्रकार चांदी के आभूषणों में- तोड़ा, चूरा, पैरी, ढलवा, पैरी, रायगढ़िया पैरी, सारंगढ़िया पैरी, कलदार, पोगरी, बहुटी, पैजनिया, बहुटा, गढ़गड़िया, नवराई बहुटा, कटहर, लच्छा, करधन, चैनकड़ा, पैरपटटी, चुड़ी, नागमोरी, सांटी, कड़ा, ककनी और सबसे मशहूर चांपा के डाईस पायल जिसे आज भी चांपा पायल के नाम से जाना जाता है।

कांसा कला - हस्त कला के अंतर्गत जिले में कासा कला का भी प्रमुख स्थान है। कांसे का बर्तन का निर्माण चांपा में निवासरत कसेर जाति

के कांरिगरों के द्वारा किया जाता है। कांसे का बर्तन जहां चांपा की पहचान है वही छत्तीसगढ़ की परम्परा का वाहक भी है छत्तीसगढ़ में बेटी की विदाई तब तक नहीं होती जब कि उसे कांसे के बर्तन का पचहड़ (जो पांच प्रकार के कांसे का बर्तन) नहीं दिया जाता है। जिले के गांवों में सबुह के भोजन में बटकी में बासी और मलिया में साग और नमक खाया जाता है व बटकी और मलिया भी कांसे का होता है। कांसा बनात कैसे है? कांसा रांगा और ताम्बा के मिश्रण को कहते है। कांसा तीन प्रकार का होता है। उत्तम प्रकार के कांसा से बटकी, थाली, मलिया (प्लेट), कटोरा, लोटा, तेलही, कटोरी, बटकुलिया, मंजीरा झांझ, दीपक, घंटी, विजयघंट बनता है। मध्यम प्रकार के मसकेल कांसा का उपयोग ढलवॉ बर्तन बनाने के काम में आता है। जिसमें मलिया, कटोरी, लोटा, गिलास, त्रिशूल, दीपक, कलश झांझ एवं मूर्तियों ढाली जाती है। नेर कांस जिसमें हल्के स्तर का ताम्बा व रांगा का मिश्रण होता है इससे भी लोटा, बटुआ, कटोरी, गिलास, मूर्ति एवं आरती का निर्माण किया जाता है। कांसे का बर्तन दो प्राकर से बनता है। पहला गले हुये कांसे को पीटकर या डाइप्रेशर से तथा दुसरा ढलाई कर।

कारीगरों द्वारा पीटकर बर्तन बनाने के लिये उचित मात्रा में रांगा व ताम्बा के गले मिश्रण को घरिया (क्रूसीबल) में डालकर कोयला की भटठी में पुरी तरह से गलाया जाता है। फिर जिस साईज का बर्तन बनाना होता है उस हिसाब से मिटटी के सांचे में ढालकर डल्ला प्राप्त किया जाता है। फिर बार - बार गर्म करके 6 से 9 आदमियों द्वारा हथौड़े से लगातार पीटकर उसे अपेक्षित बर्तन का आकार दिया जाता है,फिर उसकी कटाई छिलाई कर फिनिसिंग किया जाता है। जब बर्तन तैयार हो जाता है। तब नम्कासी का काम कसेर समाज के महिला एवं पुरूषों के द्वारा किया जाता है। फिर उसे बाजार में बेचने के लिए भेज दिया जाता है। चांपा के कसेर समाज के लोगो की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही है।

चांपा के कांसा उद्योग के मजदूरों को सादा के लिये काम मिल सकता है। जब सरकार या व्यापारी बड़ा कारखाना खोलकर सही मजदूरी देकर काम कराये।

केले के रेशे से कपड़ा बनाना - प्रदेश का एक मात्र जिला है जांजगीर-चाम्पा जहां पर हाथों से केले के रेशे से कपड़ा बनाया जाता है। अन्नदाता किसान बहुउद्देशीय सहकारी समिति मर्यादित बहेराडीह व आर्शीवाद महिला सोसायटी पुराने का छ.ग. में पहला सफल प्रयोग बहेराडीह सिवनी चाम्पा में हुआ है। केला का पौधा धरती पर एक ऐसी पौध है जो मनुष्य के जन्म और मृत्यु में काम आता है केले के पौधे से तैयार फल का इस्तेमाल लोग फल व सब्जी के रूप में करते है। और इसका फल तोड़ने के बाद सड़क किनारे पत्ते व तनों को फेंक देते है। मगर छत्तीसगढ़ में जांजगीर चाम्पा जिला मुख्यालय से करीब 22 किलोमीटर दूर चाम्पा रायगढ़ राष्ट्रीय सड़क मार्ग पर स्थित कोसमंदा गांव की महिलाये, अन्नदाता कोआपरेटिव बहेराडीह आर्शीवाद कोआपरेटिव पुरेना के सहायोग से केले के तने से रेशा निकालकर कपड़ा तैयार कर रहे है और पत्ते का इस्तेमाल मवेशी खिलाने एवं तने के छिलके का टाइकोडर्मा युक्त खाद बनाने में कर रहे है। जांजगीर जिले के बलौदा ब्लाक में कृषक तथा महिला समूह मिलाकर 50 समूह है इनमे कोसमंदा गांव के उक्त समूह भी शामिल है जो सोयायटी के मार्गदर्शन पर केले के रेशे से कपड़ा तैयार कर रहे है।

अलसी डंठन के रेशे से निर्मित लिनेन कपड़ा - प्रगतिशील कृषक श्री रामाधार देवांगन जी ने इंदिरा गांधी कृषि वि.वि रायपुर एवं कृषि

विज्ञान केन्द्र जांजगीर चाम्पा के सम्पर्क में आने के पश्चात अतिरिक्त आमदनी में वृद्धि के लिए कृषि कार्य के अतिरिक्त, रेशम कीट पालन व कोसा उत्पादन के साथ अलसी डंठल को एकत्रित करना शुरू किया। तत्पश्चात रेशायुक्त डंठन को अलग कर धूप में सुखा दिया फिर अच्छी तरह से धूप में सुखने के बाद रेशायुक्त डंठल को तकनीकी रूप से परिवर्तित कर गन्नारस निकालने वाली मशीन से पेराई करने पर रेशे प्राप्त हुए। प्राप्त रेशे की सफाई करके धागे के रूप में प्रयोग करके कपड़े की बुनाई की जाती है। अलसी से प्राप्त रेशे से धागे का निर्माण कार्य पूर्ण रूप से महिलाओं द्वारा हाथो से ही सम्पन्न किया जाता है। तथा अन्य कार्य में पुरूष सहयोग करते है।

गोदना कला - हस्तकला का बहुत सुन्दर उदहरण गोदना है। गोदना जिसे अंगेजी भाषा में टेटु कहा जाता है। जिले के जनमानस का एक मुख्य आभूषण है। यहां की अधिकांश जनजातियां अपने श्रृंगार में गोदना को प्रमुख स्थान देती है। आभूषण के तौर पर यह ना केवल स्त्रियों में बल्की पुरूषों में भी समान रूप से लोकप्रिय है। जिले की महिलाये इस प्रमुख आभूषण को अपने बांह, हाथ, पैर, ठोड़ी, गाल आदि में से किसी एक ना एक स्थान पर अवश्य गोदवाली है। गोदना की आकृति सुगढ़ व अर्थपूर्ण होती है। सामान्यत: ये आकृतियां किसी ना किसी पशु, आरध्य देवताओ, पवित्र वस्तुओं इत्यादि की होती है। जो कि इनके धार्मिक भावों को अभिव्यक्त करती है। हाथों से गोदना मानव-शरीर पर बनाए जाने वाले स्थाई चित्र हैं। यह छत्तीसगढ़ की पारंपरिक चित्र कला है। अब यह अंतराष्ट्रीय फैशन स्टेटमेंट भी बना है। साथ ही जिले के रामनामी गोदना पर्यटकों को भी आकृष्ट कर रहा हैं जिले में गोदना हस्तशिल्प सभी गांवो में प्रचलित है। पारंपरिक रूप से देवार महिलायें चित्रांकन का कार्य करती रही है। जांजगीर जिले के रामनामी एक अद्भूत परपरा के संवाहक है इस परंपरा के वाहक अपने सम्पूर्ण शरीर को राममय कर लेते हैं उनके सम्पूर्ण शरीर पर रामनाम का गोदना होता है यह परंपरा कोई सौ सवा सौ साल पहले समाज में व्याप्त उच नीच, छुआछूत के प्रति प्रतिकार को लेकर प्रारंभ हुइ थी।

1890 से 1911 में चांपा के करीब चाकपारा ग्राम के परशुराम ने अपने सम्पूर्ण शरीर पर रामनाम गुदवाकर निराकर राम की पूजा का यह सिसिला प्रारंभ किया था। तब लाखो लोगो ने उनका अनुसरण किया इस परंपरा के तहस सम्पूर्ण शरीर पर रामनाम का गोदना गुदवाये लोगो की जमात अपने अतिम दौर में है।

स्पष्ट है कि गोदना चित्रकारी पराशक्ति और जादू आदि से अधिक प्रेरित है यह टोटके के रूप में प्रयुक्त है। बिच्छु मधुमख्खी, मुर्गा-मुर्गी, मृग-मृगी, अश्व युगल आदि प्रजनन शक्ति को जागृत बनाए रखने हेतु बनवाए जाते है। कर्ण वेदन उपनयन आदि अनुष्ठानों से भी इसे जोड़ा गया है सतनामी रामनमी पूरे शरीर पर रामनाम गुदवाते है यह पर्यटन आकर्षण भी बना है और राशि दोष दूर करने को भी गोदना बनवाया जाता है

मिटटी कला - मिट्टी शिल्प का प्रत्यक्ष उदाहरण जिले के प्रसिद्ध पोला पर्व मे देखा जा सकता है जिसमें बच्चे मिटटी के बने बर्तनों व खिलौने से खेतले है तथा मिटटी के पहिए लगे हुए बैलों को चलाते है आदिकाल से ही मानव मिटटी का प्रयोग गृह निर्माण, चूल्हे, बर्तन इत्यादि के निर्माण में करता आया है। मानव ने सबसे पहले मिटटी के बर्तन बनाए थे। जिले में भी प्राचीनकल से ही मिटटी के बर्तन ईंट मूर्तियॉ इत्यादि को बनाने की परंपरा चली आ रही है। विभिन्न पर्वो में मिटटी के घडे बनाकर उन्हे विभिन्न तरीकों से

सजाने के लिए कुम्हार परंपरागत व कलात्मक तकनीको का प्रयोग करते है।

जांजगीर चाम्पा जिले में उपयोगी घरेलू सजावटी समान खिलौने आदि का कुम्हार पारंपरिक मृदा हस्तशिल्प का कार्य करते है। यह कार्य कुम्हार चाक से करता है। खपड़े, दिये घड़े मटके सुराही जैसे उपयोगी घरेलू सामान, कई सजावटी समान और खिलौने आदि कुम्हारी कार्य से बनते है। जिले में मृदा शिल्प और कुम्हारी कार्य में पूरा परिवार लगता है इसे काले और गेरूए लाल रंग में बनाया जाता है। नदी से मिट्टी ला कर उसे कूट छन और भिगोने के उपरांत मसल कर गूथते है और गाय के गोबर के कण्डे के राख को मिलाते है। इसका लोंदा बना कर लकड़ी के पाट से खीचते है जिससे कंकर पत्थर बाहर हो जाता है। इस प्रकार सब कार्य कुम्हार अपने हाथो से करता है।

काष्ठ कला - जांजगीर चाम्पा जिले में बढ़ई, काष्ठ के पारम्परिक हस्तशिल्पी रहे है। काष्ठ, गृह निमार्ण की भी सर्वाधिक प्राचीन सामग्री रही है। यह कार्य भी हाथ से ही होता आया है। बढ़ई सभी उपयोगी और सजावटी समग्री बनाते रहे है। ये लोग प्राय: सभी ग्रामों में है तथा टेबल, मेज, कुर्सी सोफा, पीढ़ा मथानी, रहल (पुस्तक रख कर पढ़ने का उपकरण) आलमिरा, दरवाजे, खिड़की आदि काष्ठ सामग्रियां बनाते है। इनके निर्माण में कई नवाचार भी हुए हैं। रन्दा, आरी, हथौड़ी आदि उनके उपकरण है। गृह निर्माण कार्य में काष्ठ से किए जाने वाले सभी कार्य बढ़ई ही करते है। बढ़ईगिरी कार्य करने वाले बढ़ई के दो पृथ्क कार्य विभाजन है। एक समूह कृषि उपकरण बनाता है और दुसरा समुह उपयोगी और सजावटी समाग्री बनाता है। दोनों समूह का उद्देश्य अपने परिवार के लिये जीविकापर्जन करना है। जिले के अधिकांश बढ़ई आधुनिक एवं प्रचीनता का समिश्राण कर अपना कार्य बहुत अच्छे ढंग से कर रहे है।

पत्ता शिल्प - जिले के पत्ता शिल्प के कलाकार मूलत: झाड़ू बनाने वाले होते है। ये छिन्द के पत्तो से कलात्मक खिलौने, चटाई, आसन, दुल्हा-दुल्हन के मौड़ (मौर), साज-सज्जा की वस्तुएं इत्यादि बनाते है। सभी वस्तुयें पेड़ पौधो के पत्ते से बनता है। पतरी का निर्माण भोजन करने के लिये करते है। पत्ता शिल्प आदिवासियों की प्राकृतिक कला है, जिसका प्रयोग वे प्राचीनकाल से करते आ रहे है। गांवो में कोमल हरे घास व पातों का उपयोग कर अनेंक प्रकार की दैनिक उपयोग की वस्तुओं जैसी-झाड़ु, खरेटा, टोकर आदि का निर्माण करना अब जिले के जनजातियों के आय का प्रमुख स्त्रोत बन गया है। जिले के गांवो में इस हस्तशिल्प कला का अत्यधिक उपयोग होता है।

गोबर चित्रकला- जांजगीर चाम्पा एक कृषि प्रधान जिला है, इसलिये यहाँ के अधिकांश पर्व, उत्सव, लोक कलाएं आदि किसी ना किसी प्रकार के से कृषि पर आधारित है। दीपवाली के समय गोवर्धन पूजा के दिन धान की कोठी में गोबर से अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते है। तथा अन्न लक्ष्मी की पूजा जाती है। गोबर चित्रकला समृद्धि की कामान हेतु की जाती है। जिले के अधिकांश घरो में नाग पंचमी के दिन गोबर से नांग का चित्र बनाया जाता है तथा शादि विवाह में भी गोबर से चित्र बनाकर पूजा की जाती है।

चैक कला- जांजगीर जिले में लगभग सभी शुभ अवसरो, त्यौहरों, पर्वो व अनुष्ठानो में चैक चित्रकला छत्तीसगढ़ जनमानस की अभिन्न व आकर्षक भावाभिव्यक्ति है। बेल-बूटों, पग चिन्हों इत्यादि की विभिन्न आकृतियों की श्रृंखलाबद्ध सज्जा जिले के गांवों में दिखई देती है। चैक

एक ऐसी चित्रकला है जो लगभग रंगोली के समान ही है, परंतु इनमें एक महत्वपुर्ण अंतर यह है कि रंगोली में विभिन्न कलाकृतियों को धरती पर रंगो के माध्यम से उकेरा जाता है, जबकिं चैक में बेल-बूटों, पग चिन्हों इत्यादि की विभिन्न आकृतियों को गोबर की लिपाई के ऊपर भीगे चावल के घोल से चैक पुरा (माड़ा) जाता है। यहाँ चॉवल के सूखे आटे से भी चैक माड़ने की परंपरा है।

बाँस शिल्प- बाँस शिल्प में, बाँस शिल्प से सजावटी और उपयोग समाग्री बनाई जाती है। बाँस हस्तशिल्प को बॉस मिशन से जोड़ा गया है। बाँसुरी तो बाँस से ही सम्बद्ध रही है। इसमें नवाचार भी हुआ है। बाँस से कई नवीन सजावटी सामान और फर्नीचर बनाए गए है। बाँस चीरने और चिकने करने हेतु नई तकनीकि सामने आई है। बाँस से परम्परागत सुपा, टुकनी, हाथ पंखा, परी, झांपी आदि बनाई जाती है। बाँस जिले के स्थानीय और जनजातिय घरों के कार्य व्यवहार में सर्वाधिक उपयोग होने वाली वस्तु है। इसकी तुलना अन्य किसी भी वस्तु या कला से नहीं की जा सकती।

उपसंहार - जांजगीर चाम्पा जिला हस्तकलाओं के क्षेत्र में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी विशिष्ट पहचाना बनाये हुये है। जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित हो रही है। हस्तशिल्प का आंरभ और विकास स्थानीय आवश्यकताओं से होकर स्थानीय सामग्री की उपलब्धता, धार्मिक विकास, धारणाओं संरक्षण दाताओं की रूची, स्थानीय मांग और आवश्यकता, व्यापार, रहन-सहन आदि की परिधि में ही विकसित होता है। इसके विकास और निर्धारण में स्थानीय मिलने वाली सामग्री और उपयोगिता मार्ग निर्माता होता हैं यहाँ की हस्तकला किसी की जीवन, तो किसी की इच्छा, अभिव्यक्ति तो किसी की संस्कृति और किसी की परम्परा है। यहां पर सभी लोग मिल जुल कर कार्य करते है और सभी एक दूसरे का सहयोग कर इस कला को आगे बढ़ा रहे है। जांजगीर चाम्पा जिले की हस्तशिल्प कला सदियों से जीवित है उसका स्वरूप अधिक परिवर्तित नहीं हुआ निर्माण प्रक्रिया में भी कुछ बदलाव आये है। परन्तु कुछ पारंपरिक कलाओं को बदल नहीं सकते है। जिले का हस्तशिल्प स्थानीय सामग्री की शर्तो, स्थानीय मांग स्थानीय अभिरूची और स्थानीय जीविका के कारण स्वत: अपने बल पर अभी तक पूर्ण उन्नत मस्तक के साथ टिका हुआ है और आगे भी यही इसका प्रमुख आधार रहेगा। शासन स्तर पर भी इनको उतना सहयोग नही मिला जितना इनको मिलना चाहिये था। फिर भी जिले के कलाकार कारीगर और जनता बधाई के पात्र है जो पुर्ण क्षमता और लगन के साथ इस कला को आगे बढ़ा रहे है।

संदर्भ सूची -

1. सोनी रमाकांत, 2008, अतीत से वर्तमान तक
2. चोपड़ा सीमा, 2013, छत्तीसगढ़ एक परिचय
3. साह हरिओम, 2013, छत्तीसगढ़ साहित्य एवं संस्कृति
4. पटैरया शिवअनुराग, 2014 छत्तीसगढ़
5. जाज्वल्य पत्रिका 2016
6. शील साहित्य परिषद, 2018
7. नप भारत दैनिक समाचार, 208
8. नवभारत दैनकि समाचार जून 2018

अष्टछाप कवियों का काव्य एवं संगीत

मनीष कुमार कुर्रे, डॉ॰ चंद्रकुमार जैन

शोधसार

अष्टछाप कवियों का हिन्दी साहित्य में ही नहीं अपितु संगीत साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इनके अन्तर्गत वल्लभाचार्य के चार शिष्य - कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास। बाकी चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे - गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीत्तस्वामी, और चतुभुर्जदास। सम्प्रदाय में अष्टछाप को ''अष्टसखा'' कहा गया। यह आठों सखा श्रीनाथ जी की मूल लीला के सखा हैं, जो सं0 1556 में श्रीनाथ के स्वरूप के साथ उनकी सेवा के लिए धरती पर अवतरित हुए। श्रीनाथ जी ने अपने आशीर्वाद की छाप लगाई थी तभी से ''अष्टसखा'' या ''अष्टछाप '' के नाम से प्रसिद्ध हुए। अष्टछाप द्वारा गाये जाने वाली संगीत की अपनी एक निश्चित स्वरबद्धता, लयबद्धता, तालबद्धता होती है। इस तरह अष्टछाप का संगीत प्राचीन सुवर्ण आध्यात्मिक विरासत लिए हुए है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग कहने के पीछे इन कवियों का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। अष्टछाप के सबसे वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्यों में कुम्भनदास जी प्रथम शिष्य थे। अष्टछाप कवियों में सूरदास जी का स्थान सर्वोपरि है। सूरदास के संगीत पक्ष पर विचार करते हुए डॉ0 आशालता ने लिखा है -''अष्टछाप के सभी संत शिक्षित थे। उनके काव्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र का विधिवत ज्ञान था। काव्य और संगीत की उच्चता की दृष्टि से अष्टछाप कवियों में परमानन्द जी का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कन्नौज के रहने वाले थे और हरि कीर्तन के कारण स्वामी नाम से विख्यात हुए। कृष्णदास जी वल्लभाचार्य के प्रमुख चार शिष्यों में से थे। वल्लभाचार्य के प्रथम शिष्य कृष्णदास जी ही थे। यह सत्यवादी थे। गोविन्दस्वामी न केवल उच्चकोटि के भक्त थे बल्कि एक अच्छे व्यक्ति एवं संगीतज्ञ भी थे। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका विवाह हुआ व एक संतान भी थी। ''अष्टसखान की वार्ता'' और ''दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'' में इनके जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है। भक्तमाल के अनुसार नन्ददास जी रामपुर (उत्तरप्रदेश) के निवासी थे। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में कहा गया है कि ये तुलसीदास के छोटे भाई थे, अष्टछाप में सूरदास के पीछे इनका ही नाम लिया जाता है। इनके संबंध में एक कहावत प्रसिद्ध है - और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया। वार्ता से ज्ञात होता है कि छीत्तस्वामी का जन्म सं. 1567-72 के मध्य मथुरा में हुआ था और ये मथुरा के चैबे थे। इन्हें लोग छीत्तू कहा करते थे। एक बार इन्हें मसखरी सूझी कि विट्ठलनाथ जी की परीक्षा ली जाय। जिसका मैंने शोध आलेख में वर्णन किया है। चतुभुर्जदास परम संत कवि थे, ये अष्टछाप के कवि कुम्भनदास के सबसे छोटे साँतवें पुत्र थे। परम विरागी और श्री नाथ जी की सेवा में नित्य नवीन पद रचकर समर्पित करते थे।

मुख्य शब्दः- भक्ति, अष्टछाप, अष्टसखा, पुष्टिमार्ग, संगीत।

शोधार्थी : पता - मेरेगाँव, अम्बागढ़ चैकी, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़, पिनकोड - 491665
शोध निर्देशक : हिन्दी विभाग, शास. दिग्विजय महा. राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़

उद्देश्य:- 1. अष्टछाप के कवियों का परिचय जानेंगे।

2. अष्टछाप के उद्भव-विकास को जानेंगे।

3. भारतीय संगीत को समझते हुए संगीत परम्परा में अष्टछाप के कवियों का योगदान को जानेंगे।

भूमिका:- भारतीय संगीत परम्परा में अष्टछाप संगीत जिसे पुष्टिमार्गीय संगीत भी कहा जाता है, का अत्यधिक महत्व है। ब्रज भाषा में श्री कृष्ण जी का लीला-वर्णन यदि अष्टछाप का वण्र्य विषय है तो ध्रुवपद-धमार उस लीला की गायन पद्धति है। अष्टछाप काव्य संगीत पुष्टिमार्ग के आचार्य वल्लभाचार्य के पुत्र आचार्य विट्ठलनाथ द्वारा स्थापित आठ कृष्ण भक्त कवियों का समूह है, जिसे पुष्टिमार्ग या अष्टछाप का प्रचार-प्रसार एवं भगवान श्री नाथ जी की सेवा करने के लिए नियुक्त किया गया था। इन कवि संगीतज्ञों ने ''अष्टश्रृंगार'' अथवा ''अष्टयाम-सेवा'' के माध्यम से विभिन्न पदों की रचना की जो अनेक रागों और तालों में गाये जाते हैं। अष्टछाप सेवा में राग अर्थात् संगीत का विशेष महत्व है। गायन की क्रिया कीर्तन कही जाती है और गायक कीर्तनेय। कई शताब्दी पश्चात् आज भी वह कीर्तन प्रणाली उसी मर्यादा से पुष्ट है, जिसकी मर्यादा अष्टछाप के कवियों ने अपने समय में बाँधी थी।

अष्टछाप:उद्भव-विकास:- अष्टछाप संगीत का उदय एवं विकास 15 वीं से 17 वीं शताब्दी के बीच जो भक्ति आन्दोलन दक्षिण भारत में प्रारम्भ हुआ और उत्तर भारत में रामानन्द द्वारा लाया गया। उसी भक्ति आन्दोलन की एक कड़ी के रूप में हम अष्टछाप के स्थापना को मानते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह समय भारतीय इतिहास में ''मध्यकाल'' के नाम से जाना जाता है, किन्तु हिन्दी साहित्य की दृष्टि से ''भक्तिकाल'' के नाम से विभूषित किया गया है। अष्टछाप कवियों द्वारा रचित एवं गाए जाने वाले कीर्तन ही कालांतर में ''हवेली संगीत'' कहलाया।

अष्टछाप की स्थापना:- प्रभूदयाल मीतल के अनुसार अष्टछाप की स्थापना वर्ष सं0 1602 वि0 तय किया गया। सम्प्रदाय में अष्टछाप को ''अष्टसखा'' कहा गया। यह आठों सखा श्रीनाथ जी की मूल लीला के सखा हैं, जो सं0 1556 में श्रीनाथ के स्वरूप के साथ उनकी सेवा के लिए धरती पर अवतरित हुए। श्रीनाथ जी ने अपने आशीर्वाद की छाप लगाई थी तभी से '' अष्टसखा'' या ''अष्टछाप '' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन आठों में से वल्लभाचार्य के चार शिष्य थे - कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास, कृष्णदास। बाकी चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे - गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीत्तस्वामी, और चतुभुर्जदास।

श्री गोवर्धन नाथ जी के प्राक्ट्य की वार्ता में श्री द्वारकेश जी कृत एक छप्पय में इन अष्टाखाओं के नाम (मूल नाम सहित) दिए गए हैं:-

सूरदास सो तो कृष्ण, तोक परमानन्द जानो।
कृष्णदास सो ऋषभ, छीत्तस्वामी सुबल बखानो।।
अर्जुन कुम्भनदास, चतुभुर्जदास बिसाला।
विष्णुदास सो भोज स्वामी गोविन्द श्रीदामाला।।
अष्टछाप आठों सखा श्री द्वार केसे परमान।
जिनके कृत गुनगान करि, निज जन होत सुधान।।

यहाँ अष्टछाप के काव्य और संगीत का चर्चा करने से पहले संगीत को जानना आवश्यक है जो इस प्रकार है:-

संगीत:- भारत में संगीत परम्परा बहुत प्राचीन है। अनेक विधाओं के भाँति संगीत का भी उद्गम वेद से हुआ है। शास्त्रकारों ने संगीत शब्द की व्याख्या निम्नवत की है:-

(क)'' गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते''

-(संगीत रत्नाकर)

(ख) ''गानं च वादनं त्रयं संगीत मुच्यते''

- (संगीत दर्पण)

अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य तीनों का ही संगीत में समावेश है परन्तु गीत के प्रधान्य में ही संगीत शब्द की सार्थकता है। गीत, वाद्य तथा नृत्य की इस त्रयी में गीत सदैव अग्रसर रहा है।

''सम्यक् प्रकारेण यद् गीयते तत्संगीतम्''- अर्थात् सम्यक् प्रकार के स्वर ताल, शुद्ध उच्चारण, हाव-भाव और शुद्ध मुद्रा आदि सहित गाया जाय वही संगीत कहलाता है।

अष्टछाप द्वारा गाये जाने वाली संगीत की अपनी एक निश्चित स्वरबद्धता, लयबद्धता, तालबद्धता होती है। इस तरह अष्टछाप का संगीत प्राचीन सुवर्ण आध्यात्मिक विरासत लिए हुए है।

अष्टछाप के कवि और संगीत परम्परा में उनका योगदान:-

अष्टछाप के आठ कवि इस प्रकार है:- 1. कुम्भनदास 2.सूरदास 3. परमानन्ददास 4. कृष्णदास 5.गोविन्दस्वामी 6. नन्ददास 7. छीत्तस्वामी 8. चतुभुर्जदास

(1) कुम्भनदास:- अष्टछाप के सबसे वयोवृद्ध कवि कुम्भनदास थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य के चार शिष्यों में कुम्भनदास जी प्रथम शिष्य थे। इनका जन्म सं. 1525 वि. की कार्तिक को गोर्वधन समीपवर्ती जमुनावतौ नामक ग्राम में हुआ था। यह अच्छे गायक थे और ब्रज भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। कुम्भनदास के पदों की रचना संख्या जो राग-कल्पद्रुम, राग-रत्नाकर तथा सम्प्रदाय के कीर्तन में मिलते हैं। इन पदों में आठों पहर की सेवा तथा वर्षोत्सव के रचे गए पदों की संख्या अधिक है। कुम्भनदास के पदों का एक संग्रह कुम्भनदास शीर्षक से श्री विद्या विभाग, कांकरोली द्वारा प्रकाशित हुआ है।

प्रसिद्ध है कि एक बार अकबर ने इन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया था। सम्राट की भेजी गई सवारी पर न आकर पैदल ही गए और जब सम्राट ने कुछ गीत सुनाने की इच्छा प्रगट की तो इन्होंने गाया:-

भक्तन को कहाँ सीकरी सो काम।
आवत जात पहनियाँ टूटी बिसरि गयो हरिनाम।।
जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन करी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।।

अकबर को ज्ञात हो गया कि कुम्भनदास अपने इष्टदेव को छोड़ किसी का गुनगान नहीं कर सकते तब सम्राट ने उपहार भेंट करना चाहा पर उसे भी अस्वीकार कर दिया और कहा कि दुबारा सीकरी मुझे न बुलाया जाए।

(2) सूरदास:- अष्टछाप कवियों में सूरदास जी का स्थान सर्वोपरि है। सूरदास के संगीत पक्ष पर विचार करते हुए डॉ. आशालता ने लिखा है - ''अष्टछाप के सभी संत शिक्षित थे। उनके काव्यशास्त्र एवं संगीतशास्त्र का विधिवत ज्ञान था। जहाँ तक गायन शैली का संबंध है, अष्टछाप के सभी संत भारतीय पद्धति के समर्थक थे। चैरासी वैष्णवन की वार्ता के उद्धहरणों से भी यह प्रमाणित है कि सब ध्रुपद शैली के गायक थे।

सूरदास जी के जन्म के संबंध में पर्याप्त मतभेद है। शोधकर्ता विद्वान इनका जन्म 1535 वि. वैषाख शुक्ल को मानते है। कई विद्वानों ने इनका जन्म 1478 ई. स्थिर किया है। इनका जन्म वल्लभगढ़ फरीदाबाद के सीही नामक गाँव में हुआ था। यह नेत्रहीन माने जाते हैं, जिसमें विवाद है और कहीं-कहीं यह भी कहा जाता है कि यह द्विव्य दृष्टि से देख सकते थे।

इनका गोलोकवास परसोली गाँव में 1583 ई0 में हुआ। डॉ. दीनदयाल गुप्त ने इनके द्वारा रचित 25 पुस्तकों की सूचना दी है। पाँच प्रमुख बताये जाते है - (1) सूरसागर (2) सूरसारावली (3) साहित्य लहरी (4) नल दमयन्ती (5) व्याहलों। आखिरी दो ग्रन्थ अप्राप्य है।

वल्लभाचार्य के प्रति कृतज्ञता जताते हुए सूरदास लिखते हैं कि जिस भागवत का शुकदेव ने बखान किया था उसी को मैं गुरू की कृपा से गाता हूँ:-

धनि शुक मुनि भागवत बखान्यौ।
गुरू की कृपा भई जब पूरन सब रसना कहि गान्यो।।
व्यास कहे शुकदेव सो द्वादश स्कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा कर गाई।।

(3) परमानन्ददास:- काव्य और संगीत की उच्चता की दृष्टि से अष्टछाप कवियों में परमानन्द जी का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कन्नौज के रहने वाले थे और इनका जन्म सं. 1550 वि. को माना जाता है। हरि कीर्तन के कारण स्वामी नाम से विख्यात हुए। इन्होंने गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं किया। लगभग 2000 पद परमानन्दसागर में संग्रहीत है। सं. 1641 वि. जन्माष्टमी के अगले दिन परमानन्द का गोकुलवास हो गया। इनके लिखे छ: ग्रन्थ बताये जाते है - (1) परमानन्दसागर (2) परमानन्द जी के पद (3) दानलीला (4) उद्धव लीला (5) ध्रुव चरित्र (6) रतन माला।

एक पद में परमानन्द ने वल्लभाचार्य जी से विनती की कि उन्हें अगले जन्म में मानुष तन मिले, हरि भक्ति दृढ़ हो, ब्रज में वास हो और सबसे बढ़कर वल्लभाचार्य जी के वंश की सेवा करने का अवसर मिले और उन्होंने गाया -

इह मांगो गोपीजन वल्लभ।
मनुष्य जन्म और हरि सेवा ब्रज,
बसिबौ दीजै मोहि सुलभ।।
श्री वल्लभ कुल कौ हो
चेरौ वैष्णवजन कौ दास कहाऊं।
श्री यमुना जल नित प्रति नहाऊ,
मन-क्रम-वचन कृष्ण गुनगाऊं।।
श्री भागवत श्रवण सुनो नित,
इन तजि चित्त कहू अनत न लाऊं।
परमानन्ददास यह मांगत नित
निर खो कबहूं न अघाऊं।।

(4) कृष्णदास:- कृष्णदास जी वल्लभाचार्य के प्रमुख चार शिष्यों में से थे। वल्लभाचार्य के प्रथम शिष्य कृष्णदास जी ही थे। इनका जन्म सं0 1553 में गुजरात के चिलोत्तरा गाँव में हुआ था। ये शूद्र (कुनबी) पटेल थे। कृष्णदास नाम के अनेक कवियों का वर्णन मिलता है जो भक्तमाल, भक्तनामावली, चैरासी वैष्णवन की वार्ता मे हैं। जिसकी चर्चा डॉ. दीनदयाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय में की है। कृष्णदास के पिता हाकिम थे, उन्होंने व्यापरी के चैदह हजार रूपये लुटवा दिए। कृष्णदास से यह नहीं देखा गया और राजा के सामने सच्चाई बता दी। तब पिता को पैसे वापस करने पड़े और उन्होंने कहा - तू कहूं खरचीलै घरते कहूं दूर चल्यो जा, न तोको देखेंगे, न दुख होइगा। तब कृष्णदास जी घूमते-घूमते गोर्वधन चले आये और आचार्य से भेंट के बाद पुष्टिमार्ग में दीक्षित कर लिए गए। कहा जाता है कि बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया था जिसे विट्ठलनाथ ने छुड़ाया जिसकी स्तुति गाया -

श्री विट्ठल के चरननि की बलि।
हमसे पतित उधारन कारन परम कृपालु आपु आये चलि।।

अतिसय मृदुल सुगंध सुशीतल परसत त्रिविध ताप डारत डालि।
अहि कृष्णदास बार इक सिर धरि तेरी कहा करैगो रिपु कलि।।

(5) गोविन्दस्वमी:- गोविन्दस्वमी न केवल उच्चकोटि के भक्त थे बल्कि एक अच्छे व्यक्ति एवं संगीतज्ञ भी थे। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका विवाह हुआ व एक संतान भी थी। ''अष्टसखान की वार्ता'' और ''दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'' में इनके जीवन चरित्र का वर्णन किया गया है। ये सं. 1598 मे विट्ठलनाथ से दीक्षित होकर वल्लभ सम्प्रदायी बने थे। तभी से इनका मन श्रीनाथ जी में लगा रहा। वार्ता के अनुसार इनका जन्म ग्राम आन्तरी में हुआ था। यह ब्रज छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहते थे और एक पद गाया -

कहा करै बैकुण्ठहि जाय।
जह नहि कुंज लता,
अलि कोकिल, मन्द शुगंध न वायु बहाय।
नहि वहाँ सुनियत स्त्रवनन वंशी धुनि,
कृष्ण न मूरलि अधर लगाय।
सारस हंस मोर नहि बोलत,
तहँ को बसिबौ कौन सुहाय।
गोविन्द प्रभु गोपि चरनन की
ब्रज रज तजि वहँ जाय बुलाय।।

कहा जाता है कि तानसेन ने इनसे पद गायन की दीक्षा ली थी। जहाँ यह रहते थे वह स्थान गोविन्दस्वमी की कदमखण्ड़ी के नाम से प्रसिद्ध है।

(6) नन्ददास:- भक्तमाल के अनुसार नन्ददास जी रामपुर (उत्तरप्रदेश) के निवासी थे। दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता में कहा गया है कि ये तुलसीदास के छोटे भाई थे, परन्तु कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। ये जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं0 1533 माना जाता है। नन्ददास के ग्रन्थों को इस प्रकार क्रम में रखा जा सकता है - (1) अनेकार्थ मंजरी (2) रस मंजरी (3) मानस मंजरी (4) भाषा दशमस्कंध (5) श्याम सगाई (6) भ्रमरगीत (7) नाममाल (8) सिद्धैंत पंचाध्यायी (9) रास पंचाध्यायी (10) सुदामा चरित आदि है। नन्ददास का ब्रज भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अष्टछाप में सूरदास के पीछे इनका ही नाम लिया जाता है। इनके संबंध में एक कहावत प्रसिद्ध है - और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया। नन्ददास अपने स्वामी विट्ठलनाथ के स्तुति करते कभी नहीं थके। एक पद गाकर कहते है -

प्रात: समे श्री वल्लभ सुत को,
वदन कमल को दर्शन कीजे।
तीनों लोक वंदित पुरूषोत्तम,
उपमा काहि जो पटतर दीजे।।
श्री वल्लभ सुत कुल उदित चन्द्रमा,
लखि छबि नैन चकोरन पीजे।
नन्ददास श्री वल्लभ सुत पर,
तन-मन-धन न्योछावर कीजे।।

अर्थात् प्रात: विट्ठल जी के दर्शन करना चाहिए ये तीनों लोक में वंदित पुरूषोत्तम है। इनकी उपमा कैसे दी जाय। श्री वल्लभ के कुल का चन्द्रमा उदित है, चकोर बनकर रूप छवि का पान करना चाहिए। इन पर अपना तन-मन-धन न्योछावर कीजिए।

(7) छीत्तस्वामी:- वार्ता से ज्ञात होता है कि छीत्तस्वामी का जन्म सं. 1567-72 के मध्य मथुरा में हुआ था और ये मथुरा के चैबे थे। इन्हें लोग छीत्तू कहा करते थे। एक बार इन्हें मसखरी सूझी कि विट्ठलनाथ जी की परीक्षा ली जाय। एक फूटे नारियल में राख भरकर तथा एक खोटा रूपया लेकर वे पाँचों (मित्र) गोकुल में जाकर

मसखरी करने लगे। छीत्तस्वामी ने भेंट अर्पित की और विट्ठलनाथ जी ने नारियल तोड़ा तो उसमे से गरी निकली और वहीं से छीत्तस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य हो गए। और यह पद गाया -

भई अब गिरिधर सो पहिचान।
कपट रूप धरि छलिबे आयो,
पुरूषोत्तम नहिं जान।।
छोटो बड़ो कछू नहिं जान्यो,
छाय रह्यो अज्ञान।
छीत्तस्वामी देखत अपनायो,
श्री विट्ठल कृपानिधान।।

काव्य एवं संगीत में इनकी विशेष रूची बनी। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता। केवल 200 भक्तिपूर्ण फुटकर पद ही प्राप्त होते हैं। यह बीरबल के पुरोहित माने जाते है।

(8) चतुभुर्जदास:- चतुभुर्जदास परम संत कवि थे, ये अष्टछाप के कवि कुम्भनदास के सबसे छोटे साँतवें पुत्र थे। इनका जन्म सं. 1530 में गोर्वधन के समीप जमुनावतौ गाँव में हुआ था। ये जाति के गोरवा क्षत्रिय थे। ये परम विरागी और श्री नाथ जी की सेवा में नित्य नवीन पद रचकर समर्पित करते थे। यह गोस्वमी विट्ठलनाथ और श्रीनाथ को एक ही मानते थे। इन्होंने श्रीनाथ जी के श्रृंगार और विरह के पद लिखे इनके स्फुट पदों को ''चतुभुर्ज कीर्तन संग्रह'' ''कीर्तनावली'' और ''दानलीला'' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया। इनके तीन ही ग्रन्थ प्राप्त हुए—(1) द्वादशयश (2) भक्तिप्रताप (3) हितजुकोमंगल। कुम्भनदास ने चतुभुर्जदास को बचपन में ही गोस्वमी विट्ठलनाथ से नाम दिलवा दिया। बालक चतुभुर्जदास ने उसी समय स्तुति कर यह पद गाया -

सेवक की सुख-राशि सदा
श्री वल्लभ राजकुमार।
दरसन करत प्रसन्न होई,
मन पुरूषोत्तम अवतार।।
सुदृष्टि ही चितै सिद्धांत बतायो
सेवा जग विस्तार।
यह तजि अन्य ज्ञान को
धावै भूलै कुमति विचार।।
चतुभुर्जदास उद्धरे पतित सब
श्री विट्ठल कृपाउदार।
जाके हाथ गहि भुज दृढ़
करि गिरिधर नन्द दुलार।।

निष्कर्ष:- यह कहा जा सकता है कि अष्टछाप के कवियों का संगीत कला जगत की एक समृद्ध सम्पत्ति है। इस समृद्ध परम्परा में जगत को लाभ हो यही मेरी आशा है। साथ ही भक्ति की इस अवतरित धारा की कुछ बून्दों को आत्मसात कर इस महान उद्देश्य को ईश्वर उपासना का तथा उस अलौकिक आनंद को पाने का माध्यम माना गया। अष्टछाप कवियों ने भक्ति रस से ओतप्रोत भक्ति संगीत को गाया जिसमे श्रीनाथ के साथ अष्टछाप के संस्थापक का भी गुनगान किया। कवि संगीतज्ञों ने संगीत को जनमानस के चित्त में उतारने के लिए सरल व साधारण शब्दों तथा भाषा का चयन किया। इन्होंने अपने गीत पदों को संगीत युक्त ताल में बाँधने का समुचित सुनियोजन किया। कहा जा सकता है कि भक्तिकाल के अष्टछापी कवियों का महत्व हिन्दी साहित्य ही नहीं , संगीत साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान है।

संदर्भ ग्रंथ:-

(1) मध्यकालीन संगीत में अष्टछाप कवि संगीतज्ञों का योगदान, शोधप्रबंध अंकिता मिश्रा, संगीत एवं कला विभाग इलाहाबाद वि.वि. इलाहाबाद, पृष्ठ - 1/2
(2) अष्टछाप परिचय, प्रभुदयाल मीत्तल, अग्रवाल

प्रेस मथुरा प्रकाशन, 2006, पृष्ठ - 57

(3) तुलसीदास रेवांग ख्याल नामकरण पर भारतीय प्रभाव संगीत, जनवरी-फरवरी, पृष्ठ - 19/20

(4) चैरासी वैष्णव की वार्ता प्रसंग, प्रकाशक गंगा विष्णु, पृष्ठ-295

(5) सूरसाहित्य में काव्य सौन्दर्य, डॉ. जयराम त्रिपाठी, सहा. प्राध्यापक स्ना. महा. नैनी इलाहाबाद (शोधपत्र), ISSN: 2455.9040 मई 2017, पृष्ठ -98/99

(6) मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में अष्टछाप कवि, पवन कुमार (शोधपत्र), ISSN: 2455.6157, जनवरी 2018, पृष्ठ -153/154

(7) अष्टछाप (प्राचीन वार्ता रहस्य), पृष्ठ -390, 425, 467, 557, 610

(8) अष्टछाप संगीत एक विष्लेषण, डॉ0 नीरा शर्मा, पृष्ठ-1

(9) हिन्दी साहित्य कोश भाग-2, धीरेन्द्र वर्मा व अन्य, ज्ञान मण्ड़ल लिमिटेड वाराणसी, 1986, पृष्ठ -92,103,182,195,324,642

(10) शास्त्रीय नृत्य में नवीन प्रयोग: कथक एवं हवेली संगीत, विनिता वर्मा, भावनगर गुजरात, (शोधपत्र), ISSN: 2350.0530, पृष्ठ -1

जनजीवन का लोकसंगीत

डा. प्रतिभा सक्सेना

सार

लोकगीत लोक के गीत है। जिन्हें कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि पूरा लोक समाज अपनाता है। लोकगीत शास्त्रीय संगीत से भिन्न है। लोकगीत ग्रामीण लोगों के गीत होते है। घर, नगर, गॉव के लोगों के अपने गीत होते है। इसके लिए शास्त्रीय संगीत की तरह प्रयास या अभ्यास की जरुरत नहीं है। लोकगीत ही लोकजीवन की वास्तविक भावनाओं को प्रस्तुत करता है। इसमें मनुष्य मात्र के पारिवारिक और सामाजिक जीवन का सामयिक तथा भावनात्मक चित्रण रहता है। जीवन के सभी पहलुओं एवं विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य के मानसिक एवं शारीरिक व्यापार जैसे ही होते हैं, उनका यथातथ्य चित्रण लोकगीत में मिलता है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों के मन मष्तिक पर लोक संगीत रचा बसा रहता है एक तरह से हम कह सकते हैं कि जनजीवन की आत्मा है लोक संगीत। हर जगह का अपना लोकसंगीत होता है। इसी तरीके से उत्तर प्रदेश के लोक संगीत सबसे पुरानी परंपराओं में से एक है। उत्तर प्रदेश के लोकगीत को रसिया भी कहा जाता है जिसे ब्रज के नाम से जाना जाता है। यूपी के कुछ लोकप्रिय लोक गीत सोहर, कहरवा और चनयनी हैं। उत्तर प्रदेश में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के लोक संगीत जैसे ख्याल, गजल, स्वांग, नकल, मर्सिया, कव्वाली, रासलीला, रामलीला हैं। उत्तर प्रदेश में लोक गीत के सबसे लोकप्रिय रूपों में से एक है। उत्तर प्रदेश का लोक संगीत और मानव एक दूसरे के पूरक ही नहीं वरन् एक दूसरे के पोषक भी है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उत्तर प्रदेश के लोक गीत और लोक संगीत लोगों के दिलों में बसता है और प्रदेश वासियों के जीवन में संगीत की उपस्थिति ईश्वर का एक श्रेष्ठ वरदान है।

जीवन का तात्पर्य मानव जीवन से है, पशु पक्षी जीवन से नहीं और संगीत का तात्पर्य केवल शास्त्रीय संगीत से ही नहीं बल्कि भाव संगीत, चित्र पट संगीत, लोक संगीत से भी है। भारतीय जीवन में कदम-कदम पर संगीत है। भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों मन मष्तिक पर लोक संगीत रचा बसा रहता है एक तरह से हम कह सकते हैं कि लोक संगीत भारतीय संस्कृति की आत्मा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत हमारे साथ रहता है। जब बालक इस संसार में जन्म लेता है तो सबसे पहले (रोने के रूप में) संगीत के रूप में अपना आभार प्रकट करता है और जब मनुष्य अंतिम यात्रा पर जाता है तो 'राम नाम सत्य है' कि महिमा बताई जाती है। सरस्वती को वीणा बजाते हुए दर्शाया गया है, कहा जाता है कि कृष्ण के बांसुरी वादन ने इंसानों और जानवरों को एक जैसा बना दिया था। जहाँ तक उत्तर प्रदेश के लोक संगीत का प्रश्न है तो उत्तर प्रदेश के लोक संगीत सबसे पुरानी परंपराओं में से एक है। उत्तर प्रदेश के लोकगीत को रसिया भी कहा जाता है जिसे ब्रज के नाम से जाना जाता है। उत्तर प्रदेश के लोकगीत राधा और

असिस्टेंट प्रोफेसर, एस.एस कालेज, शाहजहांपुर

भगवान कृष्ण के दिव्य प्रेम के लिए मनाए जाते हैं। अधिकाँश उत्तर प्रदेश के लोकगीत ढोल और अन्य वाद्य यंत्रों के साथ त्योहारों के दौरान गाए जाते हैं। लोक संगीत की परंपरा को प्राचीन काल में खोजा जा सकता है और उत्तर प्रदेश में इसे गुप्त काल के दौरान स्थापित किया गया माना जाता है। यूपी के कुछ लोकप्रिय लोक गीत सोहर, कहरवा और चनयनी हैं। लोक परंपराएं सामाजिक जीवन के सबसे सांस्कृतिक रूप से अद्वितीय तथ्यों में से एक हैं। किसी भी अन्य क्षेत्र की तरह, उत्तर प्रदेश के लोकगीत इसकी समृद्ध संस्कृति को दर्शाते हैं जो गीतों जैसी कला के माध्यम से उत्पन्न होती है। उत्तर प्रदेश में पाए जाने वाले विभिन्न प्रकार के लोक संगीत जैसे ख्याल, गजल, स्वांग, नकल, मर्सिया, कव्वाली, रासलीला, रामलीला हैं। उत्तर प्रदेश में लोक गीत के सबसे लोकप्रिय रूपों में से एक है। ये गीत क्षेत्रों में प्रचलित धार्मिक संस्कृति से संबंधित हैं। सोहर आमतौर पर बच्चे के जन्म के दौरान किया जाता है। भिकारी ठाकुर को आमतौर पर भोजपुरी क्षेत्र में लोकगीतों को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है।हरिकर्तन भी उत्तर प्रदेश में गाया जाने वाला एक बहुत ही धार्मिक रूप से जुड़ा लोक गीत है। सोहर को एक ऐसे गीत के रूप में मनाया जाता है जो जीवन का स्वागत करता है और नई शुरुआत का जश्न मनाता है। सोहर मुख्य रूप से जन्म के अवसर पर महिलाओं द्वारा गाया और बजाया जाता है। सोहर आंतरिक रूप से पारिवारिक जीवन से जुड़ा हुआ है और उत्तर प्रदेश में व्यापक रूप से प्रचलित संगीत परंपरा है। रीति-रिवाज और परंपराएं उत्तर प्रदेश में बहुत से लोगों के जीवन का एक महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में।कजरी लोकगीत का संबंध भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के साथ-साथ बिहार से भी है। कजरी लोक गीत का प्रयोग सामान्यत: अपने प्रेमी के लिए एक युवती की लालसा का वर्णन करने के लिए किया जाता है क्योंकि गर्मियों के आसमान में काले मानसून बादल आते हैं, और बारिश के मौसम में शैली विशेष रूप से गाई जाती है। कजरी लोक गीत पारंपरिक रूप से बनारस, मिर्जापुर, मथुरा, इलाहाबाद और बिहार के भोजपुर क्षेत्रों के आसपास उत्तर प्रदेश के गांवों और कस्बों में गाया जाता है। नाई समुदाय में नौका झक्कड़ बहुत लोकप्रिय है और नाई गीत के रूप में माना जाता है। चनयनी एक प्रकार का लोक-नृत्य संगीत है जो उत्तर प्रदेश के अधिकांश क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रचलित है। इस प्रकार का लोक संगीत आमतौर पर किसी अवसर या विशेष क्षण का जश्न मनाने के लिए किया जाता है। लोक संगीत को अक्सर लोक नृत्यों के साथ जोड़ा जाता है इसलिए चनैयनी नृत्य के दौरान गाए जाने वाले गीतों को चनैयनी संगीत कहा जाता है। कहारवा भारत में गायन शैली की एक प्रसिद्ध ताल या प्रणाली है जो उत्तर प्रदेश में उत्पन्न हुई थी। कहारवा ताल एक प्रसिद्ध ताल है जिसमें कव्वाली, और धूमली जैसी विविधताएं हैं। यह एक जाति आधारित लोकगीत है जिसे कहार जाति द्वारा गाया जाता है। कहरवा शादियों के दौरान गाया जाने वाला एक औपचारिक गीत है। उत्तर प्रदेश में लोक संगीत मनोरंजन का एक रूप है। अधिकांश उत्तर प्रदेश में, परिवार सोहर के माध्यम से गर्भावस्था और प्रसव का जश्न मनाते हैं। विवाह समारोहों और अन्य शुभ कार्यक्रमों के दौरान, चनैयनी और कहारवा का प्रदर्शन किया जाता है। इस तरह हम कह सकते हैं संगीत ईश्वर की देन है जो ईश्वर का एक श्रेष्ठ वरदान, प्रकृति की अनुपम देन है और मनुष्य का एक सुन्दरतम् अविष्कार है। संगीत के तीनों अंग गायन, वादन एवं नृत्य मनुष्य में उत्साह,

ऊर्जा, प्रसन्नता तथा चेतनता का संचार करते हैं। संगीत भी मनुष्य के लिए प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक अनुपम उपहार है। मनुष्य के दुखों, कष्टों तथा परेशानियों से मुक्ति पाने के लिए ब्रह्मा ने इस अनुपम कला की उत्पत्ति की। मानवीय कल्याण के लिए ईश्वर द्वारा प्रदत्त यह कला संगीत की अधिष्ठात्री देवी मां सरस्वती, नारद, किन्नरों, गंधर्वों, ऋषियों, मुनियों, योगियों तथा अप्सराओं के माध्यम से मनुष्य के लिए धरती पर पहुंची। भौतिक जीवन में संगीत मनोरंजन का उतना बड़ा साधन है जितना अध्यात्मिक जीवन में प्रेरणा का, संगीत कला हमारी संस्कृति की एकीकरण का अंग है और मानव जीवन संगीत की अभिव्यक्ति का बृहम स्वरूप है। मानव मन ही संगीत का सृजनहार है। ऐसा कोई भी त्यौहार नहीं है जिसमें संगीत न हो।

निष्कर्ष

भारत वर्ष की सभी सभ्यताओं में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। संगीत भारतीय संस्कृति की आत्मा मानी जाती है चाहे धार्मिक परम्परा हो या सामाजिक संगीत का अपना एक अलग स्थान है। मानव जीवन और संगीत के दूसरे के बिना अधूरे है। लोक संगीत की सबसे पुरानी परंपराओं में एक है उत्तर प्रदेष के लोकसंगीत को रसिया भी कहा जाता है। जिसे ब्रज के नाम से जाना जाता है। लोक संगीत और मानव एक दूसरे के पूरक ही नहीं वरन् एक दूसरे के पोषक भी है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि जनजीवन में लोकसंगीत लोगों के दिलों में बसता है और जनजीवन में लोकसंगीत की उपस्थिति ईष्वर का एक श्रेष्ठ वरदान भी है।

संदर्भ सूची

1. संगीत विशारद बसंत पृ. 165
2. संगीत निबन्ध संग्रह डा. लालमणि मिश्र पृ. 24 एवं 25
3. संगीत निबन्ध पं. जगदीश नारायण पाठक पृ. 157
4. विकिपीडियां नामक पेज
5. संगीत निबन्ध माला पं. जगदीश नारायण पाठक पृ. 156
6. https://test Book.Com Up Gk

भारत की स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी भाषा की भूमिका : असम के सन्दर्भ में

डॉ साइफुल इस्लाम

हिन्दी एक वैसी मिट्ठाच भाषा है- जो विश्व के हर व्यक्ति बोलना और सिखना चाहते है। भारत के हर एक राज्य की भाषा अलग होते हुए भी हिन्दी भाषा को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते है, जिसके वजह है - हिन्दी ही एक वैसी भाषा है, जो पूरे हिन्दुस्तान को एक साथ जोड़ सकते है। असम में सबसे पहले जोरहाट के पुलिस अधीक्षक श्री यज्ञराम खारघरीया फुकन जी ने असम के उन्नति के लिए लोगों को बंगाल भाषा की जगह हिन्दी भाषा सिखना अधिक उपयोगी समझा और सन १९३२ में ..समाचार दर्पन.. में अपना रचना प्रकाशित किया। महात्मा गान्धीजी भी भारत के आजादी के लिए पूरे भारत में हिन्दी भाषा फैलाने चाहा और हिन्दी भाषा को प्रचार-प्रसार के लिए राघव दास को असम में भेजा था और वाद में खुद भी असम दौरा किया था। गांधी जी यह जानते थे कि देश-प्रेम भाव हिन्दुस्तान के कोने-कोने तक पहचांने के लिए हिन्दी भाषा ही एक मात्र जरिया है। जिसके फलस्वरुप गान्धीजी असम आगमन के वाद भारत की स्वाधीनता आन्दोलन में असमवासियों का सहयोग और भी बढ़ गये थे। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में असमिया लोग तथा हिन्दी भाषा का अपरीसीम अवदान है।

बीजशब्द - भारत, स्वाधीनता, हिन्दीभाषा, असम

प्रस्तावना-

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में पूरे भारतवर्ष के लोगों के सहयोग के बिना आजादी सम्भव नहीं था। क्यों कि अंग्रेजो के विरुद्ध में आन्दोलन में भारतीय जनता को शामिल होने के लिए घर घर आवाज पहुँचाना था। जिसके फलस्वरूप हिन्दी भाषा को गांधीजी तथा बाँकी संग्रामी नेताओं ने आग्रह किया था कि हिन्दी भाषा को समस्त भारत में फैलाया जाए। हिन्दी भाषा ही एक सी भाषा है जो मध्य भारत में पहले से ही प्रचारित है और इस भाषा से ही आसानी से पूरे भारत के लोगें के हृदय में देश प्रेम जगा सकेगे। जिसके फल स्वरुप हिन्दी भाषा को पूरे भारत के साथ साथ असम में भी गाँधी जी के निर्देश में पुरुषत्तोमदास, राघव जी टेडंन और राघवदास ने प्रचार-प्रसार के लिए आए थें असम के यज्ञराम खारघरीया फुकन, अम्बिका प्रसाद, धनेश्वर शर्मा, नवीन चन्द्र कलिता, रजनी कान्त चक्रवंती आदि उल्लेखनीय व्यक्तियों नें असमिया लोगों के बीच में पूरे भारत के लोगों के साथ अपना योगदान बेखूबी से निभाया और इसका जरिया एकमात्र हिन्दी भाषा ही था। इसके लिए असमिया लोगों को दो तरह की लाभ हुआ - पहले असमिया लोगों को हिन्दी भाषा सीखे और भारत के अन्य राज्य के लोगों से भाव का आदान-प्रदान आसानी से हो गये, दूसरे तरफ असमिया लोगों के बीच में स्वाधीनता आन्दोलनकारी नेताओं के भाषण को अच्छे तरह समझ ने से असमिया लोगों के हृदय में देश प्रेम तीव्र से तीव्रतर होने लगा।

सह: प्राध्यापक, जुरीया महाविद्यालय, नगाँव

विश्लेषण -

भारत की स्वाधीनता आन्दोलन और हिन्दी भाषा की व्यापकता का रूप एक अतुलनीय परम्परा है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेताओं ने अपने आप में सोचने लगे कि पूरे देश एक साथ जोड़ने के लिए भाव का आदान-प्रदान जरूरी है, और लोगों के बीच में देश प्रेम जगाना पड़ेगा। संग्रामी नेताओं चारों ओर देखते हुई निर्णय लिया कि हिन्दी ही एक वैसी भाषा है, जो पूरे देश को एक साथ जोड़ सकते है। सबसे बड़े बात तो यह है कि हिन्दी भाषा को पूरे भारत में प्रसार-प्रचारों में ज्यादातर चिन्तको तथा नेताओ अधिकतर हिन्दीत्तर प्रदेश के थे। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में अंग्रणी बंगाल के केशवचन्द्र सेन सन 1873 अपने पत्र 'सुलभ समाचार' (बंगला) में लिखी 'यदि भाषा एक न होने पर भारतवर्ष में एकता न हो तो उसका उपाय क्या है' समस्त भारतवर्ष में एक भाषा का प्रयोग करना इसका उपाय है, इस समय भारत में जितनी भी भाषाएँ प्रचलित है, उनमें हिन्दी भाषा का प्राय: सर्वत्र प्रचलित है, इस हिन्दी भाषा को यदि भारतवर्ष का एक मात्र भाषा बनाया जाये तो अनायास ही एकता शीघ्र ही सम्पन्न हो सकती है। इसके बाद में बाकी नेताओं में प्रांतीयता की भावना से ऊपर उठकर मुक्तकंठ से हिन्दी को खोले आम समर्थन किया। जिनमें बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गांधी सुभाषचन्द्र बौस, केशव चन्द्र सेन, गौविन्द दास, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन, डॉ राजेन्द्र प्रसाद, लाला लाजपत राय, पडित मदन मोहन मालवीय, तथा असम के यज्ञराम खारघरीया फूकन आदि उल्लेखनीय है। इसी तरह हिन्दी भाषा की महत्ता स्थापित हो गई थी और लोगो के बीच में जोड़नेवाली सबसे सशक्त भाषा बन गई थी राष्ट्रीयता एकता का मार्ग प्रशस्त किया। उन लोगो को यह भी बोध रहा कि भारत का विकास और राष्ट्रीय एकता की रक्षा प्रादेशिक भाषाआओं के पूर्ण विकास से ही सम्भव है। हिन्दी में वह शक्ति है कि पूरे देश को एक साथ जोड़ सके।

बालगंगाधर तिलक का कहना था कि 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है जिस में प्राप्त करके रहूँगा' का देने वाले नेता का स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में विशिष्ट स्थान। भाषा के बारे में तिलक जी का कहना है हिन्दी ही एक मात्र भाषा है, जो राष्ट्रभाषा हो सकती है। हिन्दी का समर्थन करते हुए नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखा "यह आन्दोलन उत्तर भारत में केवल एक मात्र सामान्य लिपि के प्रचार के लिए नहीं है। यह तो उस आन्दोलन का एक अंग है जिसे मैं राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं कहूँगा और जिसका उद्देश्य समस्त भारतवर्ष के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की स्थापना करना है। क्योंकि सब के लिए समान भाषा राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण अंग है। अतएव यदि आप किसी राष्ट्र के लोगों एक दूसरे के निकट लाना चाहते तो सबके लिए समान भाषा से बढ़कर सशक्त अन्य कोई बल नही है। आपने हिन्दी केसरी पत्रिका प्रकाश कर हिन्दी भाषा को लोगों तक पहुँचाने के लिए कोशिश की। महात्मा गांधी भाषा के प्रश्न को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के प्रश्नों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानते थे, उन्होंने ने प्रारंभ से हिन्दी को स्वतन्त्रता संग्राम की भाषा बनाने के लिए अथक परिश्रम किया उनका कहना था - पराधीनता चाहे राजनीतिक क्षेत्र हो अथवा भाषा की क्षेत्र हो, एक दूसरे की पूरक - पीढ़ी दर पीढ़ी सदा परमुखापेक्षी बनाये रखने वाली है गान्धी जी की प्रेरणा से सन 1917 में उन्होंने एक परिपत्र निकलकर हिन्दी सीखने का कार्य सुत्रपात किया और सन 1925 में कांग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस की महासमिति

तक और कार्यकारिणी समिति का काम काज आमतौर पर हिन्दूस्तानी भाषा में चलाया जाएगा।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी के निर्देशानुसार पूरे में भारत हिन्दी प्रचार के लिए लोग प्रेरित किये। और उन्होंने खुद अपने बेटे देवदत्त गांधी को प्रचार के लिए दक्षिण भारत भेजे थे। आजादी का इस मुहिम में गांधीजी पूरे भारत में दौड़ा किया। इनका उद्देश्य यह था कि हिन्दी का प्रचार-प्रसार करे और उसके माध्यम से पूर्व से लेकर पश्चिम तक और उत्तर से लेकर दक्षिण तक सभीलोगों के बीच में स्वदेश-प्रेम जागृत कर सके। उनके निर्देशनुसार राघव दास असम दौड़ा किया था। राघव जी ने पूर्वोत्तर में काफी दिन रहकर हिन्दी प्रचार के लिए बहुत काम की। महात्मा गांधी जी भी हिन्दी प्रचार के लिए असम आये थे। जिसके फलस्वरूप असमिया लोगों के मन में हिन्दी भाषा के प्रति श्रद्धा और भक्ति बढ़े और इसके जरिये लोगों के दिल और दिमाग में देश के प्रति प्रेम भाव जागृत होने लगे और भारत की स्वतंन्त्रता संग्राम पूरे जोरदार होन लगे।

पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी

भाषा का कोई रंग, रूप, जाति या आकार नहीं होता है। इसे तो सिर्फ सुनकर महसूस किया जाता है। हमारी हिन्दी का तो कुछ कहना ही नहीं, इसकी शब्दों में इतनी मिठास है कि विश्व का हर व्यक्ति इसे सीखना और बोलना चाहता है। कुछ लोग तो हिन्दी सीखकर अपने आपको गौरवान्वित महसूस करते है। भारत में अनेक राज्य हैं और सभी राज्यों की अपनी अपनी अलग भाषाओं है। इस प्रकार भारत एक बहुभाषीय राष्ट्र हैं लेकिन अन्य कई देशों की तरह भारत की भी अपनी एक राष्ट्रभाषा है जिसका नाम है हिन्दी। भारतवर्ष की प्रमुख विशेषता है - "विविधता में एकता"। हमारे देश में लगभग 170 भाषाएँ और तकरीबन 500 बोलियाँ हैं। भारत की अनेक भाषाओं में केवल हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जिसे अपने क्षेत्र से बाहर विकसित होने का अवसर मिला है। वर्तमान में हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा है। उत्तर-पूर्व की भाषाओं का अन्य भारतीय भाषाओं के साथ गहरा संबंध है। आमतौर पर पूर्वोतर राज्यों की गिनती गैर - हिन्दी प्रदेशों में की जाती है लेकिन पूर्वोतर के लोग जब भी अपने किसी पड़ोसी राज्य के लोगों से मिलते हैं, तो उनकी सर्पक भाषा हिन्दी होती है। क्योंकि हिन्दी विचारों के आदान-प्रदान का सबसे आसान माध्यम है। सबसे पहले जोरहाट के पुलिस सुपरीटेंडेंट श्री यज्ञराम खारघरीया फूकन ने यह महसूस किया कि असम की उन्नति के लिए असम वासियों को बंगला की जगह हिन्दी सीखना अधिक उपयोगी होगा। हिन्दी शिक्षण को ध्यान में रखकर उन्होंने एक उपयुक्त ग्रंथ रचने का संकल्प किया था- इस योजना को उन्होंने सन 1832 के 79 भट्टे वाले समाचार दर्पण में प्रकाशित किया था। इसका नाम रखा गया था। हिन्दी व्याकरण और अभिधान लेकिन दुर्भाग्य वश यज्ञराम खारघरीया फूकन जी की आकस्मिक मृत्यु के कारण यह ग्रंथ अधूरा ही रह गया। सन 1885 के बाद जब स्वतंत्तता आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया तब भी असम में हिन्दी का संस्थागत प्रयास नहीं था। सन 1926 में पहली बार विद्यालयों में हिन्दी को शिक्षण विषय के रुप में जगह मिला। इसका श्रेय शिवसागर के पॉलिटेकनिक इंस्टीट्यूट के प्रतिष्ठाता भुवन चन्द्र गगै को जाता है। उन्हीं के अथक परिश्रम और परेशानियों के फलस्वरूप आज पूर्वोत्तर में हिन्दी तीसरी कक्षा से आठवी कक्षा तक अनिवार्य विषय और आगे दसवी तक ऐच्छिक विषय के रूप में पढ़ाई जाती है।

पूर्वोत्तर भारत में हिन्दी का वास्तविक रूप आया जब 1934 में अखिल भारतीय हरिजन सेवा

संघ की स्थापना के लिए महात्मा गाँधी असम आये थे। उन्होंने हर जगह अपने संबोधन में असम के लोगों को हिन्दी सिखने की बात कही थी। गाँधी जी के बातों से प्रभावित होकर श्री पीतांबर देव गोस्वामी ने बताया की यहाँ हिन्दी सिखाने वालों की कमी हैं, यदि इसकी व्यवस्था हो जाए तो, हम हिन्दी शिक्षण- प्रशिक्षण के कारीक्रम को शुरु कर सकते है। गोस्वामी जी के बातों से संतुष्ट होकर गाँधी जी बाबा राघवदास को हिन्दी प्रचारक के रूप में नियुक्त करके असम भेज दिए। राघवदास असम आए और उन्होंने कुछ हिन्दी भाषी लोगों को हिन्दी शिक्षण के लिए नियुक्त किया। जिसमें जोरहाट से अम्बिका प्रसाद धनेश्वर शर्मा और गोलाघाट से बैकुंठ नाथ सिंह मुख्य थें। ये सभी प्रशिक्षित अध्यापक तो नहीं थे लेकिन इनमें मुख्य बात यह थी कि ये सभी असमिया भाषा जानते थे और व्याकरण अनुवाद पद्धति उनका माध्यम था। इसी बीच कुछ असमिया युवक-युवतियाँ काशी विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय संस्थान में अध्ययन के लिए गए। उनमे नवीनचंद्र कलिता, खर्गश्वर मजूमदार का नाम उल्लेखनीय है। बाबा राघवदास के आश्रम में रजनीकान्त चक्रवर्ती और हेमकांत भट्टचार्य जी हिन्दी सीख रहे थे। बाद में नवीनचंद्र जी भी आ गए। फिर इन तीनों को राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा दवारा संचालित हिन्दी अध्यपन मंदिर में प्रशिक्षण के लिए भेज दिया गया। असल में ये तीनों ही असम में हिन्दी शिक्षण के पुरोधा थे। प्रशिक्षण समाप्त कर, श्री नवीन चंन्द्र कलिता जी को गुवाहाटी, श्री रजनी कान्त चक्रवर्ती जी को- शिवसागर में और स्व. हेमकांत भट्टाचार्य जी को नगाँव के प्रचारक के रूप में नियुक्त किया गया। इन महानुभावों के उत्साह और प्रेरणा के प्रताप का ही फल है कि आज पूर्वोत्तर भारत के विद्यालयों में हिन्दी भाषा की नींव पड़ी। यहाँ समिति आगे चलकर असम राष्ट्र भाषा प्रचार समिति बनी, जो आज भारत के श्रेष्ठ हिन्दी स्वैच्छिक संस्थानों में से एक है।

असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी भाषा को आम लोगों तक पहुँचाना था। कहते है कि जिन भाषाओं की लिपि देवनागरी होती हैं, वह भाषा हिन्दी नहीं होते हुए भी देवनागरी लिपि के माध्यम से 'हिन्दी' के प्रचार-प्रसार में सहायक होती है।

साहित्य विशिष्ट रूप से राजनीति और संस्कृति के क्षेत्र में सामान्य रूप से राष्ट्र का दर्पण होता है। भारत के मामले में, समृद्ध भाषा की विविधताएं और साहित्यकारों का चमत्कार राष्ट्रीय जागरण और स्वतंत्रता के अधिकार के विचारों को फैलाने में सहायक था। इसके अलावा, स्वतंत्रता आंदोलन ने औपनिवेशिक युग के दौरान साहित्य की प्रवृत्तियों को भी महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इकबाल और रवींद्रनाथ टैगोर की कृतियाँ, भगत सिंह, प्रेमचंद और बंकिमचन्द्र के उपन्यासों ने स्वतंत्रता संग्राम के पैमाने को बहुत प्रभावित किया और जनता को उनके 'जन्म अधिकार' के लिए लड़ने के लिए प्रेरित किया, जैसा कि तिलक ने प्रस्तावित किया था। यहां तक कि महात्मा गांधी ने भी टैगोर द्वारा लिखित प्रसिद्ध 'एकला चलो रे' से प्रभावित होकर स्वतंत्रता की अपनी खोज को फिर से जींवत किया। असम में, ऐसे कई साहित्यकारों ने अपने लेखन के माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की भावना को आगे बढ़ाया, चाहे वह गद्य हो या कविता नाटक और भाषण साहित्यिक राष्ट्रीय आन्दोलन के संबंध में असम कभी भी अछूता क्षेत्र नहीं था। क्षेत्रीय नेताओं के सक्षम राष्ट्रीय नेताओं के अधीन असमिया अपनी मातृभूमि को उपनिवेशावाद से मुक्त करने के लिए प्रतिवद्ध थे। यह एक तथ्य है कि भारतीय स्वतंत्रता के लिए

आंदोलन के पक्ष में सभी जगह लोकप्रिय आसन था। बहुत से लोग अपने नाम यादगार न्यायिक और कई और भूमि पर उतरते हैं। अंडमान निकोबार के कलापंत या तहखाने के जेल में भेजे गए थे। रघुनाथ चंदूरी हम इस आंदोलन के दौरान लेखन के साथ- साथ स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए सलाखों को लगाते हैं। असम में चाय की खेती के अग्रदूत मनीराम दीवान जैसे नायको नायकों को ब्रिटिश सरकार ने पियोली फुकन, कुशल कोवर सहित अन्य लोगों के साथ विद्रोही उत्तेजना के आधार पर फांसी दी थी। इन बहादुर दिलों का उल्लेख के साहित्य में, यहां तक कि बोली में भी मिलता है। स्वतंत्रता के बाद, कई साहित्यकारों ने असन के विमोचन को ईदोम संघर्ष में पुस्तकों, नोवा, मेनर्स, लेखों के रूप में संकलित किया है। भारतीय स्वतंत्रता के आंदोलन में असमियों की भूमिका और असमिया लिटरकोर्स की कटौती के संबंध में अंग्रेजी या हिंदी में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। इसलिए स्वतंत्रता संग्राम में असम की भागीदारी के बारें में मुख्य भूमिका में जानकारी की कमी है और उन कार्यों का अनुवाद करने के लिए आगे का रास्ता और विभिन्न अधिकारिक भाषाओं में उपलब्ध है।

निष्कर्ष -

इसी तरह हिन्दी भाषा का व्यापक रूप भारतवर्ष के स्वाधीनता अन्दोलन के क्षेत्र में अहम भूमिका निभाया है। खासतौर पर अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी भाषा प्रचार द्वारा ही लोगों को एकत्र किया और असम तथा पूर्वोत्तर भारत भी अहिन्दी भाषी होने के नाते गान्धीजी के निर्देश से हिन्दी भाषा की प्रचार-प्रसार द्वारा ही स्वतंत्रता आन्दोलन को सहायता मीले।

सन्दर्भ ग्रथ

1. भूज. एस. के - भारतर स्वाधीनता आन्दोलनत असम (द्वितीय संस्करण) प्रकाशक - लयार्च बुक स्टल।
2. बेगम. एस. - असम बुरंजी एस.एल.बि. पाब्लिकेशन, गुवाहाटी।
3. बरलै एन. (इडिट 2020) स्वाधीनता संग्रामत असमीया गीत आरु कविता, प्रकाशक - साहित्य एकाडेमी गुवाहाटी।
4. काकति आर. चि. (इडिट 2008) स्वाधीनता आन्दोलन आरु असम (प्रथम संस्करण) प्रकाशक - प्रकाशण परिषद, गुवाहाटी।
5. कलिता के. (2019) भारतर स्वाधीनता आन्दोलनत असमर सेनानी (प्रथम संस्करण) चन्द्र प्रकाशन

तुलसीदास की स्त्री-दृष्टि

रमेश कुमार राज

शोध-सारांश

गोस्वामी तुलसीदास हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं और उनका 'रामचरितमानस' हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य. भारतीय जनमानस पर जिस साहित्य का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है वह तुलसी कृत 'मानस' ही है. कवि और उनकी कृति, दोनों ही भारतीय जनता के हृदय मंदिर में पूर्ण प्रेम प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं. लेकिन तमाम उदात्तता के बावजूद 'मानस' में कुछ ऐसी बातों का भी उल्लेख है जिससे भारतीय समाज का एक बड़ा तबका खुश नहीं है. उन्हें तुलसीदास से इस बात की शिकायत है कि उन्होंने स्त्रियों के साथ न्याय नहीं किया है. यह बात सही है कि 'मानस' में स्त्री निंदा के उदहारण मिलते हैं. लेकिन सवाल यह है कि क्या वाकई यह कवि के अपने विचार हैं? क्या उन्होंने जानबूझकर ऐसा किया है? कवि की ईमानदारी इस बात में है कि वह समाज का बिल्कुल वैसा ही चित्रण करे जैसा कि वह होता है. गोस्वामी तुलसीदास ने यही किया है. उन्होंने 'मानस' में भारतीय समाज का बिल्कुल यथार्थ चित्रण किया है. वे सभी बातें, जिसकी आलोचना हिंदी साहित्य में होती रही है, यह साबित करती हैं कि उसकी मौजूदगी भारतीय समाज है. वे कोई बनावटी या दिखावटी बातें नहीं हैं और न ही कवि ने इर्ष्या भाव से लिखी है. विचार समाज के हैं. उसे कवि ने अपनी कला से एक रचनात्मक आकार प्रदान किया है. इसलिए किसी भी कवि का ठीक-ठीक मूल्यांकन करने से पहले रचना की जटिलता, पात्रों की विविधता और सामाजिक वास्तविकता का अध्ययन जरूरी है.

बीज शब्द: गँवार, ध्रुवीकरण, हिंदुत्व, सर्वश्रेष्ठ, उदात्तता, परिष्कार, हिंसात्मक, प्रतिक्रियावादी, बहिष्कार, लोकतांत्रिक, महाकाव्य, मुक्तक, सामंतवादी, सहानुभूति, बौद्धिक, समीक्षक, मूल्यांकन, शोषण, दमन, हैसियत, सिद्धांत, कलयुग, यौनिकता, उज्जवल, कालबद्ध, गोस्वामी तुलसीदास.

प्रस्तावना : प्रतिरोध का स्वर जब प्रतिशोध में बदल जाता है तो विचार मर जाता है। शोषण, दमन और हिंसा का विरोध करते-करते व्यक्ति स्वयं उसका हिस्सा बन जाता है। 'रामचरितमानस' के प्रति तथाकथित प्रतिक्रियावादियों का यही बर्ताव रहा है। साहित्य पढ़ने का उद्देश्य न केवल ज्ञान का परिष्कार करना है बल्कि उसी परिष्कृत ज्ञान से साहित्यिक कमियों को परिष्कृत भी करना है. उसका विरोध किया जा सकता है। लेकिन उसे नष्ट करने या मिटाने की बात करना हिंसात्मक कार्यवाही है।

मध्यकालीन प्रमुख भक्त कवियों में स्त्री निंदा की सबसे अधिक कीमत गोस्वामी तुलसीदास ने चुकाई है। इसके कई कारण हैं। पहला, तुलसीदास उस समाज से आते हैं, जिन्होंने प्रारंभ से ही दलितों और स्त्रियों को कमतर आँका है। दूसरा, 'रामचरितमानस' को हिन्दू समाज साहित्य न मानकर धार्मिक ग्रंथ मानता है। धार्मिक ग्रंथ माने जाने के कारण उसमें निहित हिन्दुत्व की बातों को सत्य मानकर वह दलितों और स्त्रियों

सहायक प्रोफेसर (गेस्ट), हिंदी विभाग, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पर उसका प्रयोग करता रहता है। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण लोकतांत्रिक चुनाव का आधार जाति का होना है. जातिगत ध्रुवीकरण के कारण तुलसीदास की आलोचना बढ़ी है. 'ढ़ोल गँवार सूद्र पसु नारी' पंक्ति को चुनावी माहौल में एक ठोस मुद्दे के रूप में उछाला जाता है. लेकिन सवाल यह है कि क्या वाकई तुलसीदास स्त्री विरोधी हैं? और यदि हैं भी, तो क्या उनके सम्पूर्ण साहित्यिक अवदान का बहिष्कार कर देना चाहिए?

गोस्वामी तुलसीदास पर बात करते हुए इस बात की अनदेखी की जाती है कि 'रामचरितमानस' मुक्तक न होकर एक महाकाव्य है जिसमें चरित्रों की बहुलता होती है। उसके अधिकांश भाव पात्रों के अपने भाव होते हैं। कवि उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए भाषा प्रदान करते हैं। भारतीय समाज में बहुत अंतर्विरोध हैं, जिसका चित्रण कवि अपने पात्रों के माध्यम से करता है। पात्रों की बौद्धिक समझ, उसके समाज संस्कार, आचार-व्यवहार आदि का वर्णन उसी के स्वभावानुसार करता है। अनपढ़ व्यक्ति अनपढ़ों की तरह बात करेगा, दंभी व्यक्ति की भाषा में अहं का भाव होगा और सामंतों की मानसिकता कमजोर वर्गों के प्रति दूषित होगी। कवि का काम उस चरित्र को उसी रूप में ढालना है, जिस रूप में वे समाज में पाए जाते हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु ने 'मैला आँचल' में नागा बाबा के चरित्र का वैसा ही वर्णन किया है, जैसा कि वे प्रकृति में पाए जाते हैं। नागा बाबा को यदि रेणु सभ्य मनुष्य की तरह बात करते हुए दिखाते तो यह बनावटी लगता। इसी प्रकार प्रेमचंद ने 'गोदान' में धनिया के चरित्र को उभारा है। स्त्री के प्रति पढ़े-लिखे सभ्य समाज की मानसिकता को प्रेमचंद मेहता की चारित्रिक विशेषताओं के माध्यम से सामने रखते हैं। समीक्षकों ने नागा बाबा और धनिया की भाषा को स्वाभाविक ही माना। लेकिन मेहता के विचार को प्रेमचंद का विचार मान लिया। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि तथाकथित सभ्य समाज यह स्वीकार नहीं करता कि लेखक द्वारा चित्रित समस्या उसकी वर्गीय समस्या है। वह अपनी गलती नहीं स्वीकारता और लेखक को इसका दोषी ठहराता है। ऐसा ही कुछ गोस्वामी तुलसीदास के साथ भी किया गया।

महाकाव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि जैसे चरित्र प्रधान, पात्र बाहुल्य रचनाओं का मूल्यांकन चरित्रों की चारित्रिक विशेषताओं के आधार पर किया जाना चाहिए। समाज में ऐसे बहुत-से ऐसे लोग हैं, जो दलितों, स्त्रियों के प्रति अच्छे विचार नहीं रखते हैं, उसका शोषण, दमन करते हैं। लेखक इन सभी समस्याओं को किसी न किसी पात्रों के जरिए ही अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करता है। आलोचना का काम यह देखना है कि रचनाकार की सहानुभूति किसके साथ है। यदि वह शोषक, उत्पीड़क के साथ है, तो उसकी आलोचना होनी चाहिए और यदि ऐसा नहीं हो तो उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाना चाहिए।

'रामचरितमानस' में एक तरफ आदर्श परिवार-समाज है तो दूसरी तरफ इन्द्र, बालि, समुद्र और रावण जैसे दंभी, सामंती और स्त्री लोलुप समाज भी है। रघुकुल का कोई भी सदस्य इन्द्र, रावण, बालि या समुद्र जैसा आचरण नहीं करता है। वानर समाज अपने स्वभाव के अनुसार ही आचरण करता है। समुद्र जिस सामंती समाज का प्रतिनिधित्व करता है, उसके लिए दलित, स्त्री दंड के अधिकारी ही होंगे। सामंती समाज में दलित और स्त्रियों की सामाजिक हैसियत यही थी। समुद्र की मानसिकता उसी सामंती समाज का द्योतक है। गोस्वामी तुलसीदास ने समुद्र से

यह बात कहलवाकर उस समाज की कुत्सित मानसिकता को उजागर किया है। आलोचना की यह भूल है कि 'ढ़ोल गँवार' से ठीक पहले के पद की व्याख्या वह नहीं करती है। इस विवाद का हल उस पद में है। समुद्र ने स्पष्ट कहा है, "हे नाथ! आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी- इन सभी की करनी स्वभाव से ही जड़ है।" जैसे-

"सभय सिंधु गहि प्रभु पद केरे।
छमहु नाथ सब अवगुन मेरे॥
गगन समीर अनल जल धरनी।
इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥"

अब जिसका स्वभाव ही जड़ हो, उससे उदारता, शिष्टाता की अपेक्षा रखना भूल ही होगी। समुद्र का जैसा स्वभाव है, वैसा ही उसने कहा है। पूरे 'रामचरितमानस' में ऐसे कई उदाहरण हैं। रावण द्वारा 'अवगुण आठ सदा उर रहहिं' कहना इसी श्रेणी में आएगा।

'ढ़ोल गँवार शूद्र पशु नारी' की साहित्यिक बिरादरी में खूब आलोचना हुई है। डॉ. बच्चन सिंह ने लिखा, "तुलसी की मूल विचारधारा वर्णाश्रम धर्म की पोषिका है जो इस देश की सामंती व्यवस्था के अनुकूल है। नारी के संबंध में उनका दृष्टिकोण सामंतवाद का पोषक ही ठहरता है।" 'मानस' की जिस 'पराधीन सपनेहु सुख नाही' पंक्ति के डॉ. रामविलास शर्मा मुरीद हैं, उसके बारे में डॉ. बच्चन सिंह का कहना है, "यह विदाजन्य क्लेश है, कोई सार्वभौम सिद्धान्त नहीं।" लेकिन ऐसा नहीं है कि 'रामचरितमानस' में केवल इसी तरह की उक्तियाँ हैं। कुछ सुंदर और उत्कृष्ट बातें भी उद्धृत हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि बिल्कुल साफ है। वे आदर्श स्त्रियों की प्रशंसा करते हैं। भाई की पत्नी, बहन, पुत्री और पत्नी सभी को एक समान मानते हैं। इन पर कुदृष्टि डालने वाले के वध को उचित ठहराते हैं। उनके राम अहिल्या का उद्धार करते हैं, शबरी के जूठे बेर खाते हैं। जिस माता ने उन्हें वनवास दिया, उन्हें एक भी अपशब्द नहीं कहते हैं। कवि के आदर्श चरित्र के लिए यही आचरण अपेक्षित था। जबकि भरत कैकेयी को बहुत भला-बुरा कहते हैं। वे अपनी माता के आचरण पर दु:खी हैं। आत्मग्लानि से आवेश में आकर कहते हैं,

जौ पे कुरुचि रही अति तोहीं।
जनमत काहे न मारेसि मोहीं॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा।
गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥

भरत कैकेयी को पहचानने से इनकार कर देते हैं। स्याही से मुँह पोतकर ओट में बैठ जाने को कहते हैं। परंतु इससे उनके व्यक्तित्व पर दाग नहीं लगता है। वे जितना उग्र होते हैं, उनका चरित्र उतना ही उज्ज्वल होता है। शत्रुघ्न का मंथरा को लात मारना भी पाठकों को नहीं खटकता है। पाठक बुरे चरित्रों के साथ इसी तरह का न्याय चाहते हैं। इसी तरह से उनके भावों का विरेचन होता है।

गोस्वामी तुलसीदास लिंग के आधार पर नहीं, गुण-दोष के आधार पर चरित्रों का मूल्यांकन करते हैं। संभवत: वे हिंदी के पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने यह कहने का साहस किया कि पुरुषों की भाँति स्त्रियों में भी दोष होता है और जिस दोष के कारण पुरुष दंड के भागी होते हैं उसी दोष के कारण स्त्रियाँ भी दंड की भागी होती हैं। इसलिए उनके यहाँ एक तरफ स्त्रियों की प्रशंसा है तो दूसरी तरफ उसकी निंदा भी है। वे कलयुग का वर्णन कर रहे थे. त्रेता या द्वापर का नहीं। स्त्री जननी हैं। परंतु इसी से उनके सारे दोष दूर नहीं हो जाते। यौनिकता के आधार पर

न्याय-अन्याय की बात करना ठीक नहीं है। केवल मातृत्व प्रकृति के कारण स्त्रियों को सभी दोषों से मुक्त नहीं किया जा सकता है। गलत कर्म के कारण ही कृष्ण पूतना का, विष्णु होलिका का और स्वयं राम तारका का वध करते हैं। ये सभी स्त्रियाँ ही हैं। लेकिन मारी गईं। शिवकुमार मिश्र कहते हैं, "गोस्वामी जी में यदि नारी की निंदा है तो नारी चरित्रों का उज्ज्वल आख्यान भी; उनके यहाँ नारी अपने सभी रूपों में—माँ, भगिनी, बेटी, पत्नी, प्रेमिका—हमसे मुखातिब होती हैं और हमें संवेदनात्मक स्तर पर अपने से जोड़ती भी है।" विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं, "मध्यकालीन हिंदी साहित्य में शायद ही दूसरा कवि हो जो नारी-स्वभाव, नारी- मनोविज्ञान से इतना परिचित हो, जो बालिका, किशोरी, प्रौढ़, वृद्धा, सरल, चुगुलखोर, पतिव्रता, कामुक स्त्रियों की चेष्टाओं, भंगिमाओं, मुहावरों से इतना परिचित हो। बड़े-बड़े रीतिकालीन कवियों को बाबा बरसों नारी-मनोविज्ञान सिखा सकते थे।"

कवि कालबद्ध होता है। समय का दबाव उस पर रहता है। उसका मूल्यांकन उसी कालावधि की जटिलताओं के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिए। बदलती हुई चेतना के अनुसार उसका अध्ययन उचित नहीं है। मुगल स्थापित हो चुका था। देश पर मुगलों का शासन था तो समाज में सामंतों व श्रेष्ठ जातियों का। सामंतों के लिए स्त्री भोग्या और दलित सेवक थे। एक का मनमाना भोग किया जाता था तो दूसरा पशुवत जीवन जीने को विवश था. 'मानस' में दोनों उदाहरण मौजूद हैं। 'बालकाण्ड' के 'नारिधरमु पति देउ न दूजा' से लेकर अरण्यकाण्ड के अनुसूइया संवाद 'पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई' तक ऐसे कई उदाहरण हैं जो सामंती अहं को पुष्ट करते हैं। इसके लिए कवि पर व्यक्तिगत रूप से सामंतवादी होने का आरोप लगाना उचित नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास असल में अपने समय की समस्याओं को समेट रहे थे। दुर्भाग्यवश उनके समय का समाज ऐसा ही था। इसलिए जो वे देख रहे थे वही लिख रहे थे। अपनी सोच के अनुसार समाज का निर्माण नहीं कर रहे थे बल्कि समाज की गति को रचनात्मक रूप प्रदान कर रहे थे। उनके इस चित्रण से उनके दौर की स्त्रियों की वास्तविक स्थिति का पता चलता है। उन पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि उन्होंने उस सामंती व्यवस्था को चुनौती देने का काम नहीं किया है। 'मानस' में एक भी स्त्री ऐसी नहीं है जो पुरुष सत्ता को चुनौती देती हो, उसके बनाए नियमों के विरुद्ध आचरण करती हो और स्वतंत्र निर्णय लेकर अपनी ठोस उपस्थिति दर्ज कराती हो। कैकेयी ने ऐसा करने का प्रयास किया था। किन्तु राम के प्रति अत्यधिक मोह ने उल्टा उसे ही दोषी ठहरा दिया गया।

एलेट्रॉनिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग : एक संक्षिप्त अध्ययन

प्रसेकराज*, **डॉ .चंद्रनाथ मिश्र

सारांश

भारतीय संगीत से सम्बन्धित शायद ही ऐसा कोई कलाकार होगा जो इलेक्ट्रानिक वाद्ययंत्रों से अपरिचित हो । वर्तमान समय में विद्यार्थी से लेकर अनेक बड़े-बड़े कलाकार भी इन वाद्ययंत्रों का प्रयोग प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रुप से कर रहे हैं। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इलेक्ट्रानिक वाद्ययंत्रों का हिन्दुस्तानी संगीत में आगमन हुआ। भारत में इलेक्ट्रानिक वाद्ययंत्रों को प्रारम्भ करने का श्रेय श्री राजनारायण दम्पत्ति को जाता है। यह स्वयं उच्च कोटि के बाँसुरी वादक हैं। जिनके अथक प्रयत्नों के परिणामस्वरुप इलेक्ट्रानिक वाद्ययंत्रों का प्रयोग हमारे शास्त्रीय संगीत में किया जा रहा है।इलेक्ट्रॉनिक वाद्ययंत्रों के प्रकार- तालोमीटर, इलेक्ट्रॉनिक तानपूरा इलेक्ट्रॉनिक तबला, इलेक्ट्रॉनिक वीणा, सुनादमाला, स्वरुपिनी डिजिटल स्वरमण्डल ।

की –वर्डस – इलेक्ट्रानिक, वाद्ययंत्र, संगीत, तानपूरा, परम्परा

मध्यकाल तक गुरू शिष्य परम्परा द्वारा संगीत की शिक्षा दी जाती थी। मध्यकाल में कलाकारों को राज्याश्रय मिलना आरम्भ हुआ, तब गुरू शिष्य परम्परा में नया मोड़ आया और घराना परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ । इसका यह परिणाम हुआ कि संगीत की शिक्षा सर्वसुलभ होने से वंचित हो गई । उस परिस्थिति में पंडित विष्णु दिगम्बर तथा विष्णु नारायण भातखंडे जी ने अनेक संगीत विद्यालयों की स्थापना की व संगीत की शिक्षा को सुलभ बना कर संगीत के विद्यार्थियों को एक ऐतिहासिक योगदान प्रदान किया। 20 वीं सदी में वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप माइक्रोफोन, फोनोग्राम द्वारा संगीत जगत को अभूतपूर्व रूप से फायदा हुआ। किसी भी सांगीतिक प्रस्तुति को रिकॉर्ड कर उसे जनसाधारण के लिए उपलब्ध किया जा सका। संगीत भाषा में परिवर्तन और विकास की अवधि के तहत एक दार्शनिक व सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण ने संगीत की पुरानी श्रेणियों को पुन: परिभाषित किया। संगीत में नवाचारों ने कई नए तरीकों का नेतृत्व किया जिसके फलस्परूप हमें संगीत में बहुत से परिर्वतन देखने को मिले । ध्वनि विस्तारक यंत्र जिसे हम साधारण बोलचाल में लाउडस्पीकर कहते हैं , उसका प्रयोग 20 वीं शताब्दी से ही हो गया था। इसके प्रयोग से जहां महफिलों और कार्यक्रमों में श्रोताओं की वृद्धि हुई, वहीं कलाकारों के गायन वादन शैली में भी परिवर्तन हुआ । यद्यपि संगीत मानव की कलात्मक उपलब्धियों व सांस्कृतिक परम्पराओं का मूर्तिमान प्रतीक है, तथापि कला की दृष्टि से

*शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना. मि. वि. वि., दरभंगा

**निर्देशक, अध्यक्ष, एम.एल.एस. एम. कॉलेज, दरभंगा

आज इसमें नवीन प्रयोगों द्वारा युगांतकारी परिवर्तन हो रहे हैं। तकनीक की मदद से आज वादय यंत्र भी परिवर्धित हो रहे है। आज कोई भी कंपोजिशन करने के लिए बड़ी ऑर्केस्ट्रा या वादकों का जमावड़ा नहीं करना पड़ता, अपितु अकेला व्यक्ति भी मात्र अपने मोबाईल की सहायता से कंपोजिशन करने में समर्थ होता है। इलेक्ट्रॉनिक वादय यंत्रों ने संगीत के विद्यार्थियों और साधकों के जीवन में अभूतपूर्व योगदान दिया है। अपने घर में ही बैठकर अभ्यास करने में इलेक्ट्रोनिक उपकरणों का योगदान अतुलनीय इलेक्ट्रॉनिक तानपुरा, इलेक्ट्रॉनिक तबला, इलेक्ट्रॉनिक वीणा, स्वर पेटी, विद्युतीय ताल माला, जैसे कई वादय आज घर-घर में संगीत साधकों को लाभान्वित कर रहे है। इन उपकरणों की सहायता से हम जब चाहे अपने घर में या विद्यालय महाविद्यालय में बैठकर इनकी संगति का लाभ उठा सकते हैं और गायन, वादन और नृत्यकी साधना कर सकते हैं। माइक्रोफोन तथा लाउडस्पीकर ने संगीत की उपलब्धता को बहुत ही सहज बना दिया है। आज इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों के कारण तथा संगीत से तकनीक के जुड़ जाने के फलस्वरूप संगीत के प्रति जन सामान्य में जिज्ञासा व जागरूकता में बढ़ोतरी हुई है।

टेक्नोलॉजी और खुली सोच ने संगीत में अनेक सकारात्मक परिवर्तन लाए है। आज का युवा पाश्चात्य संगीत के साथ शास्त्रीय संगीत को भी उसी प्रेम व रूचि से सुनता है। संगीत का प्रचार तथा प्रसार करने में तकनीक ने जो साथ दिया है, उसके फलस्वरूप गाना व बजाना सीखने वालों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है। टेक्नोलॉजी के आने से संगीत का विस्तार हुआ है और उस्तादों ने भी अपना अपना गाना रिकॉर्ड करना शुरू कर दिया है। टीवी, इंटरनेट के कारण शास्त्रीयसंगीत पुन: जनसामान्य में पंसद किया जाने लगा है । उपलब्धता बढ़ने के कारण ही यह संभव हो पाया है। हम एक ही संगीत बार - बार सुन सकते हैं, पुरानी बंदिशें हमें आसानी से मिल जाती है। दुर्लभ चीजें हम रिकार्ड कर सकते हैं, दूर गांव में बैठे कलाकारों को भी हम आसानी से सुन पा रहे हैं और उन गांव में बैठे कलाकार भी तकनीक के माध्यम से दुनिया में प्रसिद्धि पा रहे हैं। इस तकनीक से संगीत सार्वभौमिक हो गया है। हालांकि इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि औसत गायक भी दिग्गज आवाजों के बीच तकनीक का सहारा लेकर आ जाते है। टेक्नोलॉजी के कारण बेसुरे और बेताल लोग भी सुरीले और लय ताल में आ जाते हैं। इलेक्ट्रॉनिक तानपूरा, तबला पेटी आदि से विद्यार्थी सहज में ही अपना अभ्यास कर सकता है। सिन्थेसाइजर जैसे इलेक्ट्रॉनिक इन्स्ट्रूमेन्ट ने अलग-अलग प्रकार के वाद्य यन्त्रों को एक ही की-बोर्ड पर सम्भव बनाकर चमत्कार ही कर दिया है। इसीलिए आज सामान्य जन-जीवन और फिल्म संगीत में इस की-बोर्ड (सिन्थेसाइजर) का सर्वाधिक महत्व है।

टेलीविजन जैसे श्रव्य एवं दृश्य उपकरण ने मनोरंजन एवं संगीत के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी विकास किया हैं। आज कोई भी घर-परिवार ऐसा नहीं जहां टेलीविजन के रूप में यह छोटा सा सिनेमा स्कोप न हो ।विद्युतीय वाद्य तबला, तानपूरा इत्यादि संगीत शिक्षार्थियों के अभ्यास आदि में सहयोगी सिद्ध हुए इन विभिन्न माध्यमों से संगीत के क्षेत्र में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभावों को अनुभव किया जा सकता है। टेपरिकार्डर में रिकार्ड करने का या अन्य कलाकारों का ध्वन्यांकन सुनकर गायकी बनाने का चलन विद्यार्थियों में उत्पन्न होने लगा है। संगीत के लिए माइक्रोफोन विज्ञान की सबसे बड़ी देन है। इस उपकरण ने संगीत की आन्तरिक

दुनिया को ही बदल दिया है। जो संगीत पहले कुछ ही श्रोताओं के बीच सीमित था, अब माइक्रोफोन के जरिये श्रोताओं की संख्या में बढ़ोत्तरी हुयी ।गायन के साथ-साथ वाद्य यंत्रों के प्रचार में ध्वनि विस्तारक यंत्रों का बहुत बड़ा योगदान रहा। ध्वनि विस्तारक यंत्र की अनुपस्थिति में सितार या सरोद पर किया गया मींड़, गमक या मुर्की, कृन्तन आदि का बारीक काम सीमित श्रोता ही सुन सकते थे और बड़ी-बड़ी सभाओं में केवल मंच के पास बैठे श्रोता ही संगीत का आनन्द ले पाते थे। परन्तु आज मीड़, गमक, कृन्तन, मुर्की आदि का बारीक से बारीक काम भी ध्वनि विस्तारक यंत्र के माध्यम से दूर से दूर बैठे श्रोता को भी स्पष्ट सुनायी देता है। जो वाद्य तार को खींचकर बजाये जाते हैं, उनमें तार से खींचे सूक्ष्म स्वर तथा बाहरी स्वर की प्रतिध्वनि बड़ी जल्दी समाप्त हो जाती है जिसका बिना माइक्रोफोन के श्रोता तक पहुंचना कठिन होता है। माइक्रोफोन से जो स्वर निर्बल कंपन का भी हो वह भी सुस्पष्ट और परिवर्द्धित रुप में सुनायी पड़ता है। इसलिए तत और सुषिर वाद्यों के प्रदर्शन में इन वैज्ञानिक उपकरणों के कारण आश्चर्यजनक परिवर्तन आए तथा इन वाद्यों का ध्वन्यात्मक प्रभाव बढ़ा। आजकल अति सूक्ष्म माइक्रोफोन वाद्यों में ही लगाकर कार्यक्रम प्रस्तुत किए जाते हैं। जिसके माध्यम से वाद्यों के ध्वन्यात्मक सौन्दर्य में पहले की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है ।

इस प्रकार आधुनिक युग में संगीत के क्रियात्मक स्वरुप को चमत्कारपूर्ण बनाने में ध्वनिविस्तारकों का योगदान सराहनीय रहा है। ये यंत्र एक ओर कलाकारों की ध्वनि की तीव्रता को बढ़ाते हैं वहीं दूसरी ओर उनकी ध्वनि के प्रस्तार क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए उसे एक आधार प्रदान करते हैं। इनसे उच्च आवृत्ति की ध्वनियों में सन्निवेश उत्पन्न करने के लिए आवृत्तियों के संतुलन में सहायता प्राप्त होती है तथा वाद्यों और कलाकारों की ध्वनि में माधुर्य एवं स्पष्टता का सृजन भी होता है। ध्वनि विस्तारक यंत्रों के उपयोग में निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है-स्पीकर्स का उपयोग इस बात को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए कि ध्वनिविस्तारक सभागृह में लगाना है या खुले मैदान में।मंच के माइक से स्पीकर की समुचित दूरी होनी चाहिए । स्पीकर यंत्र के अत्यंत निकट रखा जाने से और उसका मुंह माइक की ओर होने से फीडबैक निश्चित रुप से आता है। सभागृह के आकार और श्रोताओं की संख्या को ध्यान में रखकर स्पीकर्स की संख्या निचित करनी चाहिए। माइक उत्कृष्ट कोटि के होने चाहिए तथा जोड़ने वाले तारों को ठीक से लगाना चाहिए क्योंकि खुले तारों को वैसे ही लगा देने से माइक फेल होने की ही आशंका बनी रहती है। ध्वनिविस्तारक यंत्र या माइक माइक की सुविधा उपलब्ध होने से श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हुई तथा इससे कलाकारों एवं संयोजकों को आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ।

आज संगीत जगत में कई नए सॉफ्टवेयर भी आ गए है। सॉफ्टवेयर रिकॉर्डिंग ने संगीत जगत में क्रांति ला दी है। VST (वर्चुअल इंस्ट्रूमेंट टेक्निक) टेक्नोलॉजी द्वारा अब सिंगल माइक से ही रिकॉर्डिंग संभव हो पा रही हैं। यह तकनीक पाश्चात्य वाद्य यंत्रों के साथ-साथ तानपुरा तबला जैसे वादयों में भी में भी मददगार हो रही है। संगीत जगत में हर दिन नए सॉफ्टवेयर आ रहे हैं जो कि नवीन प्रयोगों में तथा नवीन रचनाओं में सहयोग कर रहे हैं। आज संगीत के साधकों व विद्यार्थियों को वाद्य यंत्र खरीदने की आवश्यकता नहीं होती वरन् आई फोन के ऐप्स और एंड्रॉयड एप्लीकेशन में तानपुरा स्वर तरंग, स्वर पेटी, तबला तरंग आसानी से मिल रहे हैं।

इन वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से संगीत की न केवल परम्परागत मान्यताएं बदली है, अपितु प्रयोगात्मक संगीत को भी नवीन दिशाएं मिली है। आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की मदद से आज इंसान संगीत की ऐसी धुनें तैयार कर रहा है जिसे ज्यादा से ज्यादा लोग पसंद करें। संगीत की दुनिया में तकनीक व मशीनों का प्रयोग तो लंबे समय से होता आ रहा है। अलग-अलग ट्रैक पर रिकॉर्डिंग से लेकर अलग-अलग आवाजों में पिरों कर गीते तैयार करने का काम वर्षों से हो रहा है। आज गूगल प्ले आपकी लोकेशन, मौसम व गतिविधि के आधार पर आपको गीत सुनने के सुझाव दे देता है और इसमें कोई भी अचंभे की बात नहीं हमें आगे चलकर संगीतकारों की बनाई धुनों के साथ आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (एआई) द्वारा लिखे गीत व संगीत सुनने को मिले । सॉफ्टवेयर यह गीत हमारे मिजाज के अनुसार तैयार करेगा। अमेज़न ईकों में "डीप म्यूजिक " के द्वारा हम अपनी धुनें तैयार करके तुरन्त सुन सकते हैं। अत: तकनीक के कारण आज कलाकार व श्रोता के बीच का भेद समाप्ति की ओर जा रहा है। इन सॉफ्टवेयर में हम मशीनों को अपना फीडबैक भी दे सकते हैं, जिससे दोनों में सुधार करके नई धुनों की निर्मिती भी की जा सकती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इन मशीनों व सॉफ्टवेयर के आ जाने से हमें मनपंसद संगीत सुनने के लिए इंसानों की जरूरत नहीं रहेगी, एआई सॉफ्टवेयर की मददसे स्पॉटिफाई, यू-ट्यूब, इंस्टाग्राम पर नई पीढ़ी के आने वाले संगीतकारों की खोज भी जारी रहती है। अत: मनुष्य का महत्व कहीं कम नहीं हो रहा। कलात्मकता व सृजनात्मकता के बारे में इंसान बेजोड़ है और उसका कोई भी विकल्प नहीं है। हाँ मशीनें व सॉफ्टवेयर उसकी मदद अवश्य कर सकते हैं। मशीन जो संगीत तैयार करती हैं वह परोक्ष रूप से मानव द्वारा ही तैयार होती है । यद्यपि इन वैज्ञानिक उपकरणों व वाद्य यंत्रों ने अहम भूमिका निभाई है परन्तु जैसे रोबेट सब कार्य करने पर भी मानव का स्थान नहीं ले सकता, उसी प्रकार इन वाद्यों में जो ध्वनि है वह परम्परागत ध्वनि का प्राकृतिक सौंदर्य हमें नहीं दे सकती है। नवरस की सृष्टि तो परम्परागत वाद्यों से ही होती है, क्योंकि उसके पीछे वर्षों का अभ्यास और साधना जो छुपी होती है। अत: परम्परागत वाद्य व नवीन उपकरणों का समन्वय किया जाए तो निश्चय ही फ्यूजन संगीत की तरह एक नई दिशा अपना मार्ग बना लेगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पत्रिकाएँ- 'संगीत, संगीत कला बिहार' तथा 'कला समय'
2. भारतीय संगीत को वैज्ञानिक विश्लेषण - डॉ. स्वतन्त्र शर्मा
3. हिन्दुस्तानी संगीत परिवर्तन शीलता डॉ. असित कुमार बनर्जी
4. भारतीय संगीत शिक्षा व उद्येश्य – डॉ. पूनम दत्ता
5. भारतीय संगीत में वैज्ञानिक उपकरणों का प्रयोग - डॉ. अनीता गौतम विभिन्न वेबसाईट से प्राप्त जानकारी के आधार पर

संस्मरण साहित्य में काशीनाथ सिंह का नया प्रयोग

डॉ० प्रीति राय

शोध-सार

हिंदी साहित्य में काशीनाथ सिंह का योगदान विशेष रूप से उनकी लेखन शैली और प्रयोगशीलता के लिए जाना जाता है। उनके साहित्य में एक महत्वपूर्ण प्रयोग के रूप में देखने को मिलता है। संस्मरण एक ऐसी विधा है जिसमें लेखक अपने जीवन की स्मृतियों और अनुभवों को साहित्यिक रूप में प्रस्तुत करता है। काशीनाथ सिंह ने इस विधा में कई महत्वपूर्ण योगदान किए हैं, जो निम्नलिखित रूपों में दिखाई देते काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों को इस तरह से प्रस्तुत किया है कि पाठक उस समय और स्थिति से सीधे जुड़ाव महसूस कर सके। उनके संस्मरणों में जगहों, घटनाओं और व्यक्तियों का सजीव चित्रण मिलता है, जिससे वह पाठक को उनके अपने जीवन की यात्रा पर ले जाते हैं। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में न केवल उनके व्यक्तिगत अनुभवों का चित्रण मिलता है, बल्कि वह अपने समय और समाज की झलक भी प्रस्तुत करते हैं। उनके लेखन में सामाजिक संदर्भ और समस्याओं पर गहन दृष्टिकोण देखने को मिलता है, जो उनके साहित्य को और भी गहन बनाता है काशीनाथ सिंह की भाषा सरल, सुगम और पाठक के दिल तक पहुंचने वाली होती है। उनके संस्मरणों में आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग अधिक होता है, जिससे वह पाठक के साथ सहजता से संवाद स्थापित कर पाते हैं। इसके साथ ही, वह अपनी लेखनी में स्थानीयता और क्षेत्रीयता को भी प्रमुखता देते हैं, जो उनके साहित्य को और भी विशिष्ट बनाता है।

बीजशब्द - *स्थानीयता, क्षेत्रीयता, जातिवाद, आत्मकथात्मक, संस्कृति*

संस्मरण साहित्य में काशीनाथ सिंह का नया प्रयोग-

उनके संस्मरणों में व्यंग्य और हास्य का भी अद्वितीय प्रयोग देखने को मिलता है। वे सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों पर व्यंग्य के माध्यम से कटाक्ष करते हैं, जो उनके लेखन को रोचक और गहन बनाता है। इसके साथ ही, हास्य के माध्यम से वह पाठक को गुदगुदाने के साथ-साथ सोचने पर भी मजबूर करते हैं। काशीनाथ सिंह ने अपने संस्मरणों में सामाजिक मुद्दों पर गहन विचार किया है। उन्होंने समाज की विभिन्न समस्याओं, जैसे जातिवाद, गरीबी, राजनीतिक अस्थिरता आदि पर अपनी संवेदनशील दृष्टि प्रस्तुत की है। उनके संस्मरण केवल आत्मकथात्मक नहीं होते, बल्कि समाज और समय का भी चित्रण करते हैं। काशीनाथ सिंह के प्रसिद्ध संस्मरणों में से एक 'काशी का अस्सी' है, जो बनारस की गलियों, वहां की संस्कृति, लोगों और जीवन की असली झलक प्रस्तुत करता है। इस पुस्तक में उन्होंने बनारस की जीवनशैली, वहां की बोली, वहां के लोगों के स्वभाव, और बनारसी संस्कृति को बड़ी ही सरलता और हंसी-मजाक के साथ प्रस्तुत किया है। काशीनाथ सिंह का संस्मरण साहित्य

सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ,

एक ऐसी विधा के रूप में उभरता है, जो न केवल व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों को दर्शाता है, बल्कि समाज, राजनीति और संस्कृति की गहरी परतों को भी उद्घाटित करता है। उनका यह प्रयोग साहित्य जगत में एक अनोखी और प्रभावशाली छाप छोड़ता है। काशीनाथ सिंह हिंदी साहित्य के प्रमुख लेखकों में से एक हैं, जिन्होंने विभिन्न विधाओं में अपने लेखन के माध्यम से समाज, संस्कृति और राजनीति पर गहरी छाप छोड़ी है। उनके लेखन का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र संस्मरण साहित्य है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन के अनुभवों, बनारस की संस्कृति, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तनों का सजीव चित्रण किया है। उनका लेखन न केवल व्यक्तिगत अनुभवों का दस्तावेज़ है, बल्कि वह समाज और उसके बदलते स्वरूप को भी अपनी लेखनी के माध्यम से प्रभावी रूप से सामने लाते हैं। काशीनाथ सिंह का जन्म 1 जनवरी, 1937 को बनारस के एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनका साहित्यिक जीवन लंबे समय तक अकादमिक और साहित्यिक गतिविधियों से जुड़ा रहा। उन्होंने हिंदी साहित्य में अनेक महत्वपूर्ण रचनाएँ दी हैं, जिनमें उपन्यास, कहानियाँ, निबंध और संस्मरण शामिल हैं। उनकी रचनाओं में काशी (बनारस) का विशिष्ट स्थान है, जो उनके लेखन का प्रमुख क्षेत्र और विषय रहा है। काशी, वहाँ की संस्कृति, भाषा, लोगों की जीवनशैली और समाज की बारीकियाँ उनके साहित्य प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं। संस्मरण साहित्य की विधा में काशीनाथ सिंह का योगदान अद्वितीय है। संस्मरण साहित्य वह विधा है जिसमें लेखक अपने व्यक्तिगत अनुभवों, जीवन की घटनाओं और स्मृतियों को साहित्यिक ढंग से प्रस्तुत करता है। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में उनकी व्यक्तिगत जीवन की घटनाएँ और अनुभव तो होते ही हैं, साथ ही समाज, राजनीति, और संस्कृति के बदलते पहलुओं पर भी विचार किया गया है। उनका लेखन इस मायने में खास है कि यह न केवल व्यक्तिगत अनुभवों का सजीव चित्रण करता है, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण है । काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में बनारस का जीवन, उसकी संस्कृति, और वहाँ की भाषा एक प्रमुख भूमिका निभाती है। उनके संस्मरण, विशेष रूप से 'काशी का अस्सी', बनारस के अस्सी घाट और वहाँ के जीवन को बेहद सजीवता से प्रस्तुत करता है। यह न केवल एक जगह का विवरण है, बल्कि वहाँ के लोगों के जीवन, उनके विचारों और उनके स्वभाव का गहन अध्ययन भी है। इस पुस्तक में काशीनाथ सिंह ने बनारस के स्थानीय जीवन और उसके परिवेश को जिस तरह से चित्रित किया है, वह हिंदी साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। एक अद्वितीय उदाहरण है, जहाँ काशीनाथ सिंह ने बनारस के जीवन को हास्य, व्यंग्य और यथार्थवाद के साथ प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने न केवल बनारस के घाटों, गलियों और वहाँ के लोगों का चित्रण किया है, बल्कि बनारस के सांस्कृतिक परिवेश को भी गहराई से उकेरा है। इसमें उन्होंने आम जनमानस की भावनाओं, उनकी सोच, उनकी बातचीत और उनके जीवन के संघर्षों को सजीव रूप में उभारा है। यह पुस्तक हिंदी साहित्य में बनारस और उसके जीवन को समझने का एक महत्वपूर्ण साधन बन चुकी है। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में व्यंग्य और हास्य का अनूठा मिश्रण देखने को मिलता है। उनका लेखन समाजके उन पक्षों को उजागर करता है जो सामान्यत: साहित्य में अनदेखे रह जाते हैं। वे साधारण जीवन के भीतर छिपी विडंबनाओं और विरोधाभासों को उजागर करते हैं। उनके व्यंग्य में एक खास प्रकार कीसंवेदनशीलता और

सजीवता होती है, जो पाठकों को गहराई से सोचने पर मजबूर कर देती है। उनके संस्मरणों में समाज और राजनीति के प्रति एक तीव्र दृष्टिकोण दिखाई देता है। वे अपने लेखन के माध्यम से न केवल घटनाओं का वर्णन करते हैं, बल्कि उनके निहितार्थों को भी उजागर करते हैं। उदाहरण के लिए, 'काशी का अस्सी' में उन्होंने बनारस के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर तो ध्यान केंद्रित किया ही है, साथ ही वहाँ की राजनीति, शिक्षा प्रणाली और सामाजिक ताने-बाने पर भी व्यंग्य किया है। उनका व्यंग्य सतही नहीं होता, बल्कि समाज की गहराई में जाकर समस्याओं और विसंगतियों को उजागर करता है। काशीनाथ सिंह के संस्मरणों में सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों पर भी गहरी दृष्टि मिलती है। उनके लेखन में समाज के बदलते स्वरूप और राजनीतिक परिवर्तनों की झलक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उन्होंने न केवल अपने समय की घटनाओं को दर्ज किया है, बल्कि उन्हें गहराई से विश्लेषित भी किया है। उनके संस्मरणों में समाज की विकृतियों, राजनीतिक अवसरवादिता और बदलते सामाजिक मूल्यों पर स्पष्ट टिप्पणी की गई है।

उनका लेखन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह न केवल व्यक्तिगत अनुभवों का संग्रह है, बल्कि समाज और उसके बदलते स्वरूप का भी आईना है। वे अपने संस्मरणों में इस बात पर जोर देते हैं कि किस प्रकार से समाज में हो रहे परिवर्तन और राजनीतिक गतिविधियाँ व्यक्तिगत जीवन को भी प्रभावित करती हैं। यह दृष्टिकोण उनके लेखन को व्यापक और सामाजिक रूप से प्रासंगिक बनाता है काशीनाथ सिंह की भाषा में एक खास तरह की जीवंतता और प्रवाह है, जो उनके संस्मरणों को पढ़ने में पाठक को आकर्षित करता है। वे सरल और सीधी भाषा में लिखते हैं, जिससे उनके पाठक उनसे सीधे संवाद कर पाते हैं। उनकी भाषा में क्षेत्रीयता और स्थानीयता का भी प्रमुख स्थान है। वे बनारस की बोली, वहाँ की संस्कृति और बोलचाल को अपने लेखन में बड़े ही सहज ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनकी शैली में सहजता, प्रवाह और आत्मीयता होती है, जो पाठकों को उनके साथ जोड़ने का काम करती है। उनके संस्मरणों में आम बोलचाल की भाषा का उपयोग होता है, जिससे वे पाठकों के साथ एक गहरा संबंध स्थापित कर पाते हैं। उनकी लेखनी में स्थानीयता और क्षेत्रीयता का अद्‌भुत मेल देखने को मिलता है, जो उनके साहित्य को विशिष्ट बनाता है।

काशीनाथ सिंह के संस्मरण आत्मकथात्मक होते हुए भी व्यक्तिगत अनुभवों से परे जाकर सामाजिक और सांस्कृतिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। उनके संस्मरणों में लेखक की आत्मकथा केवल एक प्रारंभिक बिंदु होती है, जिसके माध्यम से वे समाज और जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहराई से विचार करते हैं। उनका लेखन इस दृष्टि से अद्वितीय है कि यह व्यक्तिगत और सार्वभौमिक अनुभवों का संगम है। उदाहरण के लिए, 'काशी का अस्सी' केवल लेखक की व्यक्तिगत यादों का दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा साहित्यिक कृति है जो उस समय के समाज, राजनीति, संस्कृति और जीवनशैली का गहरा विश्लेषण प्रस्तुत करती है। यह पुस्तक हिंदी साहित्य में संस्मरण विधा के अंतर्गत एक प्रमुख स्थान रखती है और इसने साहित्यिक जगत में नई दिशा दी है।

हिन्दी साहित्य में संस्मरण लेखन की लंबी परम्परा रही है। हिन्दी साहित्यगत विधाओं का आरम्भ भारतेन्दु काल में ही हो चुका था। जिसमे संस्मरण विद्या भी अन्तर्निहित है। भारतेन्दु युग में ही संस्मरण लेखन की शुरूआत हो चुकी

थी। भारतेन्दु युग में जो पहला महत्वपूर्ण संस्मरण लिखा गया वह बालमुकुद गुप्त द्वारा प्रतापनारायण मिश्र का था, जिसमें उनके जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया। यद्यपि भारतेन्दु युग में सस्मरण लेखन की विधिवत् शुरूआत हो चुकी थी फिर भी इस काल में संस्मरण लेखन गर्भावस्था में ही रहा।

द्विवेदी युग में भी संस्मरण लिखे गये। बाबू श्यामसुन्दर दास ने भी इस दिशा में पहल की थी, उन्होंने लाला भगवानदीन पर एक रोचक संस्मरण लिखा था। परन्तु द्विवेदी युग के सबसे पहले महत्वपूर्ण संस्मरणकार के रूप में पद्ममसिंह शर्मा का नाम लिया जा सकता है। संस्मरण जगत में उनकी पुस्तक 'पद्मपराग' का महत्वपूर्ण स्थान है।

भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में संस्मरणों का सृजन हो चुका था। परन्तु संस्मरण साहित्य को अगर किसी ने प्रौढ़ता प्रदान की है तो उसमें बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है। 'हमारे आराध्य', सस्मरण जैसी पुस्तकों की रचना कर वे हिन्दी संस्मरण साहित्य में अमर हो गये है। बनारसी दास चतुर्वेदी के अलावा श्रीराम शर्मा, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र, प्रभाकर, जैनेन्द्र, शिवपूजन सहाय, विद्यावाचस्पति 'इन्द्र, अज्ञेय, जगदीशचन्द्र माथुर उपेन्द्रनाथ अश्क, दिनकर, अमृतलाल नागर, हरिवंशराय बच्चन आदि रचनाकारों ने संस्मरण विद्या पर अपनी लेखनी चलाई। कतिपय लेखकों ने सफल संस्मरणों की रचना की । परन्तु हिन्दी संस्मरण साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक बार विशेष रूप में दिखाई देती है कि रामवृक्ष बेनीपुरी, जैनेन्द्र, बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, महादेवीवर्मा एवं जगदीशचन्द्र माथुर आदि रचनाकारों के उपरान्त सस्मरण-साहित्य की धार मंद पड़ गयी थी। हिन्दी के अनेकानेक लेखक विवेच्य विधा में अपना सहयोग तो दे रहे थे लेकिन कतिपय लेखक संस्मरा-साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कराने में सफल नहीं हो रहे थे। संस्मरण रचे तो जा रहे थे परन्तु साहित्य-चर्चा में नहीं थे। ऐसे समय में काशीनाथ सिंह ने प्रख्यात आलोचक तथा अपने अग्रज नामवर सिंह पर संस्मरण लिखा गरबीली गरीबी वह। हिन्दी जगत में इस संस्मरण की विशेष चर्चा हुई। संस्मरण के बाद काशीनाथ सिंह ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, त्रिलोचन, दूधनाथ सिंह, रवीन्द्र कालिया, विजयमोहन सिंह, ज्ञानरंजन, कमलाप्रसाद, नागानन्द, बच्चन सिंह, विजयशंकर मल्ल, महेश्वर, कुमारसंभव तथा बनारस नगर के सामान्य पात्रों पर संस्मरण लिखे। काशीनाथ सिंह के प्रत्येक संस्मरण की चर्चा हिन्दी जगत में हुई। इसकी खास वजह यह है कि उनके प्रत्येक संस्मरण का पैटर्न एक दूसरे से अलग है। काशीनाथ सिंह के पूर्ववर्ती संस्मरणों के अध्ययन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि उनके संस्मरण हिन्दी संस्मरण-साहित्य में एक मोड़ तथा बदलाव के सूचक है यही काशीनाथ सिंह के संस्मरण लेखन की उपलब्धि है।

साहित्य हर विधा असीमित सम्भावनाशील होती है। उसे बराबर ऐसे हाथों का इंतजार होता है जो कुम्हार की तरह अन्दर से तो तनिक सहारा दे पर बाहर अधिक से अधिक ठोक-पीटकर नयी-नयी शक्ले निखारे और उभारे। काशीनाथ सिंह ने अपनी संस्मरण पुस्तक याद हो कि न याद हो में यही किया है।

उन्होंने संस्मरण लेखन को एक नया अंदाज और व्यस्कता दी है।

काशीनाथ सिंह उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में हैं जिन्हें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे साहित्यिक ऋषि एवं आचार्य अध्यक्ष का सानिध्य प्राप्त हुआ है। अनेक संस्मरण लेखकों ने हजारी

प्रसाद द्विवेदी की महिमा का गुणगान किया है। अपनी लेखनी से हिन्दी साहित्य की शोभा संवर्धन करने वाले द्विवेदी स्वभावत: उदार मानवतावादी व्यक्ति थे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी सन् 68-69 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रेक्टर बनाये गये। उस दरम्यान लेखन ने जो महसूस किया, उसने द्विवेदी जी की खूबियों को जाना और खासकर खामियों को भी पहचाना, उन खूबियों एवं खामियों को इस संस्मरण में रेखांकित किया गया है। विवेच्य संस्मरण में हजारी प्रसाद द्विवेदी की विद्यता, उनके गरिमामय व्यक्तित्व, बनारस में उनकी लोकप्रियता, उनकी वाक्कला आदि पक्षों को उद्घाटित किया है। लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी को मात्र श्रद्धापरक भाव से स्मरण नहीं करता अपितु आचार्य द्विवेदी के कमजोर पक्षों को भी निष्पक्ष भाव से उजागर करता है। इतने छोटे से संस्मरण में हजारी प्रसाद द्विवेदी के समूचे व्यक्तित्व की झलक कलात्मक रूप से मिलती है।

इस संस्मरण की शुरूआत आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के काशी आगमन से होती है। द्विवेदी जी बनारस शहर में अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति है। उनकी इस लोकप्रियता का प्रमाण निम्नलिखित प्रसंग में मिलता है- "सात वर्षों बाद आ रहे है" पंडित जी हिन्दी विभागाध्यक्ष होकर, कला, समाजविज्ञान, कृषि, विधि, चिकित्सा, इंजीनीयरिंग सभी कालेजों के विद्यार्थी बेचैन है। इतने महान् और इतने सरल व्यक्तित्य की झलक पाने के लिए। लोगों का उल्लास देखने लायक है। हर आँख में चमक, हर चेहरे पर पुलक अधर-अधर पर पंडित जी।

कोई ऐसा जलसा नहीं जिसमे जी न हो और जिसमे पंडित जी हो उसमे भीड के उपद्रव से बचने के लिए प्रेक्षागृहों और हॉलों के बाहर स्पीकर न लगाने पड़े। अजीब दीवानगी का माहौल था उन्हें देखने-सुनने के लिए।' उनकी लोकप्रियता का एक कारण उनकी आकर्षक वाक्कला रही है तथा अगाध पाण्डित्य भी उसमे सहायक पक्ष माना जायेगा।

काशीनाथ सिंह पृथ्वीराज रासो का हवाला देते हुए बड़े ही नाटकीय ढंग से द्विवेदी के भव्य व्यक्तित्व को उभारने की कोशिश करते हैं। आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व का चित्रण रेखाचित्र शैली' में अभिव्यक्त हुआ है। चित्रकार जिस प्रकार अपनी कूची और रंगो की सहायता से व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करता है उसी तरह काशीनाथ सिंह शब्दों के माध्यम से व्यक्तिचित्र उपस्थित करते हैं। काशीनाथ सिंह के शब्दों में इतनी कलात्मकता है कि स्मरणीय और अदृश्य व्यक्तित्व हमारे सम्मुख दृश्यमान हो जाते है। हजारी प्रसाद द्विवेदी का चित्र वे इस तरह प्रस्तुत करते हैं- "उधर पंडित जी के अध्यक्षीय भाषण की घोषणा होती और इधर तालियों की गडगडाहट का न थमने वाला क्रम। और मंच पर अनिच्छा से खड़ा होता एक लबड-सब्धब्ध सा ढीला-ढाला मगर भव्य व्यक्तित्व। पखे की हवा में लहराते हुए सिर पर सफेद बाल। बार-बार कधे से सकरती हुई शाल को संभालता एक हाथ। सफेद मूँछों के नीचे मुसकान या अनायास निश्छल हँसी। मुखमंडल पर ऐसी शाति जैसे विश्व का कोई रहस्य छिपा न रह गया हो। और अंत में माइक के आगे खड़ा दिखाई पड़ता सृष्टि के विध्वंस के बाद जीवित बचा रह गया एक सर्वकालीन ऋषि।"[2]

प्रस्तुत संस्मरण में काशीनाथ सिंह आचार्य द्विवेदी का मात्र गुणमान नहीं करते वरन बड़े साहस एवं निष्पक्षता के साथ उनके अन्तर्जगत के दुर्बल पक्षों को भी दिखाते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने महत्तम गुणों के बावजूद पहले मनुष्य है। कोई भी व्यक्ति, वह कितना ही बड़ा

महात्मा क्यों न हो पहले मनुष्य ही होता है और जहाँ वह मनुष्य यहाँ सम्पूर्ण उज्जवलता की कामना बेमानी है। मनुष्य होने के नाते वहाँ कुछ-न-कुछ स्याह-सफेद अवश्य रहता है। इसीलिए मनुष्य एवं उसकी मनुष्यता को मानवीय रूप में देखने और समझने में ही हम सबका कल्याण है। प्रसंगवश काशीनाथ सिंह अपने आचार्य गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी को एक मनुष्य मात्र के रूप में देखते है। आचार्य द्विवेदी को वे अतिमानवीय या सुपरमैन के रूप में चित्रित नहीं करते वरन् उनकी मानवीय कमजोरियों को भी तटस्थता के साथ प्रस्तुत करते है यही वजह है कि काशीनाथ सिंह के संस्मरण पाठक वर्ग को इतने आकर्षित करते है और आत्मीय लगते हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में रेक्टर बन जाने के बाद द्विवेदी उन छात्रों के पक्षपर हुए जो कालेजों में उपद्रव मचा रहे थे, निरीह लड़कों को बिना वजह पीट रहे थे, शराब और गाँजा पी रहे थे। लेखक इस बात से दु:खी है कि सच्चाई को जानते हुए भी आचार्य द्विवेदी इन बातों से अनभिज्ञ से बने रहे, चुप्पी मार गये। जबकि लेखक के अनुसार न तो लेखक द्विवेदी का साहित्य इस बात की अनुमति देता है और न ही उनका व्यक्तित्व। काशीनाथ सिंह इस संदर्भ में लिखते है- "जिस फुसफुसाहट जैसी मद्धिम आवाज में पडित जी आत्मालाप कर रहे थे, उससे पूरा माहौल दहशत से भर गया। हे भगवान! यह कौन बोल रहा है?" रेक्टर या कैदी? जहाँ जासूसी हो रही हो, जहाँ अपने मन की बात कही नहीं जा सकती, जहाँ दम घुट रहा हो, खुली हवा में साँस लेना दूभर हो गया हो, जहाँ अपने मनवाली न की जा सके, जहाँ शाति सैनिक की शक्ल में लफंगे और गुडे विहार कर रहे हो और रेक्टर खुद उनसे भयभीत हो वहाँ कैसे जी रहे है पडित जी।

क्या उन्हें नहीं मालूम कि उन्हीं के शाति सैनिक मैदानो कालेजो, सड़कों और छात्रावासों में निरीह लड़कों को बिला वजह पीट रहे है, घड़ी रेडियों रूपए पैसे छीन रहे है, शराब - गांजा पी रहे है? क्या उन्हे नहीं पता कि उन्हें अब भी चाहने वाले लड़के उन्हें पाखंडी, ढोंगी, नौटंकीबाज, पद का लोभी और भी जाने क्या-क्या कह रहे है ?

अन्य संस्मरण लेखकों की तरह काशीनाथ सिंह अपने प्राचार्य एवं गुरू द्विवेदी की मात्र प्रशंसा नहीं करते वरन् उनको मानवीय धरातल पर ले आते हैं। अपने गुरु के प्रति श्रद्धा सम्मान एवं आदर का भाव रखते हुए वे उनकी खामियों को नहीं छिपाते। बावजूद इसके द्विवेदी जब रेक्टर पद छोड़कर विश्वविद्यालय से प्रस्थान करते है तब सबसे अधिक आहत लेखक स्वयं ही है। उनके हृदय की पीड़ा इन पक्तियों में देखी जा सकती है।

मैं ऊपर नीचे, आगे-पीछे, बाए दाएँ हर एक से पुकार पुकारकर कह रहा हूँ कि ध्यान से देखो। आँखे खोलकर। एकाग्रचित होकर। बहुत दिनों का अतिथि नहीं है इस धरती पर यह व्यक्ति और यह व्यक्ति भी नहीं है- अपने भीतर सदियों से चली आ रही नाना प्रकार की संस्कृतियों समेटे समूची भारतीयता है - अपनी अच्छाइयों और कमजोरियों के साथ। इसे ऐसे न जाने दो अरे कोई सुन रहा है? कहाँ है दुदभी बजाने वाला देवता? किधर है विमान पर बैठे पुष्प वर्षा करने वाले देव? क्या कर रहे है गायक नर्तक, किन्नर - गंधर्व? क्या हो गया है इन तमाम समारोहधर्मियों को ?

पडित जी चले जा रहे है अपने में खोए हुए, अकेले और चुप। मैं चिल्ला रहा हूँ जाने कब से, मगर कोई नहीं सुन रहा है- न छात्र, न अध्यापक न कर्मचारी विशिष्ठ कवि त्रिलोचन पर लिखा गया सस्मरण काशीनाथ सिंह शैलीगत

विशिष्टता को स्पष्ट करता है। जिस शैली का प्रयोग लेखक ने इस संस्मरण में किया है ऐसी अद्‌भुत शैली का प्रयोग शायद ही किसी संस्मरण में हुआ हो? त्रिलोचन पर लिखा गया संस्मरण भी विशिष्ट प्रमाणित होता है कि जिस प्रकार का व्यक्ति 'त्रिलोचन संस्मरण में आता है वह वास्तविक जगत का न होकर अदृश्य जगत का त्रिलोचन है। बनारस में त्रिलोचन को लेकर अनेक किवदंतियां त्रिलोचन को लेकर बनारस के लोगों में प्रचलित है। काशीनाथ सिंह के त्रिलोचन दृश्य परम्परा के न होकर श्रुति परम्परा के त्रिलोचन है। इस सम्बन्ध में लेखक का कथन है- 'मैने त्रिलोचन को देखा नहीं है सिर्फ सुना है। उससे बनारस में पच्चीस-तीस सालों के दरम्यान अक्सर भेंट हुई है, लेकिन कभी नहीं देख सका । 'देखना एक कठिन क्रिया है। देखने का अर्थ है आँखों के रास्ते उस आदमी के दिल तक पहुँच जाना, उसके दिमाग के कोने अंतरे तक झोंक आना। उसकी आँतो के चक्कर लगा आना।

काशीनाथ सिंह की इस टिप्पणी के बावजूद हम कह सकते हैं कि त्रिलोचन के दिल-दिमाग में झाँक आये है, इतना ही नहीं बल्कि उनके आँतों की एक्सरे भी उनके पास है। इसका प्रमाण है लेखक की निम्नलिखित पंक्तियाँ लेकिन क्या खाता था? आपने उसकी कोठरी के कोने में रखे कनस्तर और डिब्बे कभी खोलकर देखे ? किसी में दाल है तो चावल नहीं, चावल है तो आटा नहीं, सब है तो कोयला नहीं, और कोयला भी है तो सब्जी के पैसे नहीं।

फिर भी इस नगर में ऐसा एक भी आदमी नहीं जो कह दे कि त्रिलोचन ने उससे अमुक काम के लिए उस साल पाँच रूपए उधार लिए थे। '

काशीनाथ सिंह त्रिलोचन की आर्थिक परिस्थिति से पाठको को परिचित कराते है। पैसे की तंगी के बावजूद त्रिलोचन की स्वाभिमानी वृत्ति भी यहाँ पर स्पष्टता से देखी जा सकती है। इस लौहपुरुष त्रिलोचन से लेखक उनकी निजी जिन्दगी सम्बन्धी कुछ प्रश्न भी पूछता है, जिनका जबाब वह, त्रिलोचन से नहीं बल्कि उस समाज से चाहता है जो इसके लिए जिम्मेदार हैं। जैसे " जनवार्ता" जैसे लोकल और टुटपुंजिए

अखबारों में तुम्हे कितनी पगार मिलती थी त्रिलोचन?

तुम्हारे कुर्ते और पाजामे में ये छेद कितने महीनो से, सालों से है त्रिलोचन?

त्रिलोचन, मैं बहुत धीमे से तुम्हारे कान में यह पूछ रहा हूँ तुम दोपहर बाद और रात को विदा होने से पहले बाल्टी बाल्टी भर पानी क्यो पिया करते हो त्रिलोचन? 7

इनके बावजूद इस नगर में शायद ही कोई हो जिससे ने कहा हो कि-

इन दिनों बड़ी तंगी में दिन कट रहे है।
हो सके तो कोई काम-धंधा दिलाओ।

बीवी को होली पर साड़ी चाहिए, कोई बन्दोबस्त करो। बेटा मनमानी कर रहा है, मेरी नहीं सुनता।

जाहिल और मूर्ख सहायक तिवारी मेरा बॉस हो गया है।

मेरा कुर्ता चिथड़ा हो गया है, पजामा तार-तार हो गया है, चप्पल टूट गई है, सर्दी हो गई है, बुखार आ गया है, सिरदर्द हो रहा है, पडोसी ने स्कूटर खरीद ली है, बीवी बीमार है और मुँह फुलाए है आदि-आदि।"

विवेच्य संस्मरण हिन्दी के एक श्रेष्ठ संस्मरणकार की अपने वरिष्ठ लेखक के प्रति सम्मान का भाव प्रकट कर रहा है वास्तव में कवि त्रिलोचन के ऊपर जो आवरण आच्छादित है उस आवरण को ही काशीनाथ सिंह नहीं देखते अपितु उस आवरण के नीचे जो मार्भिकता है,

कटु यथार्थ है, उसकी अन्त:परतों को भी देख लेते हैं। काशीनाथ सिंह ने विवेच्य संस्मरण में स्वाभिमानी, मुसीबतों से न डिगने वाला, भयंकर अर्थाभाव में जुझने वाले कवि त्रिलोचन संघर्षरत व्यक्तित्व को मुखरता प्रदान की है। संस्मरण साहित्य में यह बेजोड़ रचना है।

इस संस्मरण को पढ़ते हुए हम काशीनाथ सिंह के अपने नगर बनारस के साथ एक खास तरह के पसन्द-नापसन्द भरे रिश्ते से परिचित होते हैं। यह उनका नगर है लेकिन यह नगर प्रतिभाओं के साथ जैसा बर्ताव करता है उसके प्रति अपनी नाराजगी को लेखक कही भी छिपाता नहीं है।

संदर्भ :

1. काशीनाथ सिंह, याद हो कि न याद हो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० 15,19
2. वहीं, पृ० 19
3. वहीं, पृ० 35
4. यही, पृ० 37, 38
5. वही, पृ० 49
6. वहीं, पृ० 46
7. वहीं, पृ० 49, 74
8. कामेश्वर प्रसाद सिंह, सम्बोधन, साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका, केन्द्रीय हिन्दी सस्थान, आगरा से सहयोग, प्राप्त जनवरी 2012 जनवरी 2013, पृ० 12

लोक संगीत का समाज पर प्रभाव : एक विवेचनात्मक अध्ययन

अनंत शंकर*, डॉ. अरविन्द कुमार**

शोध सार

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में संगीत का प्रचलन हो रहा है। समाज का अभिन्न अंग होने के कारण इसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन मानी जाती है। संगीत का मनुष्य के सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू से प्रगाढ़ सम्बन्ध माना जाता है। हजारों वर्ष पूर्व से ही संगीत और समाज विषय पर विभिन्न प्रकार के विचार व्यक्त किये जाते हैं। प्राचीन काल से ही दुनिया के अनेक समुदायों ने संगीत के माध्यम से समाज में एक अलग स्थान अर्जित किया है। संगीत और समाज का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है, जिसमें किसी एक के बिना दूसरे की कल्पना करना भी असम्भव है। व्यक्ति को समाज की ईकाई माना जाता है यदि वह संगीत का सफल कलाकार होता है तो उससे समाज स्वस्थ, सुदृढ़ और सबल होता है। अत: समाज के सुधार के लिए संगीत एक अनिवार्य तत्व के रूप में कार्य करता है। संगीत अपने प्रारम्भिक काल से ही दो धाराओं के रूप में प्रवाहित हो रहा है। एक धारा वह है जिसमें संगीत अपने परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप में प्रचलित है जिसे प्राचीन ग्रन्थों में गान्धर्व अथवा मार्गी संगीत कहा गया है जिसका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति था। संगीत की दूसरी धारा वह थी जिसका लक्ष्य जन-मनोरंजन होने के कारण जन-साधारण की सहज भावाभिव्यक्ति अथवा रूचि के अनुकूल परिवर्तन सुलभ था, जिसको ग्रन्थों में गान अथवा देशी संगीत का नाम दिया गया था। जन अनुरूप होने के कारण देशी संगीत में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। इस कारण इसका स्वरूप बदलता रहा है। भारतीय समाज में जो संगीत सर्वाधिक प्रचलन में है उसे भाव संगीत कहा जाता है। इस संगीत में नियमों का बन्धन नहीं होता है। इसका मुख्य लक्ष्य स्वर, लय, काव्य के समन्वय द्वारा लोक का रंजन करना होता है। विभिन्न अवसरों पर प्रचलित संगीत लोक संगीत, भाव संगीत, चित्रपट संगीत, भजन इत्यादि इसी श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। लोक संगीत के माध्यम से हमें समाज और संगीत के नैसर्गिक सम्बन्ध का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। समाज में होने वाली उथल-पुथल ही लोक संगीत के विकास का कारण बनती हैं अर्थात् लोक संगीत और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। लोक संगीत के माध्यम से हमें समाज के समस्त पक्षों के दर्शन हो जाते हैं।

सूचक शब्द :- लोक, संगीत, समाज, धार्मिक, भौगोलिक, सामाजिक।

लोक शब्दोत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा- लोक शब्द प्राचीन काल से ही भारतीय समाज का अभिन्न अंग रहा है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में 'देहिलोकम' में इस शब्द का प्रयोग स्थान के लिए किया गया है।

लोक शब्द 'लोक' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना अर्थात इस दृष्टि से जो कुछ भी हमें दृष्टिगोचर हो रहा है वही हमारा लोक है। पुरातन युग में लोक शब्द का अर्थ 'जन' अथवा

*शोधार्थी- संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

**शोध निर्देशक- संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

'जगत' से माना गया है किन्तु आधुनिक समय में लोक शब्द को लोकतन्त्र या सम्पूर्ण जन मानस अथवा प्रजा को सुलभ रूप में व्यवहृत किया गया है। वर्तमान समय में लोक शब्द का तात्पर्य ग्रामीण समाज से लगाया है। ग्रामीण लोगों का रहन-सहन, उत्सव, पर्व, मेले, गीत सभी का आशय लोक शब्द से ही माना जाता है।

''लोक संगीत वह सार्वभौमिक संगीत है जो प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय संकीर्णताओं से परे अपने मौलिक सिद्धान्तों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विवेच्य हो सकता है। संगीत की 'भित्ती' ध्वनि होने के कारण उसकी व्यापकता अन्य ललित कलाओं से अधिक है। स्वरों एवं लयों की सूक्ष्मता का ज्ञान न होते हुए भी एक साधारण रसिक नाद की सम्मोहिनी शक्ति से आकृष्ट हो उसका रसास्वाद कर सकता है।''[1]

''लोक संगीत मानवीय संवेदनाओं के सहजतम उद्गार हैं और लोक संगीत का सिर्फ एक उद्देश्य है मानव हृदय की भावनाओं की अभिव्यक्ति एवं लोक रंजन। जनमानस की सभी प्रकार की अभिव्यक्ति चाहे वह प्रसन्नता का अवसर हो या विषाद का कटु अनुभव अथवा वह जन आवेश हो, लोक गीतों के माध्यम से होती है। यही लोक गीत, लोक वाद्य और लोक नृत्य के साथ मिलकर एक अद्भुत लोक संगीत को जन्म देते हैं। जिनके प्रदर्शन विभिन्न संस्कारों, पर्वों, ऋतुओं तथा उत्सवों पर दिखाई देते हैं।''[2]

समाज शब्दोत्पत्ति, अर्थ, परिभाषा-

समाज शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'अज' (चलना) धातु से बना है। सामान्य व्यवहार में समाज का अर्थ ऐसे मानव समूह से माना जाता है जो सुख-दुख में एक-दूसरे का साथ देता है किन्तु समाज केवल मानवों का समूह ही नहीं है यह सामाजिक सम्बन्धों की संस्था है। इस संस्था में व्यक्ति परिवार, वर्ग, समुदाय, राष्ट्र आदि शामिल होते हैं। सामाजिक संस्था में व्यक्ति रीढ़ का काम करता है। व्यक्ति समाज का अनिवार्य अंग होता है तथा व्यक्ति ही समाज को पूर्णता प्रदान करता है। समाज और व्यक्ति एक-दूसरे के पूरक होते हैं। इन दोनों का अलग-अलग कोई अस्तित्व नहीं होता है। व्यक्ति समाज में रहकर ही सब कुछ प्राप्त करता है। समाज में रहकर व्यक्ति जिन अच्छे या बुरे प्रभावों से युक्त विचारधारा का अनुशीलन करता है उसी से उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है।

लोक संगीत एवं समाज का अन्तः सम्बन्ध-

लोक संगीत और समाज का सम्बन्ध शरीर और उसके अंगों के सदृश है दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। लोक संगीत भारतीय समाज की आत्मा है। भारतीय जनमानस प्राचीनकाल से ही लोक संगीत से प्रभावित रहा है। लोक संगीत मानव हृदय के भावों को अभिव्यक्त करने का सबसे सुगम एवं सरल माध्यम है। भारतवर्ष के कोने-कोने में लोक संगीत की मिट्टी की भीनी सुगन्ध की भांति समाये हुए हैं। लोक संगीत में मानव जीवन के माधुर्य की स्पष्ट झलक मिलती है। लोक संगीत में समाज का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखाई देता है। लोकगीत मानव के बाह्य जीवन के साथ-साथ आन्तरिक भावों के भी परिचायक होते हैं किन्तु इनमें सूक्ष्मता की अपेक्षा स्थूलता एवं स्पष्टता का अधिक महत्व होता है। लोकगीत सरल, स्वाभाविक, संक्षिप्त, स्पष्ट, सुन्दर, संगीतमय तथा अनुभूतिमय होते हैं। संगीत का समाज से सम्बन्ध अत्यन्त प्रगाढ़ है। भारत की सामाजिक परम्परायें इतनी अधिक गहरी है कि लोक संगीत और सामाजिक जीवन को अलग-अलग करना असंभव है क्योंकि मनुष्य

के जन्म से लेकर मृत्यु तक लोक संगीत का साथ रहता है।

यह कहना अतिश्योक्ति न होगा कि जिस प्रकार समाज का आईना साहित्य को माना जाता है उसी प्रकार लोक संगीत भी समाज का दर्पण होता है। समाज की सच्ची अभिव्यक्ति को लोक संगीत ही अभिव्यक्त करता है। लोक संगीत और समाज का सम्बन्ध स्थाई है क्योंकि मनुष्य सामाजिक परिवेश में ही अपने संगीतमय भावों को व्यक्त कर सकता है। मानव के सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू का जुड़ाव लोक संगीत से अटूट है। प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक लोक संगीत हमारे समाज का अभिन्न अंग रहा है। लोक संगीत को प्रत्येक काल की सामाजिक स्थिति का द्योतक माना जाता है तथा उस काल की वास्तविक सामाजिक स्थिति का रूप लोक संगीत ही प्रकट करता है इसका कारण यह है कि लोक संगीत के साथ सामाजिक तथ्यों के ताने-बाने जुड़े होते हैं। हर युग के लोक संगीत में तत्कालीन समाज की आवश्यकतायें, सामाजिक स्थिति का स्पष्ट स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। लोक संगीत के माध्यम से सामाजिक जीवन शैली को भलीभांति समझा जा सकता है। प्रत्येक स्थान का लोक संगीत उस स्थान विशेष की सामाजिक परम्पराओं से प्रभावित होता है। यही कारण है कि पूर्वी और पश्चिमी देशों के संगीत में भिन्नता स्पष्ट दिखाई देती है। लोक संगीत का हमारी सामाजिक परम्पराओं से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण न चाहते हुए भी इन्हें अपनाया जाता है जिसके कारण हमारी सामाजिक परम्परायें अपने मूलरूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ती रहती है। ये परम्परायें समाज के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। लोक संगीत किसी भी समाज का मूर्तिमान रूप होता है जिससे वहाँ के समाज की कलात्मक उपलब्धियों और परम्पराओं का ज्ञान होता है।

लोक संगीत का समाज पर प्रभाव-

यद्यपि सामाजिक दृष्टि से देखा जाये तो प्रत्येक कला का अपना महत्व है लेकिन लोक संगीत का समाज में विशेष महत्व है। मानव जगत के साथ-साथ सम्पूर्ण प्रकृति लोक संगीत से प्रभावित है। लोक संगीत भारतीय परम्परा में कितना महत्वपूर्ण है अथवा यह समाज के लिए कितना उपयोगी है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है। मानव के जन्म से लेकर मृत्यु तक लोक संगीत का साथ रहता है। केवल हर्ष, उल्लास के समय ही नहीं अपितु मृत्यु जैसे शोकपूर्ण माहौल में भी लोक संगीत का साथ बना रहता है। समाज में प्रत्येक अवसर पर्व, परिस्थिति, स्थान के अनुसार सांगीतिक रूप में भिन्नता होती है। लोक संगीत से समाज के कौन से प्रयोजन सिद्ध होते हैं, वह किस प्रकार हमारे लिए उपयोगी है। हमारे समाज और हमारे जीवन में लोक संगीत का महत्व क्यों है? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। लोक संगीत का सम्बन्ध समाज में प्रचलित परम्पराओं, स्थानीय भाषा एवं सामाजिक भावनाओं से होता है इसलिए लोक संगीत में उस स्थान के रहन-सहन, बोलचाल, वेश-भूषा तथा आचार-विचार का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। लोक संगीत समाज के हर वर्ग, हर समूह में रचा-बसा है, इसका मुख्य कारण है यह संगीत के शास्त्रीय नियमों के बन्धन से मुक्त है। मानवीय भावों की सरलतम तथा मधुरतम अभिव्यक्ति ही लोक संगीत का प्रयोजन है। लोक संगीत उस सुर-सरी के समान है जिसका मुख्य उद्देश्य लोक कल्याण है। बाह्य दृष्टि से लोक संगीत केवल मनोरंजन का माध्यम माना जाता है किन्तु अन्त:दृष्टि से देखा जाये तो भारतीय सामाजिक स्थिति, रीति-रिवाज़, सभ्यता व संस्कृति का विशिष्ट रूप लोक संगीत

में दृष्टिगोचर होता है। जिसके माध्यम से समाज की सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, भौगोलिक, आर्थिक इत्यादि स्थिति का आंकलन किया जा सकता है। लोक संगीत ने प्रत्येक काल में समाज को प्रभावित किया है।

धार्मिक प्रभाव-

प्राचीन काल से ही समाज में धर्म को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। भारतीय समाज का आचरण तथा जीवन-दर्शन धर्म के अनुरूप है। लोक संगीत के माध्यम से पूजा-अनुष्ठान, व्रत-उपवास, कथा-कहानियाँ और देवी-देवताओं के कथा साहित्य का प्रचलन, लोक मानस के धार्मिक प्रभाव का उत्कृष्ट महत्वपूर्ण पक्ष है। लोक संगीत में अनेक क्षेत्रीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त बृह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवताओं की भी पूजा करने की परम्परा है। लोकगीतों में देवी-देवताओं की पूजा का बहुत महत्व है, किसी भी मांगलिक कार्य को आरम्भ करने से पूर्व गणेश पूजन की परम्परा लोकगीतों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। भारतीय समाज में देवी-देवताओं की पूजा से सम्बन्धित अनेक परम्परायें प्रचलन में हैं। प्रत्येक नगर और गाँव में राम, कृष्ण, हनुमान, शिव, गणेश आदि देवताओं के मन्दिर स्थित होते हैं। इन सभी मन्दिरों में समय-समय पर भक्ति से सम्बन्धित गीतों-लोकगीतों का गायन किया जाता है। भारतीय समाज में 16 संस्कारों की परम्परा का प्रचलन है इन संस्कारों को जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न अवसरों पर कराया जाता है। पुत्र जन्म के छठवें दिन छठी मनाने की परम्परा का प्रचलन भारतीय समाज में है। परिवारीजनों को बुलाकर लोकगीतों के माध्यम से सूर्य, चन्द्रमा, यमुना, ग्रह देवता, ग्राम देवता आदि की पूजा की जाती है। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार, मुण्डन संस्कार, विवाह संस्कार के समय भी धार्मिक लोकगीतों का गायन किया जाता है। राजस्थानी लोकगीतों में भक्ति से सम्बन्धित अनेक लोकगीत प्राप्त होते हैं जिसमें 'हरजस' जिसका शाब्दिक अर्थ 'हरि का गुणगान या भगवान का नाम लेना' है। इसका गायन बुजुर्ग महिलायें तथा पुरूषों द्वारा किया जाता है। राजस्थानी धार्मिक लोकगीतों में रामदेव जी, डूँग जी, पाबू जी, जाम्भौजी, तेजा जी, गोगा जी आदि प्राप्त होते हैं। प्रत्येक राज्य में लोक देवी-देवताओं से सम्बन्धित लोकगीतों का गायन भी किया जाता है जिसमें राजस्थान में करणी माता, चौथ माता, दिपाणी माता, शीतला माता, दुर्गा माता, चामुण्डा माता प्रमुख हैं। भारतीय समाज में तीर्थ स्थलों से भी सम्बन्धित धार्मिक लोकगीतों का प्रचलन है जिसमें गंगा, यमुना, बद्रीनाथ, सोरों, गंगा सागर इत्यादि हैं। इसी प्रकार मिथिला में गोसाउनिक गीत के माध्यम से किसी भी शुभ कार्य का प्रारम्भ किया जाता है। इसके अतिरिक्त नचारी, महेशवाणी, कीर्तन, पराती, सांझ, गंगा के गीत, शीतला माता, ब्रह्म गीत, गुरू के गीत तथा निगुर्ण गीतों का गायन किया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रदेशों में भी अनेक धार्मिक लोकगीतों का प्रचलन है जिससे समाज में धर्म के प्रति आस्था प्रगाढ़ होती है।

सामाजिक प्रभाव-

लोकगीतों का सामाजिक दृष्टि से काफी महत्व है, इन लोकगीतों में मानव-जीवन का जितना सजीव और स्वाभाविक चित्र उपलब्ध होता है उतना कहीं और नहीं होता है। समाज का वास्तविक स्वरूप का पता लगाने के लिए हमें लोकगीतों का अध्ययन करना चाहिए। लोकगीतों में मानव जीवन के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान, रीति-रिवाज़, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आपसी सम्बन्ध का वास्तविक वर्णन प्राप्त होता है।

लोकगीतों का समाज के प्रधान अंगों से सम्बन्ध अटूट है। प्राय: यह देखा गया है कि लोकगीतों का मुख्य आधार सामाजिक रीति-रिवाज़, परम्परायें, उत्सव एवं भिन्न-भिन्न त्यौहार हैं, इनमें सहज-सुलभ मनोरंजन की विशेष अनुभूति रहती है। लोकगीत समाज के नैतिक उत्कर्ष तथा सम्यक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसका मूल कारण यह है कि लोकगीतों का मानव के दैनिक क्रिया-कलापों से निरन्तर सम्बन्ध रहता है। उदाहरण स्वरूप- भारतीय समाज की परम्परा में बालक के जन्म से लेकर उसके जीवन के लगभग सभी मांगलिक अवसरों की पुनीत प्रथाओं आदि ऐसा कोई पर्व, दैनिक कार्य या सामाजिक उत्सव नहीं होता जो लोक संगीत के बिना होता हो। जन्म से लेकर मृत्यु तक सोलह संस्कारों की परम्परा भारत के विभिन्न प्रदेशों में दृष्टिगत होती हैं। वर्तमान समय में इन सोलह संस्कारों में से मुख्यत: जन्म संस्कार, नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार का ही प्रचलन होता है। इन संस्कारों से सम्बन्धित लोकगीत लगभग हर प्रान्त में गाने की परम्परा है जिससे बच्चे का संगीत से सम्बन्ध जन्म के साथ ही हो जाता है। विभिन्न प्रदेशों में सोलह संस्कारों में से विभिन्न अवसरों पर निम्नलिखित लोकगीतों का गायन किया जाता है- उत्तर प्रदेश में जन्म के पश्चात् सोहर गीत गाने की परम्परा है तथा जन्म के छठे दिन छठी पूजन भी लोकगीतों के माध्यम से किया जाता है, इसके पश्चात नामकरण संस्कार के समय भी लोकगीतों का गायन किया जाता है। इसी प्रकार पंजाब में भी जन्म से लेकर मृत्यु संस्कार के अवसर पर विभिन्न लोकगीत गाये जाते हैं। पंजाब में जन्म के अवसर पर आयुवाची (संस्कार सम्बन्धी) लोकगीतों में सोलहड़े, बधावे, लोरियाँ गायी जाती हैं। वहीं विवाह के अवसर पर घोड़ियाँ, सुहाग, सिट्ठणीयाँ आदि लोकगीतों को गाया जाता है। मृत्यु से सम्बन्धित लोकगीतों में 'अलाहुड़ियाँ' गाया जाता है। पजांब तथा अन्य राज्यों की लोक संगीत परम्परा सामाजिक महत्व की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध मानी जाती है।

नैतिक प्रभाव-

संगीत मनुष्य के मानसिक एवं व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज में संगीत की सत्ता और सार्थकता की पहचान केवल बौद्धिक प्रयत्नों के कारण है। व्यक्तिगत व्यवहार पर संगीत का प्रभाव स्थायी होता है। संगीत व्यक्तित्व के मनोभावों को प्रभावित करता है। हमारे देश की संस्कृति आदर्शों और नैतिक मूल्यों की नींव पर स्थापित है। यहाँ के लोकगीतों में मानव जीवन से सम्बन्धित नैतिक मूल्यों को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है। इन लोकगीतों के माध्यम से बाल्यावस्था से ही नैतिक शिक्षा दी जाने का प्रचलन है। समय-समय पर होने वाले महत्वपूर्ण संस्कारों जैसे- जन्म, नामकरण, मुण्डन, विवाह इत्यादि से सम्बन्धित लोकगीतों के माध्यम से समाज में नैतिक गुणों का विकास होता है। बृज के लोकगीतों में जन्म एवं विवाह के अवसर पर अनेक नैतिक मूल्यों की शिक्षा का प्रावधान है, जैसे गर्भवती स्त्री का ध्यान रखना, उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करना, विवाह के समय परिवार के सदस्यों में प्रेम तथा सौहार्द का वातावरण बनाने तथा बड़ों का आदर और बच्चों को प्यार करना प्रमुख है। लोकगीतों में वर्णित नैतिक मूल्यों को मानव बड़ी ही सरलता से ग्रहण कर लेता है। इससे मानव जीवन मर्यादित और संयमित रहता है। लोकगीतों द्वारा भारतीय आदर्शों की स्थापना होती है। लोकगीत एक उन्नत समाज बनाने में सहायक होते हैं। लोकगीत हमारे समाज को एकता के बन्धन में बांधे रहते हैं। जिस बात

को मनुष्य किसी के कहने से नहीं सीख सकता उसे वह लोकगीतों के माध्यम से बड़ी सरलता से सीख जाता है। इन लोकगीतों से मानव की सत्प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं, जिससे उसका जीवन उन्नतशील और महान बनता है। मनुष्य के चरित्र निर्माण में लोकगीतों की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है। लोकगीतों के माध्यम से मुख्यत: राम व कृष्ण के आदर्शों को प्रस्तुत किया जाता है। छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में शिशु के जन्म के पश्चात् उसकी तुलना राम और कृष्ण से की जाती है और उसके माता-पिता को कौशल्या और दशरथ की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के लोकगीतों में नैतिक मूल्यों के उत्थान का उत्कृष्ट उदाहरण प्राप्त होता है।

व्यवसायिक एवं भौगोलिक प्रभाव-

किसी भी समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रथम सीढ़ी उसकी आर्थिक स्थिति का सबल होना माना जाता है। अगर किसी देश की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं है तो उसका सामाजिक स्तर भी सन्तुलित नहीं होता है। हमारे देश में आदि काल से ही संगीत का प्रभाव हमारी अर्थव्यवस्था में दृष्टिगत होता है। संगीत में व्यवसायिकता का उल्लेख हमें वैदिक काल से ही प्राप्त होता है, उस समय सूत, सैलूष, काहलवादक इत्यादि संगीतजीवी वर्ग होते थे। वर्तमान समय में लोक संगीत भी ऐसा माध्यम है जो हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। वर्तमान समय में लगभग सभी प्रान्तों में लोकगीतों को व्यवसायिक उद्देश्य से गाने वाले कलाकार हैं किन्तु राजस्थान, पंजाब तथा हरियाणा इन राज्यों के लोक कलाकारों का आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है, इन राज्यों की कुछ विशेष जातियाँ तो पूर्णत: लोकगीतों के माध्यम से ही अपना जीवनयापन करती हैं। हरियाणा में मिरासी, बंजारा, सपेरा, डोम, बंचारी, जोगी, बादी, खातीवास, वाजीगर, नट, गूग्गा इत्यादि। लोकगीतों के माध्यम से किसी भी क्षेत्र की भौगोलिक जानकारी भी आसानी से प्राप्त हो जाती है। भौगोलिक प्रभाव के अन्तर्गत उस प्रदेश या क्षेत्र से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध स्थानों, वस्तुओं की जानकारी मिलती है। इन गीतों में बनारस की साड़ी, दिल्ली का वैध, आगरा का ताजमहल का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है। नगरों तथा नदियों के नाम भी लोकगीतों में सुनाई देते हैं। विवाह के गीतों में अयोध्या, जनकपुर, मथुरा आदि का भी नाम सुनने को मिलता है।

ऐतिहासिक प्रभाव-

ऐतिहासिक महत्व के दृष्टिकोण से भारतीय लोक संगीत में अनेक ऐसे लोकगीत, लोक गाथाओं का प्रचलन है जिनसे हमें इतिहास के महत्वपूर्ण तथ्यों का पता चलता है। हरियाणा में 'सांग' गायन में वीर गाथाओं के प्रसंग, इसके अतिरिक्त कुरूक्षेत्र, पानीपत, दिल्ली आदि रणक्षेत्रों के साथ भारतीय इतिहास की महान घटनाओं का सम्बन्ध है। यहाँ अनेक वीरों की गाथाओं का गायन किया जाता है जिसका सम्बन्ध अधिकांशत: मध्यकाल के इतिहास से है इसमें आल्हा-ऊदल, गूगापीर, भूरा वादल, हाड़ीरानी, अमर सिंह राठौर, वीर जवाहर मल आदि गाथायें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। हरियाणा की जोगियों के साके परम्परा आल्हा परम्परा से प्राचीन मानी जाती हैं। जोगियों के साके ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राजस्थानी लोकगीतों में वीर दुर्गादास की वीरता से सम्बन्धित उद्धरणों का बखान मिलता है। छत्तीसगढ़ी लोक संगीत में पंडवानी, भरतहरि चरित्र, कल्याण शाह, लखनवीर सिंह, सीताराम नायक, लोरिकी, आल्हा-ऊदल, भैरोंलाल,

रसालू, अहिमनरानी, रामचरित्र, कंबलारानी, देवारानी, फूलकुंवर तथा देवी-देवताओं की गाथाओं के माध्यम से ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती हैं। ये गाथायें भारतीय समाज को बहुत प्रभावित करती हैं।

निष्कर्ष-

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि लोक संगीत एक ऐसी कला है जिसका समाज के उत्थान में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है। लोक संगीत का धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आर्थिक, भौगोलिक हर क्षेत्र में योगदान है। लोक संगीत का मानव जीवन में जितना हस्तक्षेप व प्रभाव है उसे नकारा नहीं जा सकता है। भारतीय समाज में लोक संगीत इस तरह बसा हुआ है कि इसके बिना मानव जीवन की कल्पना भी करना असम्भव है। लोक संगीत के बिना जीवन नीरस व बोझिल है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. गर्ग, डॉ. लक्ष्मीनारायण, संगीत निबन्ध, संगीत कार्यालय हाथरस, संस्करण-2012, पृष्ठ-108
2. श्रीवास्तव, वीणा, भारतीय लोक संगीत, राधा पब्लिशन्स, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ-7, 13, 93
3. सिवाच, डॉ. सुनीता, लोक संगीत में समीपवर्ती क्षेत्रों का योगदान,सत्यम पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली-2006, पृष्ठ-48-108
4. उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, लोक साहित्य की भूमिका, साहित्य भवन प्रा. लिमिटेड, इलाहाबाद, संस्करण-2010, पृष्ठ-11
5. धनकर, डॉ. रीता, हरियाणा तथा पंजाब की संगीत परम्परा, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृष्ठ-14
6. पेन्टल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण-2011, पृष्ठ-31-33
7. पाण्डेय, डॉ. विमल चन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस-2016, पृष्ठ-82-91

पं. विदुर मल्लिक : दरभंगा घराना के महान गायक

राजन कुमार मिश्र*, डॉ.चंद्र नाथ मिश्र**

स्वर्गीय विदुर मल्लिक, अमता घराना के महान गायक के साथ उदार गुरू और संगीत-प्रचारक थे, जिन्होंने संगीत के क्षेत्र में अनेक समर्थ संगीतज्ञ शिष्य तैयार किए,जो इस समय देश के विभिन्न संस्थानों में अपनी सेवा दे रहे हैं। आपका जन्म 1934 ई. में अमता घराने के संस्थापक बंधुओं ''राधाकृष्ण-कर्ताराम'' में राधाकृष्ण की परंपरा में हुआ था। आपके पिता स्व. सुखदेव सिंह मल्लिक एक सिद्धहस्त गायक थे,जिन्होंने स्वर्गीय राजितराम मल्लिक जी से संगीत की शिक्षा पायी थी। आपके चाचा स्वर्गीय सुबुध मल्लिक इसराज वादक थे,जिनकी संगीत शिक्षा डुमराँव महाराज के नाजिर तथा घनारंग परम्परा के मार्कन्डेय दुबे से हुई थी। विदुर जी बचपन से ही मेधावी थे,संगीत की आरंभिक शिक्षा इन्हें अपने पिता से ही प्राप्त हुई थी,वैसे उन दिनों इनके गाँव अमता में संगीत का सशक्त वातावरण था। आरम्भ में इन्होंने गायन के साथ तबला एवं सितार का अभ्यास किया। वे तबला के साथ पखावज भी कुशलता पूर्वक बजाते थे।आपके पितृपक्ष के साथ मातृपक्ष में भी एक से बढ़कर एक धुरन्धर संगीतज्ञ हो चुके थे। आपकी माता जी को दुर्लभ रागों में असंख्य बंदिशे एवं गतें भी याद थी। इसका ननिहाल गया जिला के पड़ैया प्रखंड अंतर्गत संगीतज्ञों का प्रसिद्ध गाँव ईश्वरपुर में था, इनके मामा स्व. बलराम पाठक बीसवीं सदी के महान सितार वादक हुये हैं। वर्तमान में इनके पुत्र सर्वश्री अशोक पाठक और विनोद पाठक ख्याति प्राप्त सितार एवं तबला वादक हैं। अपनी माता से इन्होंने अनेक बंदिशें तथा गते सीखी थी। मातृपक्ष के संगीत का प्रभाव इन पर था। पैतृक संगीत शिक्षा पिता एवं चाचा से पाने के अतिरिक्त पिता के गुरू भाई पं. रामचतुर मल्लिक, प्रख्यात पखावज वादक पं. विष्णुदेव पाठक, प्रसिद्ध ठुमरी गायक चन्द्रिका मल्लिक, बड़े भाई के समान राजकुमार मल्लिक जिन्होंने ग्वालियर के माधव संगीत विद्यालय में राजाभैया पूंछवाले से संगीत की शिक्षा पायी थी। इनके बड़े भाई बच्चा जी के असामयिक निधन से इनके पिता पर ऐसा आघात पड़ा कि वे युवा पुत्र के शोक में अपने पिता जी की समाधि पर निर्मित मंदिर पर विरक्त जीवन व्यतीत करने लगे। संपन्न किसान होने के कारण आवश्यकता की सभी चीजें उपलब्ध थी।आरंभिक जीवन बहुत ही सुख-सुविधा में होने के कारण आप जीवन भर आराम पसंद व्यक्ति थे। ग्रामीण वातावरण इन्हें अधिक भाता था। अपने पिता से इन्होंने ध्रुवपद, धमार, ख्याल, ठुमरी के अतिरिक्त टप्पा गायन

*शोध छात्र, विश्व विद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना. मि वि ,दरभंगा
**अध्यक्ष संगीत विभाग, एम. एल. एस. एम. कॉलेज, दरभंगा

की भी शिक्षा पायी थी।बड़े ही खुले हुए एवं आजाद स्वभाव के थे पंडित जी।आप आरंभिक दिनों में कई संस्थाओं से जुड़े रहे, सर्वप्रथम समस्तीपुर में अपने शिष्य रामस्वार्थ ठाकुर जी की संस्था ''शास्त्री कला भवन'' में प्रमुख गुरू के रूप में रहे। समस्तीपुर के तत्कालीन जिला कलक्टर सरदार महिन्द्र सिंह उन दिनों इनके प्रशंसक और भक्त थे। मधुबनी में एस. डी. ओ. के अपने कार्यालय में बेनीपट्टी के चैतन्य स्थान में राधाष्टमी के अवसर पर प्रत्येक वर्ष होने वाले संगीत समारोह में महिन्द्र सिंह जी ने पंडित जी का गायन सुना था और उसी समय से ये पंडित जी के गायकी के प्रशंसक बन गए। समस्तीपुर आने से पूर्व जब जमशेदपुर एवं सहरसा में महिन्द्र सिंह जी पदाधिकारी थे, वहाँ उन्होंने पंडित जी को बुलवाकर इनका संगीत आयोजन करवाया था। समस्तीपुर के प्रवास में इनके सान्निध्य से कई लोगों को लाभ मिला तथा शास्त्रीय संगीत के प्रति आम लोगों के रूचि पैदा हुई। 'मतवाला' जी तो इनके शिष्य थे ही, इनके साथ उन दिनों बनारस घराने के अनोखे लाल जी के शिष्य रमेश महराज जो खगड़िया में प्रवास करते थे, पंडित जी के घनिष्ट हुए और बराबर संगीत गोष्ठियाँ होने लगी। पटसा के जमींदार नक्कु चौधरी तबला वादक, पवड़ा के रामदेव चौधरी, वाड़ी के मोहन चौधरी आदि संगीत मर्मज्ञों को भी इनसे लाभ मिला। 1979 ई0 में दरभंगा में स्थापित ब्रह्मनंद कला महाविद्यालय में आप संगीत विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। दरभंगा पंडित जी का गृहनगर होने के कारण आरंभिक समय से ही इनके यहाँ अनेक भक्त और शिष्य हो चुके थे। ''झूलनोत्सव'' एवं ''दुर्गापूजा'' के अवसर पर नगर में होने वाली संगीत आयोजन में इनकी प्रस्तुति होती थी, जिससे भी इनके प्रशंसकों की संख्या बढ़ रही थी। उन दिनों लहेरियासराय राय साहब पोखर के निकट ''राम-जानकी मंदिर'' में इस क्षेत्र के संगीतज्ञ लोग ठहरा करते थे। पंडित जी भी पटना आने-जाने के क्रम में तथा केस-मुकदमें की पैरवी के लिए दरभंगा आने पर इसी स्थान पर रूकते थे। इनके अलावा इस स्थान पर रामपुकार सिंह ''तबला वादक'' रामनारायण पाठक ''सितार-वादक''बृजमोहन चौधरी, ''गायक'' बासुदेव राय ''गायक'' पंडित रामाशीष पाठक, चन्द्रकुमार मल्लिक आदि भी यहाँ रूकते थे। सत्तर के दशक में ही आप आकाशवाणी के ध्रुपद , धमार, एवं ख्याल गायन में ''बी-हाई'' श्रेणी के कलाकार हो चुके थे। उन दिनों आपका कार्यक्रम आकाशवाणी पटना'' से प्रसारित होता था। पटना आने-जाने के क्रम में कई लोग इनके सान्निध्य में आए। बिहार विधान सभा में प्रशाखा पदाधिकारी श्री अर्जुन पांडे, जो स्वर्गीय किशन महाराज के शिष्य थे ,वे कुशल तबला वादक थे। हफ्तों संगीत गोष्ठी पाण्डेय जी शास्त्री नगर स्थित आवास पर होती थी। यहीं से हृदयनारायण भारती को भी इनका सान्निध्य लाभ मिला, जो इन दिनों ''मोकामा होई स्कूल'' में संगीत शिक्षक के पद पर अवकाश प्राप्त हैं। पटना के बलराम बाबा मल्लिक जी का विशेष सम्मान किया करते थे। इनके यहाँ प्रतिवर्ष गुरू पूर्णिमा के कार्यक्रम में पंडित जी आमंत्रित होते थे। कई संस्थानों से जुड़े रहने के बाद भी आम लोगों के बीच संगीत के प्रचार-प्रसार में भी सक्रिय रहे।विशेषकर मिथिलांचल में आपने अपनी प्रस्तुतियों से ग्रामीण लोगों के बीच शास्त्रीय संगीत के प्रति आग्रह पैदा किया। रोसड़ा ''पचगामा'' स्थान के महंत भोला दास जी स्वयं संगीत मर्मज्ञ थे। प्रत्येक वर्ष मनाए जाने वाले ''रामनवमी'' और ''जन्माष्टमी'' के संगीत आयोजन में इनकी उपस्थिति अनिवार्य रहती थी। इनकी गायी शास्त्रीय, उपशास्त्रीय

चीजों को ग्रामीण श्रोता घंटों सुनती थी। डा.पांचू गोपाल,नारायण बाबू , विद्युत अभियंता देवेन्द्र झा आदि इनके प्रशंसकों में थे। सीतामढ़ी ''जानकी स्थान'' के महंथ भी इनके गायन के अनुरागी थे, तीन दिनों तक चलने वाले रामनवमी के संगीत समारोह में एक दिन भी पंडित जी की उपस्थिति अनिवार्य रहती थी। यहाँ भी इनके अनेक प्रशंसक थे। बेगूसराय के ''बीहट स्थान'' पर विवाह-पंचमी के संगीत समारोह में पंडित जी प्रत्येक वर्ष सम्मिलित होते थे।सर्वश्री महेश्वर जी और शंकर जी इनके प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे।1975 से 1980 के आरंभिक दिनों में गुरू जी यहाँ बलभद्रपुर में मेरे यहाँ अस्थायी रूप से रहते थे।आगे चलकर आवश्यकतावश बलभद्रपुर में ही दिनेश प्रसाद श्रीवास्तव ''मार्केटिंग आफिसर'' के मकान में रहने लगे। आकाशवाणी एवं मिथिलांचल के संगीत कार्यक्रमों में भागीदारी के अतिरिक्त 1972 में पहली बार वाराणसी के ''तुलसीघाट'' पर आयोजित ''प्रथम ध्रुपद मेला'' में देश के चोटी के धुरंधर ध्रुवपद गायकों, वादकों एवं समीक्षकों के सम्मुख इन्हें गाने के अवसर मिला। इनके गायन की सुदृढता का चमत्कारिक प्रयोग तथा संतुलन को देखकर समस्त संगीत समुदाय हतप्रभ हो गया था, उस कार्यक्रम में पंडित जी ने राग ''षाडव बसंत'' में आलाप और ध्रुपद तथा धमार गाया था। गायन में इनका साथ इनके बड़े पुत्र पं. रामकुमार मल्लिक ने दिया था। इनके बाद प्रतिवर्ष ध्रुपद मेले में आपके कार्यक्रम होते थे। इन्हें ''तुलसी सम्मान'' से सम्मानित किया गया। वाराणसी में पंडित जी के प्रशंसकों में स्वयं तुलसीघाट एवं संकट मोचन के महंथ और कुदऊ सिंह परम्परा के सिद्धहस्त पखावज वादक पंडित अमरनाथ मिश्र, ध्रुपद मेले के कार्यक्रम में पंडित जी को अपने निजी हवेली में ठहराते थे। महंथ जी के अतिरिक्त उन दिनों वाराणसी में बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध संगीत शास्त्र एवं विद्वान पंडित लालमणि मिश्रा, संगीत शास्त्र विभाग के श्री माहेश्वर झा, सितार विभाग के प्रवक्ता प्रो0 राजभान सिंह, बाँसुरी विभाग के प्रवक्ता प्रो0 सी0एल0 श्रीवास्तव इनके प्रशंसक थे। तत्कालीन बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय के ''मंच कला संकाय'' की अध्यक्ष तथा प्रसिद्ध संगीतशास्त्री विदुषी डा0 प्रेमलता शर्मा इनके गायन को ही वास्तविक ध्रुपद मानती थी। धीरे-धीरे पंडित जी की ख्याति फैलने लगी थी। वर्ष 1981 में दिल्ली के अपने एक कार्यक्रम में पंडित जी ने महाकवि विद्यापति के पद को ध्रुपद में निबद्ध करके गाया था। मिथिलांचल की लोक रागनियों एवं विद्यापति गीत के प्रति इनका विशेष लगाव रहता थ। अपने प्रत्येक कार्यक्रमों में मिथिलांचल की चीजों को अवश्य गाते थे। वर्ष 1983 में ''भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद्'' नई दिल्ली के द्वारा दस यूरोपीय देशों में मनाए जाने वाले ध्रुपद समारोह में इन्हें सम्मिलित होने का अवसर मिला और इस तरह पहली बार यूरोपीय रसिकों को आपके मधुर गायन के रसास्वादन का अवसर प्राप्त हुआ। उसी वर्ष डागर परंपरा के ध्रुपद गायकों ने इन्हें ध्रुपद सोसाइटी द्वारा आयोजित 'बहराम खाँ ध्रुपद समारोह'' में गाने के लिए जयपुर में आमंत्रित किया था। इस कार्यक्रम में इसके द्वारा गाए गए बागेश्वरी में आलाप और ध्रुपद तथा सूल-ताल में निबद्ध राग ''सहाना'' में प्रस्तुत इनके संस्कृत पद को उपस्थित सभी डागर परंपरा के गायकों ने ग्रीनरूम'' में आकर इनकी प्रशंसा की थी और सामने मुख्यमंत्री ''शिवचरण माथुर'' के पास बिठाया। ज्ञात हो कि इस कार्यक्रम के मुख्य अतिथि कतर देश के राजदूत ''हसन उल रहमान'' थे। वृंदावन में ''अन्तर्राष्ट्रीय ध्रुपद समारोह'' के आयोजक तथा

संगीत मर्मज्ञ ''श्री वत्स गोस्वामी'' के आग्रह पर पंडित जी उनके गुरूकुल ''चैतन्य प्रेम संस्थान'' में देशी-विदेशी छात्रों को ध्रुपद की शिक्षा देने के लए राजी हुए, और इस तरह ब्रज क्षेत्र में दरभंगा घराने की ध्रुवपद गायकी की शिक्षा का एक अध्याय आरंभ हुआ। 1983 के बाद से आप केन्द्रीय रूप से वृन्दावन में ही रहने लगे। पंडित जी से संगीत शिक्षा प्राप्त करने वाले शिष्यों में प्रमुख हैं: वृंदावन के सुखदेव चतुर्वेदी, ब्रजभूषण गोसाई, वेणु गोपाल गोस्वामी ''मन्टुनजी'' तयण दास, राधागोविन्द दास, पुनीत गोस्वामी। इनके विदेशी शिष्यों में इटली की अमेलिया कुनी, अनाजिला अदामी, इंग्लैंड की सेलिना फेनिमन जर्मनी के पीटर आदि हैं। 90 के दशक में ही आप आकाशवाणी के सर्वोच्च श्रेणी के कलाकार हो गए।''आकाशवाणी संगीत सम्मेलन'' एवं''अखिल भारतीय'' आकाशवाणी के कार्यक्रम के द्वारा विभिन्न केन्द्रों से आपके गायन का प्रसारण हुआ। वर्ष 2001 में न्यूयार्क स्थित ''उस्ताद अली अकबर खाँ'' द्वारा आयोजित ''ध्रुवपद टू-रैप'' नामक संगीत आयोजन में आपके कार्यक्रम सराहनीय रहे। पंडित जी की गायकी अत्यन्त ही सुरीली एवं भाव प्रणव थी। ब्रज के कुछ शिष्यों के आग्रह पर इन्होंने वृंदावन में जमीन-मकान खरीद लिया था, ब्रजवासी शिष्य गुरूजी को किसी हालत में छोड़ना नहीं चाहते थे। मधुमेह के कारण धीरे-धीरे शरीर कमजोर होने लगा था। आरंभ से ही उन्मुक्त जीवन जीने वाले यायावर संगीतज्ञ को ''परहेज'' से भी ''परहेज रहा''। मिथिलांचल के लोगों के लिए दही और मिष्ठान का त्याग करना अति कष्टकारण होता है। दिन-ब-दिन हालत बिगड़ने लगी, बिमारी के हालत में ही पंडित जी वृंदावन से पटना आए। संभवत: अंतिम समय में उनकी इच्छा अपनों के बीच पैतृक गाँव ''अमता'' में रहने की थी। परंतु नियंता के योजना को कौन बदल सका है। शिष्यवत् पटना के हृदय रोग चिकित्सक डा. विजय कुमार द्वारा ''किडनी'' के बिगड़ने और इन्हें बड़े अस्पताल दिल्ली आदि ले जाने की हिदायत पर आसक्त गुरूजी को लोग झटपट इलाहाबाद ले आए, जहाँ किडनी बदली गयी, अति संवेदनशील चिकित्सा व्यवस्था में ''डायलसिस' पर रखा गया, संपूर्ण परिवार इनकी सेवा में जुटा रहा।सरस्वती का वरद पुत्र और मिथिलांचल का दुलारा 21 जुलाई 2002 को इस संसार से विदा हो गये।पंडित विदुर मल्लिक के बाद इनका भरा-पूरा परिवार एवं शिष्यगण इनकी संगीत परंपरा को आगे बढ़ाने लगे हैं,इनमें इनके बड़े लड़के पं. राम कुमार मल्लिक,आकाशवाणी,दरभंगा के बी-हाई''श्रेणी के कलाकार मंझले लड़के अनन्त कुमार मल्लिक गायक एवं तबला वादक सम्प्रति वृंदावन तथा इनके छोटे पुत्र डा. प्रेम कुमार मल्लिक, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद तथा ''ए-श्रेणी'' कलाकार आकाशवाणी, इलाहाबाद।इनकी तीन लड़कियों में बड़े दामाद रंजन कुमार मिश्र 'ख्याल गायक' हैं, मंझले एवं छोटे दामाद सर्वश्री घनश्याम उपाध्याय एवं रविशंकर उपाध्याय प्रख्यात पखावज वादक रामजी उपाध्याय के पुत्र हैं। रविशंकर जी इलाहाबाद आकाशवाणी के ''ए-श्रेणी'' के पखावज वादक हैं। वर्तमान समय में पंडित जी के बारह पौत्र-पौत्रियों में सभी युवा प्रतिभावान गायक हैं।

''मध्यकालीन हिन्दी काव्य का अन्य ललित कलाओं से अन्त:संबंध'' (केशव के काव्य में सौन्दर्य दर्शन के सन्दर्भ)

डॉ. चैतराम यादव

केशव के काव्य में सौन्दर्य दर्शन

''कला मन की एक मौलिक और सहजात वृत्ति है, जो सर्वभौम और सनातन होने के कारण आदिम युगों से लेकर आज तक हमारे सम्मुख हैं।''[1]

मनुष्य जब संज्ञान में आया तो वह अपने को, इस संसार को और इस ब्रम्हाण्ड को समझने के लिए व्याकुल हो उठा होगा। आज की सभ्यता, संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान का विकास उसी व्याकुलता का शुभ फल है। जिस प्रकार पीड़ा मनुश्य को जन्म देती है, उसी प्रकार मानव भी अपने को और इस ब्रम्हाण्ड को समझने की पीड़ा ने हूँक और भूख ने आज की सभ्यता, संस्कृति और कला को जन्म दिया हैं।

कला मानव के लिए एक दैनिक वरदान है। कला ही मानव समाज में नैतिकता एवं सौन्दर्य दृश्टि की दात्री है। सुन्दर संस्कृति व सभ्यता के मूल में कला का ही हाथ है। धरती पर नदी, पर्वत, वृक्ष, लताएं आदि जो भी दृश्यमान है, वह सब कला विभूत है, उन्हें कला द्वारा संजोया, संवारा जाता है। कला सर्वत्र व्यापक एवं विराट है।

प्रकृति प्रभु की देन है, तथा कला मानव की कृति इसलिए कला प्रकृति से प्रेरणा लेकर उसे विभिन्न रुपों में उतारती रहती है।

कला का अर्थ - सुन्दर, मधुर, कोमल और सुख देने वाला होता है।

विद्धानों. के अनुसार परिभाशा:-

प्रो. रोनाल्ड के अनुसार, 'कला वास्तविकता को अपने में ही खोजती है।'

अरस्तु के अनुसार - art is a shadow of shadow

फ्रेंच समालोचक फागुर कहते है कि कला भाव की उस अभिव्यक्ति को कहतें है, जो तीव्रता से मानव हृदय का स्पर्ष कर सकें।

''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भी एक अनुभूति का दूसरे तक पहुंचाना ही कला का रहस्य है।''[2]

महात्मा गांधी के अनुसार - ''एक कला को दूसरे तक पहुंचाना ही कला हैं।''[3]

कला वही है जो हर एक व्यक्ति के हृदय को छुए। ''कला को समाज में चेतना उत्पन्न करने वाली शक्ति के रुप में ग्रहण किया गया हैं। कई विद्वानों ने सौन्दर्य को ही कला का मापदण्ड माना हैं।''[4]

प्रत्येक कला मन को शांति देने वाली

(अतिथि व्याख्याता हिंदी) : शास-रानी सूर्यमुखी देवी महाविद्यालय छुरिया, राजनांदगांव ,छत्तीसगढ़

आनन्दित करने वाली होती है। ''कला को प्रमुखतया दो वर्गो में विभाजित किया गया है - ललित कला और उपयोगी कला।''[5]

भरतकृत 'नाट्यशास्त्र' में प्रयुक्त कला शब्द संभवत: ललित कला का बोधक है और शिल्प कदाचित् उपयोगी कला का सूचक है।

डॉ. विमल के अनुसार, ललित कलाओं के दो प्रकार माने जाते है -

1 अभिव्यक्ति परक (Expressive)

2 कल्पनात्मक (I magnative)

उपयोगी कला का संबंध हमारी भौतिक आवष्यकताओं की संपूर्ति तथा सभ्यता के कमिक विकास है, जबकि ललित कला का संबंध हमारे सौन्दर्य-बोध, सांस्कृतिक विकास तथा आध्यात्मिक चेतना सें है।

'ललित कला के नियम एवं शैली में परिवर्तन होते रहते है। अत: देश काल और परिस्थिति की सापेक्षता में बनने बिगड़ने वाले जीवन दर्शन और आनन्दित मूल्यों से ललित कला का सीधा एवं निकट का संबंध रहता है।''[6]

मानव हृदय की भावनाओं को जब बड़े सुन्दर रुप में प्रस्तुत किया जाये, जिसमें आत्मा प्रसन्न हो और दृढ़ अलौकिक आनन्द से परिपूर्ण हो जाय तो वह ललित कला कहलाती है। जितनी भी ललित कलाएं है वो सभी मन की अभिव्यक्ति है। कला में संगीत को सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है। इसके पश्चात् स्थापत्य कला, मूर्तिकला, चित्रकला, नाट्यकला आदि। कला सफल अभिव्यक्ति का नाम है। और अनुभूति जब तक सफल न हो, अभिव्यक्ति नही हो सकती।

''प्रत्येक कला की अपनी-अपनी विशेषताएं है। वास्तु कला में जहां भवनों की जो विशालता का आभास होता है। वह उस उदान्त अनुभव की ओर ले जाने में सहायक होता है, जो केवल प्रकृति के विशाल एवं खुले प्रांगण में पहुंचने पर ही संभव है।"7वो कहीं व्यापक सुसंगठित एवं वांछित भावो को स्थायी माध्यम द्वारा प्रतिष्ठापित करना मूर्तिकला है। यह कला धार्मिक प्रतिमाओं एवं मानव प्रतिमाओं के द्वारा परिलक्षित होती है। मूर्तिकला जीवन की गतिशीलता का स्थिर चित्रण है। चित्रकला बहुत ही प्राचीन कला है। चित्रकला का लक्ष्य बाह्य सौन्दर्य का प्रदर्शन करना ना होकर आत्मा के अन्त: सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण करना है। जीवन की विभिन्न क्षेत्रों की अनुभूतियों को प्रभाशाली ढ़ंग से अभिव्यक्त किया जाता है। भावाभिव्यक्ति इस कला का प्राण है। भरतमुनि ने चित्रकला को दृष्य कला की संज्ञा दी है। चित्रकला में रंगों एवं रेखाओं का स्थान सर्वोपरि है।

संगीत कला में संगीत को जीवन के विविध पक्षों से जोड़कर लय, ताल, तुक, राग अनुराग के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। जिसमें संगीत के स्वर 'ध्वनि' सर्वोपरि होतीं है। इसे सभी ललित कलाओं में उच्च स्थान माना जाता है।

''प्रत्येक देश का साहित्य वहां के जनता की चित्रवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है अत: यह निश्चित है कि चित्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य स्वरुप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्ही चित्रवृत्तियों की परंपराओं को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।''[8]

जब परिस्थितियां बदलती है तो मानव की मनोदशा भी स्वत: ही परिवर्तित होने लग जाती है, परिणाम स्वरुप साहित्य भी उसी परिवर्तित सोच के अनुसार नई राह पकड़ लेती है। भक्ति के पश्चात विकसित श्रृंगार भाव से पुष्ट रीति साहित्य इसी नियम से सामने आया है। इस साहित्य को पढ़कर स्पष्ट होता है कि इस काल के कवि सच्चे अर्थो में यौवन और जीवन के

मौलिक पक्ष के कवि थे। अपने समय से प्रेरित और पुष्ट होकर रीति साहित्य पाण्डित्य-प्रदर्शन और कवि-कर्म साथ-साथ निभाता रहा है।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनो वर्गो के कवियों के धरातल अलग-अलग रहा है। रीति बद्ध कवियों ने शास्त्रीय परंपरा को आधार मानकर काव्य-रचना की तो रीति मुक्त कवि स्वनिर्मित स्वच्छंद मार्ग पर चलें।

सभी कलाओं में जहां एक ओर उस समय का ऐश्वर्य झलकता है, वही दूसरी ओर उल्लास व श्रृंगार का रसीलापन टपकता था। साहित्य एवं कला की दृष्टि से इस युग को समृद्ध कहा जा सकता है।

रीति काल को प्रमुख तीन काव्य धाराओं में विभाजित किया जा सकता है- रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध, रीतिमुक्त कवि रीति बद्ध कवियों को प्रमुख तीन वर्गो में रखा गया है- (1) अलंकार निरुपक आचार्य, (2) रस एवं नायिका भेद निरुपक आचार्य और, (3) सर्वांग निरुपक आचार्य।

रीतिकालीन कवियों में केशव को अग्रगण्य कवि माना जाता है। वे रीतिबद्ध धारा के अलंकार निरुपक आचार्यो के श्रेणी में प्रमुख स्थान रखते है। उन्होंने लक्षण ग्रंन्थो की रचना की जिसमें 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' एवं 'रामचंद्रिका' प्रमुख है।

रीतिबद्ध कवियों की विशेषताओं में - आचार्यत्व के प्रति आकर्षण, श्रृंगार को महत्व, नारी के दैहिक सौन्दर्य की अधिकता, कवित शक्ति की अवहेलना मौलिक चिंतन का आभाव, प्रकृति वर्णन, आश्रयदाता की प्रसंशा, विभिन्न शैलियों का प्रयोग आदि प्रमुख है।

इस आधार पर केशव की काव्य में चाहे वह कविप्रिया हो, रसिकप्रिया हो राम चन्द्रिका हो- मैं' रचनाओं मे ललित कला का अन्त:संबंध दिखाई देता है।

केशव को सभी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति का परिचय था इसलिए रीति काल के सभी कवियों से अधिक कल्पना शक्ति केषव में थी। केशव रीतिकालीन कवियों के प्रमुख प्रेरणास्त्रोत माने गये है। आचार्यत्व उनके कवि रुप को अधिक समर्थ बनाता है।

''रामचंद्रिका'' के पंचवटी वर्णन में प्रस्तुत पंक्तियों के माध्यम से प्रकृति का चित्रण प्रस्तुत करते हुए लिखते है:-

''सब जाति पटी दु:ख की दुपटी,
कपटी न रहैं जंह एक घटी।
निघटी रुचि मीच घटी हुं घटी,
जग जीव यतीन की छुरितटि।।
अध ओध की बेरि कटि बिकटी,
निकटी प्रकटी गुरज्ञान गटी।
चहुं औरन नाचति मुक्ति नटी,
गुण धुर जरी वन पंचवटी।।''[9]

अर्थात् जब राम, लक्ष्मण और जानकी वन गमन के दौरान कुछ समय के लिए पंचवटी में रुकें तो वहॉ का प्राकृतिक सौन्दर्य इतना मनभावन था कि तीनों कि सम्पूर्ण थकान व कष्ट क्षण भर में दूर हो गये। उनका मन पुरी तरह से शुद्ध, पवित्र और निर्मल हो गया। केशव जी ने प्रकृति का बड़ा ही मनोहरी चित्रण किया है। उन्हाने अनुप्रास, यमक अलंकार का प्रयोग करते हुए दुर्मिला सवैया छंद का प्रयोग किया है।

हनुमान लंका गमन प्रसंग में केशव जी लिखते है कि:-

''हरि कैसो वाहन कि विधि कैसो हेम हंस,
लीक सी लिखत नभ पाहन के अंग को।
तेज को निधान राम-मुद्रिका-विमान कैंधौ,
लक्ष्मण को बाण छुटयो, रावण निषंक को।
गिर गजगंड तैं उड़ान्यों सुबरन अलि,

सीता पद पंकज सदा कलंक रंक कों।
हवाई-सी छुटी केसोंदास आसमान में,
कमान कैसो गोला हनुमान चलयों लंक कों।।''[10]

प्रस्तुत पद में केशव ने सुन्दर पर्वत से लंका कि ओर छलांक लगा रहें पवन पुत्र श्री हनुमान की अनेक उपमाओं से उनकें सौन्दर्य का वर्णन किया है। वे कहते है हनुमान नही विष्णु वाहन गरुड़ पर सवार हो गये हो। श्री रामचंद्र जी द्वारा दिया गया अंगुठी ही विमान बन गयी हो ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो किसी ने तेज आतिश बाजी की हो या तोप से निकला हुआ आग का गोला किसी ने लंका की ओर छोड़ा हो। उपरोक्त पद में कवि ने उत्प्रेक्षा, रुपक और उपमा अलंकार का प्रयोग करते हुए यति गति से युक्त दण्डक छंद का प्रयोग किया है।

भगवान श्रीराम के कथा वैभव का वर्णन करते हुए लिखते है कि:-

''जगती जाकी ज्योति जग,
एक रुप स्वच्छंद।
रामचन्द्र की चन्द्रिका,
बरनत हौं बहु छन्द।।'' [11]

उन्होंने श्री राम की विघ्नविनाषक, विनायक, के रुप में वन्दना की है।

इस प्रकार हम पाते है कि केषव की 'रामचन्द्रिका' में सूर्यवंश की नगरी अयोध्या की अनुपम छटा समाहित है, वही रावण की लंका नगरी का वैभव भी सौन्दर्य लिए हुए है। इसके अतिरिक्त वन-बाग-बगिचें, पर्वत,सागर, नदियां, पशु-पक्षी, सूर्य, चन्द्रमा, ऋतुएं आदि को विशय के रुप मे चित्रित किया गया है। इस महाकाव्य में संयोग एवं वियोग श्रृंगार रस का वर्णन किया गया है।

केशव के भावानात्मक चित्रण को भी अपने काव्य में समाहित किया है। वे लिखते है।

''पिउ-पिउ रटति चित चात कि ज्यों
चंद चितै चकई ज्यों चुप रहती है।
सुनहु नृप राम विरह तिहारें ऐसी
सूरति न सीता जू की मूर्ति गहति है।।''[12]

उपरोक्त पद में हनुमान जी द्वारा राम के लिए सीता का संदेश वेदना पूर्ण वर्णन मार्मिकता लिए हुए है:-

निष्कर्ष- इस प्रकार केषव काव्यों मे ललित कला का अन्त: संबंध दिखाई देता है। जो उनके लक्षण ग्रन्थों 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचंद्रिका' में विशेष रूप से दिखाई देता है। उनके काव्य में हम जिस प्रकार सौन्दर्य का सृजन देखते है वह हमारे मन की अर्न्तदशा को ही सूचित करता है। इस प्रकार जब कलाकार सौन्दर्य का सृजन करता है। तो मन सतचित आनंद की स्थिति में होता है। कलाओ की सौन्दर्य चेतना के फलस्वरूप ही व्यक्ति में संवेदनशीलता के भावों की अभिवृद्धि होती है। इस दृष्टि सें रीतिकालीन काव्यों मे ललित कला का प्रभाव एवं अर्न्तसंबंध समावेशित है।

संदर्भ ग्रन्थ-

1 कलादर्शन, डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा, पृ. 02
2 कला सिद्धान्त और परंपरा, डॉ सरन बिहारी लाल सक्सेना पृ. 13 (भारतीय चित्रकला की सैधान्तिक विवेचन
3 संगीत पत्रिका 2012 पृ. 25
4 भारतीय संगीत एवं मनोविज्ञान, डॉ वसुधा कुलकर्ण, पृ. 02
5 कालिदास - साहित्य एवं वाक्ष, डॉ. सुषमा कुलश्रेष्ठ पृ. 06
6 भारतीय संगीत मनोवैज्ञानिक आयात, डॉ. साहित्य कुमार नाहर पृ. 16
7 कला सौन्दर्य और समीक्षा शास्त्र, अशोक पृ. 38

8 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य या इतिहास
9 शोध गंगा अनुसार ठण्.ण् प्प्, पाठ्यपुस्तक रीति रस तरंगिणी, पृ. 23
10 शोध गंगा अनुसार रीतिरसतरंगिनी, हनुमान लंका गमन, पृ. 24
11 शोध गंगा अनुसार रीतिरस तरंगिनी, वंदना प्रसंग, पृ. 36
12. शोध गंगा अनुसार रीतिरस तरंगिनी, वंदना प्रसंग, पृ. 37

पत्राचार-भारत भुशण सचान(चैतराम) महामाया चैक, बसंतपुर, वार्ड-46, स्टेट बैंक एटीएम के पास राजनांदगांव, जिला-राजनांदगांव, पिन-491441(छ.ग.) मो.9669411506 ईमेल chaitramyadavrjn@gmail.com

बिलासपुर जिले में राम का ऐतिहासिक प्रासंगिकता

डॉ. महेश कुमार शुक्ला, जीवन लाल जायसवाल

भगवान राम हमारे देश की ही नहीं बल्कि विश्व के अनेक देशों में आस्था के केंद्र में रहे है। जो कुछ भी हमारे पास है वह राम का है जो कुछ दिया है राम का है जो ले जाएँगे वह भी राम का है। राम के चरित्र में भारत के संस्कृति के अनुरूप पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन के उच्चतम आदर्श पाए जाते है, वे हमारे मन: पटल पर एक आदर्श व्यक्ति, एक आदर्श राजा, एक आदर्श पति, एक आदर्श पुत्र, एक मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में विद्यमान हैं। राम एक व्यक्ति या नाम मात्र नहीं हैं वह व्यापक हैं, राम एक विचार है, एक दृष्टि है। महर्षि वाल्मीकि ने एक विचार प्रस्तुत किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि ईश्वर समाज की तात्कालीन विकृतियों के समाधान के लिए किसी सर्वगुण संपन्न किसी ऐसे व्यक्तित्व का सृजन कर देते है जो अपने पुरूषार्थद्वारा समाज के विकृतियों का समाधान कर सके।

ऐतिहासिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ प्रदेश की प्राचीनता रामायण युग को स्पस्ट करती है. रामयण काल में दंडकारण्य नाम से प्रसिद्ध यह वनाच्छादित प्रदेश आर्य संस्कृति का प्रचार केंद्र था. रामायण काल से ही छत्तीसगढ़ प्रदेश राम का लीला स्थल तथा दक्षिण भारत में आर्य संस्कृति का केंद्र बना। छत्तीसगढ़ में राम लोक आस्था के केंद्र में रहे हैं। ऐतिहासिक काल से ही छत्तीसगढ़ की संस्कृति एवं परंपरा में प्रभु श्री राम रचे बसे है। यहाँ भगवान राम को लेकर अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग मान्यताएं हैं, राम को भांजा मानने की परंपरा देश के किसी स्थान में देखने को नहीं मिलती यह केवल छत्तीसगढ़ के लोक परंपरा में ऐतिहासिक काल से समाहित है। राम को छत्तीसगढ़ में प्रवास करने वाले प्रथम पर्यटक के रूप में माना जाता है, वे 14 वर्ष की वनवास काल में अधिकांश समय छत्तीसगढ़ में व्यतीत किए। ऐतिहासिक एवं पौराणिक दृष्टि से छत्तीसगढ़ में राम से सम्बंधित प्रमुख स्थलों में सीतामढ़ी हरचौका (कोरिया) में सीता रसोई, रामगढ़ (सरगुजा) में सीताबेंगरा एवं लक्ष्मण बेंगरा, राम झरना (रायगढ़), शिवरीनारायण (जांजगीर चाम्पा) में शबरी आश्रम, राजिम (गरियाबंद) में लोमस ऋषि आश्रम, सिहावा (धमतरी) में सप्तऋषि आश्रम एवं रामा राम (सुकमा) में राम द्वारा भू-देवी की आराधना से सम्बंधित मान्यता है। छत्तीसगढ़ सरकार द्वारा राम से सम्बंधित स्थलों की ऐतिहासिक महत्ता को ध्यान में रखते हुए सम्बंधित स्थलों को राम वन गमन परिपथ के रूप में विकसित किया जा रहा है ।

सह प्राध्यापक (इतिहास) : डॉ . सी .वी. रामन विश्वविद्यालय, करगी रोड कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)
शोधार्थी (इतिहास) : डॉ. सी.वी. रामन विश्वविद्यालय, करगी रोड कोटा, बिलासपुर (छ.ग.)

वस्तुत: बिलासपुर जिले के परिप्रेक्ष्य में भगवान राम के आस्था स्वरुप स्थापित मंदिर प्राचीनकाल, मराठाकाल एवं आधुनिक युग में दिखाई पड़ता है। युगों युगों से राम लोक मानस के रोम रोम में बैठ गया है, मराठाकाल का एक धर्म परायण शासक बिम्बाजी भोंसले ने रतनपुर की पहाड़ी में 18वीं सदी में राम मंदिर का निर्माण कराया, रतनपुर की पहाड़ी में स्थित होने के कारण इसे रामटेकरी भी कहा जाता है। बिम्बाजी भोंसले द्वारा विजयादशमी के अवसर पर स्वर्ण पत्र देने की प्रथा प्रारंभ की गयी थी इस मंदिर के निर्माण के पीछे कारण यह माना जाता है कि भगवान राम दक्षिण कोशल के अरण्य में कुछ समय व्यतीत किये थे इसलिए मंदिर का निर्माण अरण्य के बीच किया गया। रामटेकरी में भगवान राम सीता व हनुमान की खूबसूरत ग्रेनाइट की मूर्तियाँ विराजित हैं। रामटेकरी मंदिर के गर्भ गृह में विराजित श्री राम की मूर्ति काले ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित हैं ये मूर्ति अजानबाहू मूर्ति है अर्थात जिसकी बाहू (हाथ) घुटने तक लम्बी हो। रामटेकरी में अवस्थित राम की मूर्ति में हाथ घुटने तक लम्बे हैं। इस मंदिर में मराठा शासक बिम्बाजी भोंसले भगवान राम के समक्ष हाथ जोड़ कर खड़े है इसलिए यह माना जाता है कि बिम्बाजी राम के अन्य भक्त थे। मराठा शासक द्वारा राम मंदिर स्थापित करना राम के सर्व लोकव्यापी महिमा का ही प्रभाव है।

इसी प्रकार जूना बिलासपुर के पास स्थित ऐतिहासिक श्रीराम सीता हनुमान मन्दिर है स्थानीय किवदंतियों के अनुसार यह 150 वर्ष पूर्व स्थापित किया गया था एक नीम के पेड़ के सूख कर गिर जाने से उसकी जड़ों से अकस्मात् राम सीता एवं लक्ष्मण की प्रतिमा प्रकट हुई थी इसी स्थान पर इस प्राचीन मंदिर का निर्माण स्वर्गीय नारायण प्रसाद ने कराया था पीढ़ी दर पीढ़ी उनके वंशजों द्वारा मंदिर का देखरेख किया जाता है। इस मंदिर का पट वर्ष में केवल एक बार दशहरे पर्व के दिन 3 घंटे के लिए खुलता है तथा वर्ष भर बंद रखा जाता है इसके पीछे यह मान्यता है कि मंदिर खुलने एवं प्रतिमा को स्पर्श करने से अप्रिय घटनाएँ हुई हैं। दशहरे के अवसर पर भगवान श्रीराम खुश रहते हैं तथा हर प्रकार की गलतियों को माफ़ कर देते हैं इसलिए दशहरे पर ही मंदिर का पट खुलता है, इसे मनोकामना मंदिर भी कहा जाता है क्योंकि भक्त मन्नत मांग कर नारियल बांधते हैं और पूरी होने पर दूसरे वर्ष दशहरे पर पुन: मंदिर पहुँच कर उसे फोड़ते हैं।

छत्तीसगढ़ के लोक संस्कृति में राम विस्तृत एवं व्यापक हैं जो कि रग-रग में समाहित हैं अविभाजित बिलासपुर जिले में राम की ऐतिहासिकता दृष्टिगोचर रहा है जैसे लक्ष्मण धारा गौरेला के निकट अरपा नदी पर है यह भगवान राम में भाई लक्ष्मण का पथ संचलन की मान्यता है उसी प्रकार अविभाजित बिलासपुर जिले के सेतगंगा में रामजानकी मंदिर 1100 वर्ष पुराना है इसे फणिनागवंशी शासकों द्वारा बनवाया गया था यह मंदिर ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित है इस मंदिर में श्रीरामजानकी के अलावा श्री राधाकृष्ण, शिव-पार्वती तथा लक्ष्मीनारायण की प्रतिमा स्थापित है। मंदिर के सामने हनुमान जी विराजमान हैं मंदिर के मुख्यद्वार में पद्मासन की मुद्रा में दशानन रावण विराजित हैं इस प्रकार देश में यह पहला ऐसा मंदिर है जहाँ श्रीराम एवं रावण दोनों की प्रतिमा हैं । छत्तीसगढ़ सरकार के पर्यटन विभाग के द्वारा इस स्थल को धरोहर स्थल के रूप में घोषित किया गया है।

राम शब्द इतना व्यापक है कि परमात्मा के लिए इसके समकक्ष केवल एक ही शब्द आता है "रमते इति राम:" जो कण-कण में रमते हो उसे राम कहते हैं । बिलासपुर जिला क्षेत्र में

एक महत्वपूर्ण परंपरा विद्यमान है इसे रामनामी या राम रमिया कहा जाता है वे निराकार रूप के भक्ति को जीवन का आधार मानते हैं प्रभु के नाम को इन्होने रोम-रोम में सुशोभित किया है इस समाज के लोग भगवान राम के प्रति अगाध आस्था रखते हैं लेकिन वे लोग न तो मंदिर जाते हैं और न ही मूर्ति पूजा करते हैं इसलिए तन पर राम नाम का गोदना धारण करते हैं यह प्रथा सदियों से पीढ़ी दर पीढ़ी चलता आ रहा है ये मुख्य रूप से बिलासपुर के ग्रामीण क्षेत्रों में निवासरत हैं साथ ही छत्तीसगढ़ के अन्य जिलों जैसे रायगढ़, जांजगीर चाम्पा, बलौदाबाज़ार, महासमुंद जिलों में निवासरत हैं रामनामी समुदाय के लोग जो वस्त्र धारण करते है उन वस्त्र पर भी राम का नाम लिखते हैं मोर के पंखों से बने मुकुट पहनते हैं राम लोगों के परंपरा एवं लोक संस्कृति से जुड़े हुए हैं।

यद्यपि बिलासा की नगरी बिलासपुर से दूर ग्रामीण अंचल में राममयी भक्तिसागर की धुन सदियों से सुनाई देती है जहाँ लोग रामायण के माध्यम से राम कथा का पाठ करते हैं जिले के छोटे-छोटे कस्बों एवं गांवों में मानस मंडली/ रामायण मंडली राम के महिमा का गुणगान करते हैं। बिलासपुर जिला स्तरीय मानस मंडली प्रतियोगिता का आयोजन प्रतिवर्ष किया जाता है, सरसेती मानस मंडली मस्तुरी दल वाद्ययंत्र के साथ राम स्तुति का पाठ करते हैं सरसेती मानस मंडली वर्ष 2022 में बिलासपुर जिला स्तरीय प्रतियोगिता में हिस्सा लेकर प्रथम स्थान प्राप्त किया था इसी प्रकार सबरंग छत्तीसगढ़िया मानस मंडली अपने दल के साथ राम कथा का सुन्दर वाचन वर्षों से करते आ रहे हैं। अनुपम मानस मंडली बोदरी दशकों से रामगुण का गान करते आ रहे हैं इसके साथ ही साथ तुलसी के संदेश मानस परिवार बिलासपुर के रामधुन से केवल जिले ही नहीं बल्कि पूरे छत्तीसगढ़ राममय हो जाता है। राम रामायणी परंपरा को बढ़ावा देने के लिए छत्तीसगढ़ के संस्कृति विभाग द्वारा छत्तीसगढ़ की रामायण मंडलियों के कलाकारों के संरक्षण, संवर्धन और कलादलों को प्रोत्साहित करने के लिए "रामायण मंडली प्रोत्साहन योजना 2021" प्रारंभ की गयी है। संस्कृति विभाग के चिन्हारी पोर्टल में रामायण मंडली पंजीकृत है। राम रग-रग में समाहित है, सरकंडा (बिलासपुर) क्षेत्र में स्थित चांटीडीह में पिछले 67 वर्षों से अखंड नवधा रामायण का आयोजन होते आ रहा है पूर्वजों के द्वारा शुरू की गयी इस कार्यक्रम को नई पीढ़ी के युवा आगे बढ़ा रहे हैं। हर वर्ष नवधा रामायण आयोजन होने के कारण इस चौराहे को रामायण चौक के नाम से जाना जाता है। इसी तरह लक्ष्मी चौक, चिंगराजपारा (बिलासपुर) में पिछले 38 वर्षों से (लगभग चार दशक) नवधा रामायण का आयोजन किया जा रहा है।

यद्यपि शहरी क्षेत्रों के साथ ग्रामीण क्षेत्रों में दशहरे पर्व के अवसर पर रामलीला का आयोजन कई दशकों से किया जा रहा है हालाँकि बस्तर दशहरा छत्तीसगढ़ में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में सबसे प्रसिद्ध माना जाता है जो 75 दिनों तक चलता है। बिलासपुर अंचल में दशहरा पर्व धूमधाम से हर्षोल्लास के साथ मनाने की प्रथा है। रामनवमी के अवसर पर रतनपुर में उत्सव मनाया जाता है। जिले के कई भागों में रामकोठी की प्रथा है यह ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी परंपरा है जहाँ धान को विशेष रूप से रखरखाव के लिए कमरे के रूप में बनाए जाते है किसी भी प्रकार का अकाल या अन्य संकट की स्थिति में इस रामकोठी से निकालकर धान का उपयोग किया जाता है यह सदियों पुरानी परंपरा है।

इस प्रकार छत्तीसगढ़ राममय है, बिलासपुर जिला मध्य छत्तीसगढ़ के भाग होने के कारण यहाँ

के जन वासियों के रोम-रोम में राम विराजमान है प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक लोगों के संस्कृति, खान-पान, रहन-सहन में राम रचे बसे हैं। ऐतिहासिक तौर पर माता कौशिल्या धाम चन्द्रखुरी राम के ननिहाल होने के कारण समस्त छत्तीसगढ़ के भांजा राम हैं। बिलासपुर जिलान्तर्गत ऐतिहासिक मंदिरों की स्थापना राम के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति को दर्शाता है इसलिए यहाँ की लोकसंस्कृति राममय है। बिलासपुर जिले की सामाजिक सांस्कृतिक गतिविधियों में राम की प्रासंगिकता मानव समाज के सामानांतर घटित प्रत्येक पहलु में प्राचीन से वर्तमान तक लोक परंपरा में विद्यमान दिखाई देती है मानव समाज के सर्वंगीण विकास क्रम में राम सह अस्तित्व सांस्कृतिक उपादान के महत्वपूर्ण घटक है. इस प्रकार एतिहासिकता के साथ साथ सामयिक विषयों में राम प्रासंगिक बने हुए है।

संदर्भ-

1. दत्त, तन्द्रा, शक संवत (1908), कल्चुरी कालीन छत्तीसगढ़, पंडित रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय रायपुर
2. बेहार, डॉ रामकुमार (2018), छत्तीसगढ़ का इतिहास, छत्तीसगढ़ राज्य हिंदी ग्रन्थ अकादमी रायपुर
3. शुक्ला, डॉ. महेश कुमार, (2018), छत्तीसगढ़ का धरोहर, शिवा प्रकाशन
4. नई दुनिया समाचार पत्र ,(30 जनवरी 2021), बिलासपुर
5. अमरोहित, डॉ. गीतेश कुमार (2021), छत्तीसगढ़ का इतिहास, सरस्वती बुक्स भिलाई
6. अमरोहित, डॉ. गीतेश कुमार (2021), छत्तीसगढ़ कला एवं संस्कृति
7. नई दुनिया समाचार पत्र, (16 अक्टूबर 2021), बिलासपुर
8. नई दुनिया समाचार पत्र (10 अप्रैल 2022) बिलासपुर
9. नवभारत टाइम्स अभिगमन तिथि 25 अप्रैल 2022
10. एडुकेसनल टेलीविजन भारत (5 अक्टूबर 2022), बिलासपुर
11. हमारे राम, छत्तीसगढ़ जन संपर्क संचालनालय रायपुर

रस की भारतीय अवधारणा : एक विश्लेषण

सर्वेश कुमार मणि*, डॉ. कुलिन कुमार जोशी**

प्रस्तावना

मानव जीवन स्वयमेव रसमय है तथा जीवन रुपी सचल-पथ रसों से आप्लावित इसका कारण यह है कि मानव एक क्रियाशील प्राणी है। अपने इस धरा पर आगमन से लेकर प्रस्थान तक वह सतत रूप से क्रियाशील रहता है। यह क्रियाशीलता आँखों से दिखायी भी दे सकती है और नहीं भी इस क्रियाशीलता में सर्वप्रमुख योगदान साँसों का है। साँसों के समाप्त हो जाने पर ही मानव वास्तव में क्रियाहीन अथवा निष्क्रिय हो सकता है, तब तक नहीं रसों के आस्वादन एवं संचरण अथवा रसानुभूति में यदि किसी एक तत्व का सर्वाधिक योगदान कहा जा सकता है तो वह हमारी सांसें ही हैं। इसी कारण हमारा ही नहीं पश्चिम का भी अभिनय सिद्धांत यदि किसी एक तत्व को सर्वाधिक महत्पूर्ण मानता है तो वह सांस ही हैं। रस विभिन्न अभिव्यक्तियों मसलन साहित्य, नाटक, नृत्य, चित्रकला, संगीत एवं स्थापत्य कला आदि की आत्मा है। रस एक औषधि सदृश है जो विभिन्न रचनात्मक अभिव्यक्तियों में निहित होता है, उसे उनसे अलग तो नहीं किया जा सकता है लेकिन उनसे गुजरते हुए, आत्मसात करते हुए उसका आस्वादन अवश्य किया जा सकता है, और विभिन्न रचनात्मक अभिव्यक्तियों में निहित इस रस रूपी औषधि का सेवन कर एक स्वस्थ, संपन्न एवं विकासोन्मुख समाज भी रचा जा सकता है, जो आज की परम आवश्यकता भी है। रसास्वादन हेतु सहृदयता परमावश्यक है और सहृदयता को निर्विकारता का पर्याय कहा जा सकता है। शब्द के सही अर्थ में निर्विकारता स्वयं में परम आनन्द है। रस का प्रारम्भिक स्वरुप शारीरिक या भौतिक रहा होगा जो कालान्तर में मानसिक होता चला गया। यदि यह कल्पना की जाए कि रस का प्रारम्भ कब हुआ होगा तो हमें आदिमानव कालीन आखेट युग में आदि मानव द्वारा भक्षण किये गये भुने हुए मांस को ही रस के सम्बन्ध में प्रथम आस्वादन स्वीकार करना होगा। तब से लेकर आज तक रस निष्पत्ति और रसास्वादन की प्रक्रिया निर्बाध रूप से न केवल जारी है बल्कि परिपुष्ट भी होती चली गयी है और इसका स्वरुप भौतिक अथवा शारीरिक से मानसिक हुआ है। 'रस' का ज्ञान रस सिध्दांत की अवस्थापना से पूर्व अस्तित्व में रहा होगा जिसका उल्लेख कालांतर में अस्तित्व में आये वेद और उपनिषद् में उल्लिखित हुआ। वेद में सोमरस का उल्लेख मिलता है जो देवों के लिए अतिप्रिय माना गया है। समस्त भारतीय महाकाव्य, पुराण एवं शास्त्र रसों से ओत-प्रोत हैं । भारतीय समाज रस के विषय में भरत मुनि से पूर्व भी परिचित रहा होगा जिसके प्रमाण रामायण, महाभारत, पंचतंत्र की कहानियां, कामसूत्र, शिल्पादिकर्म आदि में मिलते हैं। जिस प्रकार कोई भी कला शास्त्रबध्द होने से पूर्व लोक में विद्यमान होती है उसी प्रकार रस सिध्दांत भी अपनी अवस्थापना से पूर्व से ही लोक में विद्यमान रहा होगा, ऐसी कल्पना की ही जा सकती है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र में न केवल रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया को सविस्तार व्याख्यायित करते हैं बल्कि इस हेतु आवश्यक समस्त उपादानों का भी विस्तृत विवेचन करते हैं। इस रूप में भरत मुनि का नाट्यशास्त्र रस की व्याख्या करता प्रथम शास्त्रीय ग्रंथ प्रतीत होता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे कि पश्चिमी विद्वान बर्तोल्त ब्रेख्त की 'एलिनिएशन' जैसी स्थापना के पूर्व से ही यह तत्व समस्त भारतीय लोकाभिव्यक्तियों में विद्यमान रहा

*शोधार्थी

**सहायक प्राध्यापक,डिपार्टमेंट ऑफ़ परफार्मिंग एण्ड फाइन आर्ट्स, पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय, बठिंडा

है और संभवत: दुनिया के विभिन्न मुल्क़ों की लोकाभिव्यक्तियों में भी विद्यमान रहा होगा और जिसे आधार मानकर बर्तोल्त ब्रेख्त ने अपनी रचनात्मकता का वितान रचा है। रस शब्द की शास्त्रीय व्याख्या के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्र सर्वाधिक सटीक एवं प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस शोध आलेख के माध्यम से हम नाट्यशास्त्र में निहित रस संबंधी उसी विवेचन का अवगाहन करने का प्रयास करेंगे जिसका सम्बंध भरत मुनि के रस सिध्दांत से है।

कुंजीवत शब्द : *रस सूत्र, भरतमुनि, नाट्यशास्त्र*

नाट्यशास्त्र को विश्व भर में नाटक के सबसे प्रमाणिक ग्रंथों में शामिल किया जाता है। नाट्य जगत में नाट्यशास्त्र अपने विशाल और सूक्ष्म चिंतन के कारण दीर्घकाल से गहरे विमर्श का विषय बना हुआ है । नाट्यशास्त्र ने अपने नियमों व सिध्दांतों से भारतीय नाट्य परम्परा को संस्कारित करने का कार्य किया है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि प्राचीन भारत के श्रेष्ठतम नाट्याचार्य माने जाते हैं जिनके द्वारा सृजित ग्रन्थ आज भी मानव जाति के लिए कौतुहल का विषय बना हुआ है। नाट्यशास्त्र में न केवल नाटक के विभिन्न आयामों पर चर्चा है बल्कि दूसरे विषयों पर भी विस्तार से लिखा गया है। "इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु इतनी व्यापक है कि इसमें अध्यात्म, दर्शन, योग, इतिहास, भूगोल, ज्योतिष, मल्ल-विद्द्या, धनुर्विद्द्या, गायन, वादन, नर्तन, अभिनय, चित्रकला, मनोविज्ञान, भाषाशास्त्र, ध्वनि-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, वैशिकशास्त्र, करूक-शिल्प, यांत्रिकी, सौंदर्यशास्त्र तथा अगणित विद्द्याओं और शिल्पों का समन्वय है"1 सभी कलाओं व शास्त्रों का निचोड़ रूप नाट्यशास्त्र में वर्णित है परन्तु जैसाकि नाट्यशास्त्र के नाम में नाट्य शब्द का प्रयोग है और इसमें नाट्य को ही व्याख्यायित किया गया है। नाट्यशास्त्र अभिनय की भारतीय पद्यति रचने वाला प्रथम और आधार ग्रन्थ है जिसमें अभिनय की भारतीय परम्परा सविस्तार वर्णित है। इसके अतिरिक्त, वैदिक परम्परा से चली आ रही नाट्य पद्धति को सुसंस्कृत करने का कार्य भी नाट्यशास्त्र ने किया है। नाट्य कला एक सामुहिक कला है, जिसमें विभिन्न, मत, विचार एवं पंथ के लोग मिल-जुलकर नाटक की प्रस्तुति तैयार करते हैं जैसे- समुद्र मंथन नाटक में देव व असुर, दोनों ने साथ मिलकर नाट्य प्रदर्शन किया । नाटक का यही गुण इसे अन्य कलाओं से पृथक करता है। "वैदिक परम्परा न्र कालांतर में शैव, शाक्त, बौद्ध तथा जैन धर्म को मानने वालों के बीच एक दीवार खड़ी करके अपने को एक विशेष वर्ग तक सीमित कर दिया। इसी प्रकार अन्य धर्मों तथा मतों को मानने वालों में भी एक-दूसरे के प्रति कभी सहिष्णुता तथा स्नेह उत्पन्न नहीं हो सका। वहीं नाट्यशास्त्र ने शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तथा अन्य मतों को मानने वालों को एक सूत्र में बांध दिया। गायन, वादन, नर्तन के प्रदर्शन के समय सारे मतावलम्बी एक साथ बैठकर इनका आनन्द लेते थे और आज भी लेते हैं।"2 नाटक के उद्भव के प्रसंग में भी कहा जाता है कि जब वेदों पर उच्च वर्ग का प्रभुत्व हो गया तो एक पंचम वेद की रचना की गयी जो सब प्राणियों के लिए उपयोगी हो।

भरत मुनि पंचम वेद के सृजनकर्ता कहे जाते हैं। नाट्यशास्त्र के वृहद स्वरुप को देखकर कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि नाट्यशास्त्र किसी एक भरत के द्वारा नहीं लिखा गया जबकि कुछ इसे एक ही भरत की रचना मानते हैं। भरत के सम्बन्ध में भारत रत्न भार्गव कहते हैं, "कुछ विद्वानों ने 'भरत' शब्द की व्याख्या में भाव, राग और ताल के संगम की बात कही है। भाव का 'भ', राग का 'र' और ताल का 'त' मिलकर एक शब्द

बनाते हैं- भरत। यदि हम गौर से देखें तो पाएंगे कि संपूर्ण नाट्यशास्त्र भाव, राग और ताल की व्याख्या और उसके श्रेष्ठतम उपयोग का ही ग्रन्थ है। "3 भरत ने भाव, राग व ताल के सन्तुलन से रस के संचार की अवधारणा दी। रस भारतीय नाट्य परम्परा द्वारा विश्व को दी गयी एक नयी दृष्टि है जिसके सम्बन्ध में आचार्य भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में विधिवत उल्लेख किया है जिसमें वे रस की उत्पत्ति, प्रकार, स्वभाव आदि का गहनता से परिचय कराते हैं। रस का लोक व्यवहार में अर्थ विभिन्न पदार्थों के संयुक्त मिश्रण का स्वरूप होता है जिसके स्वाद से मन को आत्मीय सुख की प्राप्ति होती है। रस के भारतीय जनमानस में अनेक अर्थ हैं जैसे – द्रव, पेय पदार्थ, औषधीय निचोड़ आदि। यही रस काव्य और नाट्य के आस्वादन से आत्मिक सुख की प्राप्ति देता है। 'रस' धातु में 'अच्' कर्मवाच्य प्रत्यय के योग से 'रस' शब्द का अर्थ होता है, आस्वाद का विषय व आस्वद्द पदार्थ"4

रस का स्वाभाविक गुण आस्वाद या स्वाद है जिसको चख कर ही पता लगाया जा सकता है कि काव्य या नाटक कैसा है। नाटक या काव्य की अंतिम परिणति रसास्वादन ही होता है जिससे मानव अपने जीवन को आनन्द की दिशा में ले जाता है। इसीलिए रस को काव्य या नाटक की आत्मा कहा जाता है। जहाँ आदि काल से जीवन के चारों ओर रस निर्बाध गति से प्रवाहमान रहा है तो भरत के पूर्व रस की स्थिति क्या रही होगी, क्योंकि नाटक तब भी हो रहे थें और रामायण, महाभारत, अष्टाध्यायी और बाद में अर्थशास्त्र में नाटक से जुड़े प्रसंगों व अभिनेताओं का उल्लेख मिलता है। जब नाटक हो रहे थे, नाट्य मंडलियाँ काम कर रही थीं तो रसास्वादन तो इन सब की सहज परिणति ही है, वह भी आकार ले ही रहा होगा । परन्तु भरत मुनि के रस-सूत्र के पूर्व इस तरह की व्याख्या नहीं के बराबर दिखती है। लेकिन कुछ विद्वानों की चर्चा भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र के अनुवंश्य श्लोकों में करते है। "भरत-पूर्व युग का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु भरत के ही साक्ष्य पर, उनके ही ग्रन्थ में उद्धृत आनुवंश्य श्लोकों के आधार कई पीढ़ियों से प्रवर्तित रस-परम्परा की स्थिति सहज ही स्वीकार की जा सकती है। "5

भारत में ग्रंथों की मौखिक परम्परा विद्यमान रही है इसलिए भरत पूर्व रसों की स्थिति के संबंध में भरत के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त न के बराबर उल्लेख मिलता है जिससे भरत की रस सम्बन्धी अवधारणा हमारे लिए प्रथम सिध्दांत बन जाती है और आचार्य भरत मुनि ने रस एवं भाव का जिस विस्तार से विवेचन किया है, ऐसा वर्णन-विवेचन वैश्विक साहित्य में भी अनुपलब्ध ही है । भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सिध्दांत नाटक व काव्य की आत्मा में प्रवाहित वह गुण है जिसके आधार पर दर्शक एवं पाठक उसका आस्वादन करते हैं। रस की अवधारणा पर भरत मुनि ने एक सूत्र नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित किया है जिसके आधार पर नाट्य में रस की उत्पत्ति की प्रक्रिया का ज्ञान होता है। आचार्य भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र में रस की उत्पत्ति सम्बन्धी सूत्र है कि –"तत्र विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्ति: ।"[6]

अर्थात् विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। भरत अपने सूत्र में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग की बात करते हैं तथा उनके मिलने से रस निष्पत्ति की अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार अभिनय के माध्यम से आधार रूपी चरित्र व परिवेश में भावों का आवागमन होता है तो रस की उत्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि रस को भाव व अभिनय से भी आगे रखते हैं उनके अनुसार नाटक का मूल

उद्देश्य रस निष्पत्ति है। वे नाट्यशास्त्र के षष्टम अध्याय में रस की विस्तृत विवेचना करते हैं। नाटक तभी सार्थक व प्रभावी हो सकता है जब दर्शक उस नाट्य प्रस्तुति में रस का स्वाद ग्रहण करते हैं। जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भावों से मिलन होता है तो रस की निष्पत्ति होती है। इसीलिए भरत मुनि ने स्थायी भावों को विशेष महत्व दिया है। रस के सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं कि स्थायी भावों के मिलन से ही रस की उत्पत्ति होती है। "भरत के अनुसार रस का स्थान नाट्य है: रंगमंच पर जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के साथ स्थायी का संयोग हो जाता है- अथवा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से संयुक्त स्थायी भाव का सफल प्रदर्शन या उपस्थापन होता है तो रस की सिद्धि हो जाती है।"7

भरत मुनि रस की उत्पत्ति रंगमच पर ही मानते हैं जहाँ उसके लिए रंगमंड़प, भाव, अभिनय, वेशभूषा, आलेख एवं क्रिया-प्रतिक्रिया का प्रयोग दर्शकों को रस का आभास कराता है जिससे दर्शक दैनदिन जीवन की परेशानियों को भूलकर सुख और आनन्द को प्राप्त करते हैं। रस सूत्र में प्रयुक्त संयोग और निष्पत्ति पर विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। रस लिखित सन्दर्भों के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का स्थायी भावों के साथ मिश्रित एक समुच्चय है जिसके प्रभाव में दर्शकों में विचारों का एक सागर उमड़ने लगता है, जो दर्शकों को एक मानसिक शांति प्रदान करता है। रंगमच में जिस भावना के संचरण को महत्व दिया जाता है उसे ही रस की संज्ञा दी गयी है। रस सूत्र के सम्बन्ध में आस्वादन क्या है, कैसे किया जाता है ? इस सम्बन्ध में भरत मुनि कहते हैं कि "जिस प्रकार लोक में नाना प्रकार के व्यंजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाने वाला व्यक्ति रस का आस्वादन करता है और प्रसन्नता को प्राप्त होता है, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों और अभिनयों के द्वार अभिव्यक्त आंगिक, वाचिक एवं सात्विक युक्त स्थायीभावों का सहृदय प्रेक्षक (सामाजिक) आस्वादन करते हैं और हर्ष को प्राप्त होते हैं।"8

नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने आस्वाद की जो परिभाषा दी वह रस के आस्वाद्य गुण के सम्बन्ध में विद्वानों को मार्गदर्शित करती है। रस में आस्वाद का गुण होता है और यही गुण उसे रस बनता है जिसका आस्वादन करके सहृदयी मनुष्य आनन्द को प्राप्त करते हैं। यहाँ भरत मुनि कहना चाहते हैं कि सहृदयी मनुष्य को ही रस का आभास होता है। इसी बात को रस सूत्र के व्याख्याता अभिनवगुप्त भी मानते हैं कि रस का वही मनुष्य आस्वादन कर सकता है जो सहृदय हो। रस में स्थायी भाव की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्थायी भाव एक बीज या जड़ की तरह है जिसकी शाखाएं बहुत विशाल हैं और जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों सरीखे धूप, जल और खाद के साथ स्थायी भाव रूपी बीज का स्वाभाविक सम्बन्ध बनता है तो तो रस रुपी फल की प्राप्ति होती है। रस को लेकर विद्वानों में अनेक धारणाएं हैं तथा वे रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न विचार रखते हैं। अनेक बार स्थाई भाव को ही रस मान लिया जाता है जो कि बिल्कुल ही निराधार है। "रस स्थायी से भिन्न है, जैसे षाडवादि अन्न से भिन्न है, परन्तु आधार उसका स्थायी ही है जो रस रूप में परिणत हो जाता है, अत: रस के रूप में किसी नूतन पदार्थ की सृष्टि नहीं होता, विद्दमान स्थायी भाव रूप पदार्थ ही अन्य उपकरणों के सहयोग से नवीन रूप धारण कर लेता है।"9 दूसरी तरह से कहा जा सकता है कि स्थायी भाव ही रूप बदलकर रस में परिवर्तित होते हैं। स्थायी भाव स्थिर प्रकृति के होते हैं जो सदैव

मानव मन में स्थित होते हैं। यह चिरकाल तक मनुष्य में सुषुप्तावस्था में रहते हैं और जैसे ही विभावादि के संसर्ग में आते है तो रस की निष्पत्ति होती है। स्थायी भाव मनुष्य में विद्दमान रहते हैं पर उन्हें हम जन्मजात नहीं कह सकते हैं। मनुष्य के जीवन में सुख-दु:ख से जुड़े अनेक प्रसंग आते रहते हैं और तब यही स्थायी भाव उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो मानव का जीवन स्थायी भावों के इर्द-गिर्द ही बुना हुआ है। उनके बिना मनुष्य का जीवन भावहीन और स्वादहीन रह जायेगा। "जो भाव अपने अनुकूल एवं प्रतिकूल भावों से विच्छिन्न नहीं होता और समुद्र के समान सभी भावों को आत्मसात कर लेता है, वह स्थायीभाव कहलाता है।"[10]

स्थायी भाव किसी भी परिस्थिति में खत्म नहीं होते हैं। वह ऐसा समुद्र है जो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी रुपी छोटी-छोटी नदियों से मिलकर विशाल महासागर का निर्माण करता है। भरत ने नाट्यशास्त्र में आठ रस और आठ ही स्थायी भाव बताएं हैं जिनके क्रम इस प्रकार हैं-

रस	स्थायी भाव
श्रृंगार	रति
हास्य	हास
करुण	शोक
रौद्र	क्रोध
वीर	उत्साह
भयानक	भय
बीभत्स	जुगुप्सा
अद्भुत	विस्मय[11]

आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में इन रस और भाव के प्रकारों का विस्तृत विवेचन किया है। जिस पर कुछ विद्वानों में सहमति रही है लेकिन कुछ ने रस की संख्या पर अपना अलग मत प्रकट किया है । अभिनवगुप्त ने रस की संख्या नौ मानी है। उन्होंने शांत को भी रस माना है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है। रस की संख्या के विषय में अनेक मत प्रगट किये गये हैं और इस पर सभी के अपने-अपने प्रमाण और मत हैं । रस के उपरान्त उनके प्रकारों के भी अलग-अलग भाग बताये गये हैं जैसे अग्निपुराण में श्रृंगार के दो, हास्य के छ: तथा रौद्र के तीन प्रकार बताये गये हैं। वहीँ भट्टलोल्लट रसों की संख्या आठ न मानकर बहुत अधिक मानते हैं । विष्णुधर्मोत्तर ने भी अनेक जगह पर अलग संख्या बतायी है। सभी मतों में भरत मुनि के मत को सबसे अधिक लोकप्रिय व प्रमाणिक समझा जाता है। भरत मुनि के रस सूत्र पर उनके बाद के आचार्यों ने विस्तृत विवेचन किया है और टीकाएँ लिखी हैं । जहाँ कुछ ने भरत के रस सूत्र की व्याख्या भरत के आस-पास ही रखी वहीं कुछ आचार्यों ने भरत के रस सूत्र से भिन्न अर्थ उद्घाटित किये। आचार्य भरत के रस सिद्धान्त पर उनके बाद के चार प्रमुख आचार्यों ने अपनी टीकाएँ दीं जिनके मतों का क्रमश: विवेचन निम्नानुसार है :

भट्टलोल्लट : रस सिद्धान्त के प्रारम्भिक आचार्यों में आचार्य भट्टलोल्लट शामिल हैं। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है पर इनके मत के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन में लिखा है। रस की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भट्टलोल्लट मूल रूप से ऐतिहासिक चरित्र और आंशिक रूप से नट में उत्पन्न भावों को मानते हैं। जिसका अर्थ है कि भट्टलोल्लट दर्शकों में रस को लेकर भावहीन हैं। "भरत की भांति लोल्लट का दृष्टिकोण भी वस्तुपरक है- वे भी सहृदय की दृष्टि से रस को आस्वाद न मानकर आस्वद्द ही मानते है : सहृदय के नाट्यास्वाद का नाम रस नहीं है, रस की स्थिति नाटक के मूलपत्र एवं नट में ही है जिसका सहृदय भोग करता

है कि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव आदि के सहयोग से रस में परिणत हो जाता है।"12 भट्टलोल्लट रस का सम्बन्ध सहृदय में न मानकर रामादि और नट में मानते हैं। यहाँ रामादि का अर्थ ऐतिहासिक पात्र से है। भट्टलोल्लट अपने विवेचन में उत्पत्ति का अर्थ उपचिति ही मानते हैं जिसका अर्थ यह माना जायेगा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से मिलकर जब स्थायी भाव रस रूप में परिवर्तित हो जाता है इसी को कार्य-करण सम्बन्ध की संज्ञा दी जा सकती है। यहाँ भट्टलोल्लट का रस सिद्धान्त परम्परावादी प्रतीत होता है। रस के इस प्रकार की अवधारणा भरत मुनि से मिलती जुलती हुई प्रतीत होती है। वहीं जब भट्टलोल्लट रस के स्वरूप को उपचिति क्रिया कहते हैं तो भरत से भिन्न नजर आते हैं। लोल्लट रस के उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह मानते हैं "लोल्लट के अनुसार रस-निष्पत्ति विभावानुभाव व्यभिचारी के साथ स्थायी भाव के संयोग के फलस्वरूप भाव की उत्पत्ति और रस रूप में उसकी उपचिति की प्रक्रिया है। विभाव से संयोग होने पर स्थायी भाव की उत्पत्ति व अनुभाव से संयोग होने पर उसकी प्रतीति और व्यभिचारी से संयोग होने पर स्थायी भाव की पुष्टि होती है।"13 भट्ट लोल्लट के अनुसार रस दीर्घस्वरुप में ऐतिहासिक चरित्र और आंशिक रूप में नट में पाया जाता है अर्थात् सही अर्थों में रामादि में और नट के भीतर पाए जाने वाले स्थायी भाव ही रस का स्वरुप लेते हैं। "अनेक दृष्टियों से लोल्लट की रस-परिकल्पना भरत की अपेक्षा सूक्ष्मतर और मनोवैज्ञानिक है। भरत के अनुसार तो रस का अधिष्ठान रंगमंच है परन्तु लोल्लट के अनुसार रस का अधिष्ठान अनुकार्य (ऐतिहासिक रामादि-व्यक्ति) है। इसीलिए, लोल्लट की सौन्दर्य-दृष्टि भरत की अपेक्षा सूक्ष्म और विषयिपरक है।"14 भट्टलोल्लट के मत के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त के अभिनवभारती और ध्वन्यालोकलोचन में उद्धरण मिलते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश में भी कुछ प्रसंग प्राप्त होते हैं। भट्ट लोल्लट रस को अनुकार्यगत मानते हैं, उनका स्थायी भाव को पूर्वावस्था की पहचान मानना। लोल्लट के अनुसार दर्शक नट में चरित्र या रामादि का आरोप कर लेता है इसलिए इस मत को आरोपवाद भी कहा जाता है।

श्रीशंकुक : भरत मुनि के रस सूत्र के द्वितीय व्याख्याता श्रीशंकुक माने जाते हैं। इनके द्वारा प्रतिपादित मत के अनुसार रस की अनुभूति अनुमान के द्वारा होती है इसीलिए इनके मत को अनुमितिवाद कहा जाता है। पूर्ववर्ती आचार्य भट्टलोल्लट अपने मत में रस का सम्बन्ध पूर्णरूप से मूल पात्र और आंशिक रूप से नट में मानते हैं सामाजिक में नहीं । जबकि श्रीशंकुक की रस उत्पत्ति की कल्पना में दर्शक या सामाजिक का विशेष महत्व है। भट्टलोल्लट की ही भांति श्रीशंकुक के मत की व्याख्या ध्वन्यालोकलोचन एवं काव्य प्रकाश में हुई है। श्रीशंकुक स्थायीभाव को ज्यादा महत्व देते हैं। "शंकुक के मतानुसार स्थायी भाव वास्तव में अनुकार्य रामादि में ही अवस्थित रहता है और जब नट उसका अनुकरण अत्यन्त अभिनय कुशलता से करता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह नट भी स्थायी भाव का अनुभव कर रहा है।"15

इस प्रकार कहा जा सकता है कि भट्टलोल्लट के ही समान श्रीशंकुक भी रस का स्रोत वास्तविक पात्र को ही मानते हैं। स्थायी भाव को शंकुक मूल पात्र में ही मानते हैं और नट अपने अभिनय कौशल से उसको दर्शकों तक पहुँचाता है। इस सन्दर्भ में श्रीशंकुक विभावादि को नाट्य आलेख, अनुभाव को अभिनय की दक्षता एवं व्यभिचारी को नट के स्व-उपजे भावों से उत्पन्न बताते

हैं। इनके अनुसार नाटक का अभिनेता नाटक के अनुकीर्तन से स्थायी भाव को जागृत करता है और इसी को रस की संज्ञा प्रदान करते हैं। "इस दृष्टि से यह मत भी भरत-सम्मत अर्थ के निकट है क्योंकि इसमें भी रस को अनुभूति-रूप न मान कर स्थिति रूप ही माना गया है- भेद इतना है कि भरत में जहाँ काव्य और नाट्य दोनों पर समान बल दिया गया है वहाँ शंकुक के मत में अभिनय-तत्व मुख्य है। "16 रस सिद्धान्त के लिए भरत की दृष्टि में काव्य और नाट्य दोनों की समान उपयोगिता है वहीं श्रीशंकुक अपने मत में पूरी तरह अभिनय पर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार रस के आस्वादन के लिए नट की अभिनय क्षमता की महत्ता अधिक है। सहृदय मूल पात्र में नट का अनुमान करके रस का आनन्द लेता है। नट की दृष्टि से श्रीशंकुक ने अनुकृति से अनुमिति तक की प्रक्रिया का अनुमोदन किया है। जिसके लिए चित्र-तुरंग-न्याय की अवधारणा प्रतिपादित करते हैं। जिसमें मूल पात्र और अभिनेता के सहसंबंध को लेकर एक घोड़े के चित्र के माध्यम से व्याख्यायित करते हैं जिससे सहृदय नट में रामादि का अनुमान कर लेते हैं।

भट्टनायक : भट्टनायक भरत के रस सूत्र के तीसरे व्याख्याकार माने जाते हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्त में रस का सम्बन्ध मुख्यत: सहृदय से माना है। आचार्य अभिनवगुप्त और आचार्य मम्मट ने अपने ग्रंथों में भट्टनायक और अन्य सिद्धांतों के विषय में विस्तार से लिखा है। शास्त्रों में भट्टनायक के द्वारा लिखित ग्रन्थ हृदयदर्पण का उल्लेख मिलता है किन्तु वर्तमान समय में वह अप्राप्य है। "भट्टनायक रसवादी आचार्य हैं। उनका सिद्धान्त सांख्यदर्शन पर आधारित है। उन्होंने भरत के रससूत्र में निर्दिष्ट 'संयोग' पद का अर्थ भोज्य-भाजक-भाव सम्बन्ध और 'निष्पति' पद का अर्थ 'भुक्ति' माना है। उनके मतानुसार विभावादि के द्वारा भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध से रस की निष्पति (भुक्ति) होती है अर्थात् सामाजिक द्वारा रस का भोग (आस्वादन) किया जाता है। "[17]

भट्टनायक भरत के रस सूत्र के विभावादि का स्थायी भाव से भोजक-भोज्य सम्बन्ध मानते हैं। रस की उत्पति के विषय में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारों का खंडन करते हैं, भट्टनायक के मत से स्पष्ट होता है कि रस की अनुभूति न तो उत्पतिवाद से होती है और न ही अनुमितिवाद से क्योंकि नाटक दृश्य और श्रव्य काव्य माना जाता है जो दर्शकों के आनन्द के लिए किया जाता है तब अगर दर्शक ही रस का अनुभव नहीं करेंगे तो नाटक की सार्थकता कैसे सिद्ध की जा सकती है? "नाट्यास्वाद के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सत्ता सामाजिक की है, नाट्य-प्रपंच का आयोजन सामाजिक के लिए ही होता है, अनुकार्य अथवा नट को चमत्कृत करने के लिए नहीं। इसलिए रस का सामाजिक से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित होना चाहिए और रस-निष्पत्ति का विवेचन भी तद्नुसार ही किया जाना चाहिए। " भट्टनायक रस का आस्वादाता भुक्ति द्वारा सहृदय को मानते हैं। मूल पात्र जैसे राम और सीता के भावों का साधारणीकरण हो जाता है जिससे यह सिर्फ राम सीता का भाव न होकर सभी दर्शकों का भाव हो जाता है। राम या नट नहीं रह जाते हैं यहाँ अब राम सबके हो जाते हैं। इसमें आश्रय, आलम्बन और दर्शक जब एकाकार होकर रस को जागृत कर सबके लिए साधारण रूप से आस्वादन कराते हैं तो इसी स्वरूप को साधारणीकरण की क्रिया कहते हैं। इसके द्वारा भट्टनायक ने एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। जिसे आगे चलकर अभिनवगुप्त ने विस्तारपूर्वक विवेचित किया है।

अभिनवगुप्त : भरत के उपरान्त रस

सिद्धान्त के सबसे चर्चित आचार्य अभिनवगुप्त माने जाते हैं। अभिनवगुप्त रस के चतुर्थ व्याख्याकार हैं, इनके सिद्धान्त आधुनिक समय में सबसे प्रमाणिक कहे जाते हैं। इनके प्रमुख ग्रंथों में ध्वन्यालोकलोचन एवं अभिनवभारती प्रमुख हैं। रस के पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथों में किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय नाट्य और काव्य जगत को एक नया रस 'शांत रस' भी अभिनवगुप्त प्रदान करते हैं। जिससे रसों की संख्या नौ हो जाती है। "अभिनवगुप्त नाट्यरस को सुख-दुखात्मक मानते हैं। उनके अनुसार श्रृंगार, हास्य, वीर, और अद्भुत- ये चार रस सुखात्मक हैं, किन्तु उनमें भी दु:ख का किन्चिदंश रहता है। करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक- ये चार रस दुखात्मक हैं, किन्तु इनमें भी सुख का किन्चिदंश विद्दमान रहता है। इनके अतिरिक्त अभिनव ने 'शांत' नामक नवां रस भी स्वीकार किया है और उसे सब रसों का मूल माना है।"19 अभिनवगुप्त ने न सिर्फ़ रस की व्याख्या की बल्कि अपने सिद्धान्त के माध्यम से स्थायीभावों की मनोवैज्ञानिक दृष्टि विकसित की है। अभिनवगुप्त ने अपने पूववर्ती आचार्य भट्टनायक के भुक्तिवाद को नवीन विचारों और सिद्धान्तों से प्रतिपादित करके अभिव्यक्तिवाद की अवधारणा दी है। अभिनवगुप्त यह मानते हैं कि सहृदय में स्थायी भाव विद्द्यमन रहता है, जो नाट्य या काव्य पाठ से संस्कारित होकर रस रूप में आनंदानुभूति प्रदान करता है। "अभिनवगुप्त के अनुसार विभावादि प्रथम तीन तत्व सहृदय-बाह्य और स्थायी भाव सहृदयगत है। स्थायी भाव जो सहृदय-हृदय में वासना रूप में स्थित रहता है विभावादि के संयोग से उसी प्रकार सहृदय-चित्त में अभिव्यक्त और परिव्याप्त हो जाता है जिस प्रकार मिट्टी में सुप्त गंध जल के संयोग से मिट्टी में अभिव्यक्त और परिव्याप्त हो जाती है।"20 स्थायी भावों को सामाजिक के हृदय में वासना रूप में स्वीकार करते हैं और उनके साथ विभावादि के मिलन से रस की अनुभूति होती प्रतीत होती है। अभिनवगुप्त ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के मिश्रण से सहृदय में उमड़े भाव को अभिव्यक्तिवाद की संज्ञा दी है। भट्टनायक जिसे भोजकत्व-व्यापार कहते हैं और उसे अभिनवगुप्त व्यंजना-व्यापार की संज्ञा देते हैं। अभिनवगुप्त ने अपने अभिव्यक्तिवाद के भट्टनायक के साधारणीकरण को आधार बनाया है और उसमें अपने विचारों को प्रस्पुटित करके नवीन तार्किक सिद्धान्त को गढ़ते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने रस सिद्धान्त की सबसे प्रसिद्ध और प्रमाणिक व्याख्या की है जिसे आधुनिक काल में भी प्रायोगिक माना जा सकता है।

निष्कर्ष : सारांशत: यही कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य परम्परा का विस्तार बृहद है जिसके एक छोर पर आचार्य भरत और नाट्यशास्त्र हैं तो दूसरे छोर पर लोक कलाएँ विद्यमान रही हैं। इन्हीं लोकाभिव्यक्तियों में से रस-सिद्धांत जैसी स्थापना ने आकार ग्रहण किया है । विभिन्न विद्वानों ने नाट्यशास्त्र और रस-सिद्धांत को अपनी टीकाओं से विस्तृत फलक प्रदान किया है । रंगमंच के विद्यार्थी को जितनी आवश्यकता नाट्यशास्त्र की सही समझ विकसित करने की है उससे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वह रस सिद्धांत और रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया की भी सही-सही और विस्तृत समझ विकसित करे । भरत का रस-सिद्धान्त विशाल है, गूढ़ है एवं अपने भीतर नाट्य और काव्य की आत्मा को समेटे हुए है, साथ ही विभिन्न टीकाकारों के विश्लेषण से यह सतत विकसित भी होता रहा है । विभिन्न टीकाकारों ने भरत

के रस-सिद्धांत को विकसित करने का काम ठीक उसी तरह से किया है जैसा कि अरस्तू के रंगमंचीय सिद्धांत को देदार्त, स्तानिस्लावस्की, ब्रेख्त, स्ट्रासबर्ग, माइसनर, चेख़व, उटा हेगन, स्टेला एडलर तथा जर्जी ग्रोतोव्सकी सरीखे विद्वानों ने एक विस्तृत आयाम प्रदान किया है।

सन्दर्भ सूची :

1. डॉ.ब्रजवल्लभ मिश्र, भरत और उनका नाटयशास्त्र, वर्ष 1988, उत्तर माध्यमिक क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र,इलाहाबाद, पृष्ट सं. 53
2. डॉ.ब्रजवल्लभ मिश्र, भरत और उनका नाटयशास्त्र, वर्ष 1988, उत्तर माध्यमिक क्षेत्र सांस्कृतिक केंद्र,इलाहाबाद, पृष्ट सं. 63
3. भारतरत्न भार्गव, भारतीय नाट्य परम्परा और आधुनिकता, वर्ष 2020, नयी किताब प्रकाशन, पृष्ट सं. 25
4. डॉ.रघुबीरशरण, संचारी भावों का शास्त्रीय अध्ययन, वर्ष 1973, श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्दापीठ, पृष्ट सं. 25
5. डॉ.नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, पृष्ट सं. 15
6. बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, नाट्यशास्त्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान,वि.सं.२०६७, पृष्ट सं. २२८
7. डॉ.नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, पृष्ट सं. 184
8. डॉ.पारसनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, , पृष्ट सं. 346
9. डॉ.नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, पृष्ट सं. 138
10. डॉ.पारसनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, , पृष्ट सं. 385
11. डॉ.पारसनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, , पृष्ट सं. 386
12. डॉ.नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, पृष्ट सं. 144
13. संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, पृष्ट सं. 23
14. संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, पृष्ट सं. 31
15. कु.पूनम श्रीवास्तव, भरतमुनि का रस-सूत्र और हिन्दी के व्याख्याकार, वर्ष 1999-2000, पूर्वांचल विश्विद्यालय, पृष्ट सं. 162
16. डॉ.नगेन्द्र, रस सिद्धान्त, नेशनल पब्लिशिंग कम्पनी, पृष्ट सं. 154
17. डॉ.पारसनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, , पृष्ट सं. 154
18. डॉ.प्रेमकान्त टंडन,साधारणीकरण और सौंदर्यानुभूति के प्रमुख सिद्धान्त, वर्ष 2010, लोक भारती प्रकाशन, पृष्ट सं. 45
19. डॉ.पारसनाथ द्विवेदी, नाट्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, , पृष्ट सं. 167
20. संस्कृत काव्यशास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त की पृष्ठभूमि, पृष्ट सं. 66

बिहार के लोकगीतों में ऋतु गीत की भूमिका

रेखा कुमारी

शोध-सार

लोकसंगीत का एक विशेष सामाजिक रूप है, यह हमारे सामाजिक संबंधों का संगीतमय इतिहास है। इस इतिहास में हमारी पीढ़ियों के मानवीय संबंध रीति-रिवाज, विश्वास और धारणाएं जीवन के मार्मिक अनुभव प्रेरम की मधुर कल्पना और समाज को एक सूत्र में पिरोने की लालसा का भावात्मक प्रतिफलन रहता है। इसलिए लोकसंगीत का मुख्य आधार वे सामाजिक विश्वास रीति-रिवाज, उत्सव, त्योहार और अन्य विशिष्ट मूल्य है जो सामाजिक रूप में समाजिकता से युक्त होते हैं। उसमें सहज, सुलभ, मनोरंजन की अनुभूति विशेष रूप से रहती है। उसका जन्म अवश्य ही सामूहिक न होकर व्यक्तिगत है और फिर भी उसमें पूरे समाज या किसी विशिष्ट क्षेत्र के समाज की आशा, आकांक्षाओं सुख-दुख, राग-विराग आदि का आंकलन होता है। इसी दृष्टि से वह व्यक्ति प्रधान न होकर सामूहिक बन जाता है।

शब्द कुंजी : *रीति-रिवाज, उत्सव, सुख-दुख, राग-विराग आदि*

भूमिका:

भारतीय समाज इतना प्राचीन है कि इसके जन्म की कहानी खोजी ही नहीं जा सकती है। फिर भी बिहार में पटना नगर को संगीत का केन्द्र माना जाता था। प्रसिद्ध संगीतज्ञ चिन्तामणी वीणा वादन तथा गायन में प्रवीण थी। एक अन्य महान संगीतज्ञ विल्व मंगल ने भी बिहार के संगीत में महान योगदान दिया। प्रणय नृत्य भावना नृत्य और चन्द्र नृत्य आदि इस काम में निर्मित हुए मैथिली कोकिल प्रसिद्ध कवि एवं संगीतज्ञ विद्यापति के गीत, महलों से लेकर झोपड़ी तक में गाए जाते थे। ''कजरी'' गायन खूब प्रचलित था। इसके अलावे होती नृत्य, भक्तिनृत्य, और सुषमा नृत्य भी खूब प्रचलित है। जब जनसाधारण द्वारा अपने मनोरंजन के लिए किसी कला का बिना किसी विशेष नियमों का ध्यान रखें, उसके स्वाभाविक और प्राकृतिक रूप का प्रयोग किया जाता है तो उस कला के उस सहज स्वरूप को लोककला की संज्ञा दी गई है। परन्तु निरंतर विकास के फलस्वरूप कालान्तर में जब उसके कुछ सुनिश्चित नियम और शास्त्र निर्मित हो जाते हैं। तब उनके आधार पर उसका शास्त्रीय रूप भी सामने आ जाता है। प्रत्येक कला के विकास का एक सामान्य क्रम है। तथा संगीत कला भी नि':संदेह इसका अपवाद नहीं है। स्पष्ट है कि सबसे पहले संगीत कला का जो रूप आदि मानव द्वारा प्रयोग में लाया गया, वह उसका सही, सहज, और पवित्र रूप था, जो कालान्तर में लोकसंगीत के नाम से संबोधित किया जाने लगा।[1]

लोकसंगीत में जबकि सामाजिक चेतना विकास की ओर गतिशील थी, उस समय सहज ही ऐसी कविता का जन्म हुआ, जिसका जीवन से सीधा सपंर्क था। सामाजिक तत्व को व्यक्त

करने वाले लोकगीत मानव की अकर्मण्यता को दूर करने एवं श्रम परिहार हेतु सदैव ही मूल्यवान् सिद्ध हुए है। इन गीतों में सुखी जीवन और अच्छी उपज की कल्याणमयी भावनाएँ हैं। लोकगीतों का यह क्रम समय की अटूट लहर के सहारे लोकसंगीत के परंपरागत स्वरों मे बँधा हुआ आगे बढ़ता गया। आज भी वही क्रम चल रहा है और आगे भी मानव की सहज चेतना की बाँह थामें चला रहेगा।

ऋतु गीत:- पूरे भारत वर्ष में मुख्यत: 6 ऋतुओं का आगमन होता है।

1. ग्रीष्म, 2. वर्षा, 3. शरद 4. हेमन्त 5. शिशिर 6. वसंत।

ऋतु गीतों का मुख्य उद्देश्य ऋतुओं के साथ मानव-जीवन में स्वर मिलाना है। यह गीत विभिन्न ऋतुओं में गाये जाते हैं। भोजपुरी प्रदेश में वर्षा तथा वंसत ये दो ऋतुओं विशेष स्थान रखती हैं और इनमें गाये जाने वाले गीत क्रमश: कजरी तथा चैती द्वारा मानव अपनी भावाभित्यक्ति करता है।

ऋतु गीतों में विभिन्न ऋतुओं का वर्णन होता है। इन ऋतुओं में गीतों के बहुत से प्रकार प्रचलित है। जिनमें मुख्य रूप से जो प्रकार प्रचलित हैं वह इस प्रकार है। 1. कजरी 2. बारहमासा, 3. होली, 4. चैती।[2]

बसन्त को 'ऋतुओं का राजा' कहा जाता है। यह कथन पूरी तरह सच भी है। क्योंकि इस ऋतु में खेत, कछार, वन, पर्वत, अमराई, गाँव-गली, पशु-पंछी और हम आप सब एक नये वातावरण से जुड़ते हैं। जाड़े की हाड़ काँपने वाली सर्दी भी गुजर गई होती है। हालाँकि ठंड होती है लेकिन उस ठंड में भी एक गुलाबी सिहरन भी होती है। यानी मौसम ''आधे माघे कंबल काँधे'' जैसा हो जाता है। जिधर भी दृष्टि जाती है, मीलों फूली हुई सरसों ही दिखाई देती है। आमों में बौर निकल आते हैं, और पूरी अमराई कोयल की पुकार से गूँजती रहती है। धूप में भी एक मधुर आकर्षण महसूस होने लगता है, तरह-तरह के रंगों से रँगे हुए फूलों से लदे खेत-खलिहान और हँसी-ठिठोली, चुहल से भरपूर गाँव-गली के चेहरे, सबके सब नयी उमंग और नये उत्साह से मिलते हैं।

ऐसा कहा जाता है कि वसन्त आगे-आगे रास्ता बनाता चलता है और पीछे-पीछे उसी रास्ते फागुन का रथ निकलता है। हमारे ग्रामीण इलाकों में होलिका जलाने की परम्परा की शुरूआत शिवरात्रि से होती है। वसन्त ऋतु के ही दिन देवताओं को नया भविष्य समर्पित किया जाता है। जो विकचखर और हरी बालियों को आग की लपटों में भूनकर उसमें गुड़ घी मिलकार सबसे पहले देवताओं को समर्पित किया जाता है। अबीर-गुलाल से उनका अर्चन-पूजन किया जाता है। यह लोक-व्यवहार हमें जोड़ता है उन भावनाओं से जिनका बहुत ही गहरा संबंध इस मौसम के लोकगीतों से होता है।

कहीं न कहीं ऐसे वातावरण के अनुरूप हम अपने को ढालते जाते हैं। कनत बिदेस-बसनत करो ना जैसी टीस भी पुकार घर आँगन से उठती है। नयी-नयी पियरी आँखों में डोलने लगती है। केसर के रंग जाने का आग्रह शुरू हो जाता है। ऐसे में जब कोयल 'कहू-कहू' करती है तो उसकी बोली कहीं आग लगाती है, कहीं आग बुझाती है और इसी के साथ शुरू होता है फाग, होरी, चैताल, बेलवरिया, रसिया, उलारा, धमार और चैता जैसे लोक गीतों के रस में डूबे हुए वातावरण का सुख-दु:ख चाहे ये गीत वर्षा के हों, ग्रीष्म के हों, शिशिर के हों या बसन्त के हों, हमारे जनमानस के उद्गार हैं, जो जन्म से लेकर मृत्यु तक हमसे जुड़कर समय-समय पर होठों तक आकर खेले जाते हैं। वसन्त ऋतु के

आगमन पर मानव अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार की गीतों से करता है जो निम्न है-

राग झींझोटी पर आधारित: ताल दादरा

बोले-बोले कोयल आधी रात,
बसन्त ऋतु आयी बहार।
अमवा बउर लागेक, लगले टिकोरवा,
अरहरिया के फूल कुम्हिलायँ।
बसन्त ऋतु आयी बहार।
गेहुआँ के बाल खेत बीच झूमें,
टेसुआ फूले आधी रात।
बसन्त ऋतु आयी बहार।
भँवरा के गूँज बगइचा में गूँजे,
महुआ चुवे आधी रात।
बसन्त ऋतु आयी बहार।[3]

वसन्त के आगमन उपरांत विभिन्न पर्व-त्योहरों का आगमन की शुरूआत हो जाती है। चारों ओर इसी की ही धूम मची होती है। जो प्रस्तुत चैता गीत के माध्यम से अभिव्यक्ति की जा सकती है।

चैती:

चैत्र के मनभावन मास में गाये जाने वाले गीत ''चैती अथवा ''घाँटों'' नाम से जाने जाते हैं। बसन्त में चैती की बहार बड़ी सुहानी होती है, जब आमों पर बौर आने लगती है और कोयल की कूक चारों ओर सुनाई पड़ती है। इन गीतों में करूण रस का बड़ा हृदयस्पर्शी संचार होता है। चैती को गाने का एक विशेष ढंग है जिसमें ''रामा'' हो ''रामा'' का प्रयोग किया जाता है। प्रेम प्रधान गीतों के प्रकारों में एक अधिकतर सामूहिक रूप में गाया जाता है। ठुमरी की तरह से इसके गाने का प्रचार तथा इसमें कहरवा या चाचर ताल प्रयोग होता है। चैती के दो प्रकार माने जाते हैं:-

1. झलकुटिया-इसे कुछ लोग चइता भी कहते हैं।
2. साधारण या खड़ी चैती-इसे चइती कहा जाता है। इन दोनों प्रकार को गाँव के लोग क्रमश चैता और चैती कहकर भेद करते है।

चैती (साधारण चैती):- माझ ख़माज पर आधारित:

नइहरे से केहु नाहीं अइलें हो
रामा बितले फगुनवाँ
बाबा मोरा रहितें त नउवा के पढ़वतें
भउजी के कठिन करेजवा हो रामा।
बितले फगुनवाँ।
माई मोरा रहितीं त भइल के पठौंतीं।
भउजी के कठिन करेजवा हो रामा।
बितले फगुननवाँ।

चैता (झलकुटिया चैती): राग माँड पर आधारित

रामा गोरी-गोरी बहियाँ में हरी-हरी चुड़िया ए रामा।
लिलरा पे सोहेला इँगुरा के बुँदवा ए रामा।
लिलरा पे सोहेला इँगुरा के बुँदवा ए रामा।
या हो रामा गोरी गोरी बहियाँ में हरी-हरी चुड़िया ए रामा।।[4]

बसन्त चैता गीत

कौन मास फूलेला गुलबवा हो रामा कि कउने रे मासे।
बेला फूले, चमेली फूले, अउर फूले कचनार हो रामा।
कि कउने रे मासे। कि कउने रे मासे।
गेंदवा जो फूले राम माघ रे फगुनवाँ
चैत मास फुलो गुलबवा हो रामा।
कि काउने रे मासे। कि कउने रे मासे।

अमवा की डाली पे लागल मोजरिया।
कुहु-कुहु बोलेले-कोयलिया हो रामा।5

किस महीने में कौन-सा फूल फूलेगा, कब पतझर का रूप लेगा इसकी पूरी पड़ताल बसन्त के हाथों होती है।

कजरी:

सावन मास में प्रकृति सर्वत्र हरी-हरी दिखाई पड़ती है। आकाश में काले-काले बादल दिखाई पड़ते हैं। इन्ही काले बादलों से भरे आकाश के नीचे खुले मैदान मे कजली गायी जाती है। अत: ऐसा जान पड़ता है कि इन्ही काले बादलों के काल में पायें-जाने के कारण इन गीतों का नाम कजली पड़ा। लोकजीवन के कोमल और मार्मिक भावों को व्यक्त करने में कजली बहुत लोक प्रिय राग सिद्ध हुई है।6 मिथिलांचल मे कजली से मिलता-जुलता हुआ लोकगीत मलार कहलाता है। स्त्री-पुरूष दोनो मिलकर पावस-ऋतु मे कजली गाते हैं। कजली प्रेम और श्रृंगार का ही मनोरम चित्र अंकित रहता है। कजली का वण्र्य-विषय प्रेम है। ये गीत श्रृंगार-रस से ओत-प्रोत होते हैं। यद्िप इनमें श्रृंगार रस के उभय पर्दा की झांकी हमें देखने को मिलती है, परन्तु संभोग श्रृंगार की ही प्रधानता है जो स्वाभाविक ही है। कजली के गीतों मे सामयिक विषयों के साथ-साथ संयोग ओर वियोग श्रृंगार के चिताकर्षक वर्णन मिलते हैं। ऋतु शोभा में वर्षा वर्णन को प्रधानता दी जाती है।7 वर्षा के साथ विरहिणी के आँसू मिलकर वातावरण को पूर्ण करूणा सिक्त बना देते है। कहीं-कहीं इन गीतों मे पति-पत्नी की प्रेम-लीला का बड़ा ही सुन्दर उल्लेख हुआ। कहीं झुला झुलने के लिए उत्सुक भावज अपनी ननद से पूछती है कि 'ए ननद बादल उमड़े चले आ रहे है, मैं सावन में कजली कैसे खेलने जाऊ' इस पर उसकी ननद कजली खेलने के लिए जाने को उसे मना करती हुई कहती है कि आजकल मस्ती का दिन है, कोई मनचला तुम्हे रास्ते में पकड़ लेगा, अत: मत जाओं। फिर सावन-भादो का हरा-भरा सौन्दर्य, भौरों की गुंजन और नदी-नालो का छलछलाता पानी जैसे सब कुछ एक ही रंग में रंग जाता है। कोयल की कूक प्रेमियों के हृदय में हूक पैदा कर देती है। काली घटा का उभार, धनगर्जन और विद्युत-तर्जन केवल हृदय में टीस ही नहीं पैदा करती, वरन् प्रोषितपतिका ललनॉए इस सुहावने मौसम मे अपने परदेशी पति की प्रतीक्षा में व्याकुल रहती है।8

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि श्रावण संयोग कराने वाला मास माना जाता है। इसी मास में पति, परदेश से लौटकर प्रेयसी से मिलता है। बहिनें भाइयों के यहाँ सामंदृत होती है। माताए अपने पुत्र-पुत्रीयों को देख सुख अनुभव करती है। दोनों पक्षो का हृदयहारी वर्णन इस झुले के गीत में आया है, परन्तु विप्रलम्भ की जो मार्मिकता बन पड़ती है वह संयोग का नही। वियुक्तावस्था की कारूणिक स्थिति श्रावण की सरसता एवं उन्मतकारिता से मिलकर द्विगुणित हो जाती है। मयूर, मंजीर और पपीहा सभी कामियों के हृदय को सहलाते रहते हैं।

संदर्भ-सूची:

1. त्रिपाठी, हमारा ग्राम साहित्य, पृष्ठ सं0- 219, 226
2. सिन्हा संजय प्र0, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ सं0- 132, 133,
3. तथैव, पृष्ठ सं0- 182
4. तथैव, पृष्ठ सं0- 143, 144
5. हिन्दुस्तान, गुरूवार 10 अक्टूबर 1996
6. मैथिली लोकगीत,, पृष्ठ सं0- 13
7. सिन्हा संजय प्र0, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, पृष्ठ सं0- 163, 164
8. सिंह जितेन्द्र लाल सिंह, गीत-गुंजन, पृष्ठ सं0- 3

कलानुरागिनी गणिका : एक ऐतिहासिक नजर

प्रो.पुष्पम नारायण

ऋग्वेद भारत का प्राचीनतम साहित्य है और इसमें हमें गणिका के कई पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते है, यथा-हस्त्रा,अग्रू (4:16:19:30;4:19:9) तथा साधारणी (1:167:4;2:13: 12,15,17)। इसके कु छ बाद अथर्ववेद में पुश्चली (15:1:36;20:136:5) शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में साधारणी और सामान्या (30:12) शब्द प्रयुक्त हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता (347) में भी ये दोनों शब्द हैं। इसके कुछ बाद दो नये शब्द दिखलाई पड़ते हैं- अतिस्कद्धरी और अपस्कद्धरी अर्थात् जो (नियम का) उल्लंघन करती है (तैत्तिरीय ब्राहण 3:4:11:1)और मिलता है ब्रहयित्रि अर्थात् जो आनन्द प्रदान करे (वाजसनेयी संहिता 30: 1; तैत्तिरीय ब्राहण 3:4:7:1)। पालि के विनयपिटक में एक और शब्द मिलता है- मुहुत्तिया (संस्कृत मुहूर्तिका) अर्थात् जो क्षणभर की संगिनी हो (3:138)। जातक में रूपदासी और वण्णदासी, वेशी, नारियेयर, मामिनि, नगरशोभिनी, अत्थि (1:43)और जनपद कल्याणी आदि शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें से रूपदासी और वण्णदासी दूसरी प्रधान गणिकाओं के अधीन या स्वतंत्र रूप से प्रार्थी का मनोरंजन कर सकती थीं (अर्थशास्त्र 2:27) ।जातक में भी इनका उल्लेख प्राप्त होता है (2:380;3:59-72,475:8)।

संस्कृत एवं प्राकृत के सभी कोशों में गणिका को वेश्या का ही पर्यायवाची शब्द माना गया है। जिन कोशों में व्युत्पति के आधार से शब्दों के अर्थ दिये गये है,उनमें भी गणिका का अर्थ खींचतान कर वेश्या ही किया गया है। हाँ पालि-इंग्लिश डिक्शनरी प्रभृति कुछ कोशों में उक्त गणिका एवं वेश्या शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ उपलब्ध होता है ।उनमें राजकीय स्तर की सामान्य-स्त्री जिसे अनेक वैभव-सम्पन्न व्यक्ति भोगा करते थे, गणिका, तथा सामान्य-जनों के द्वारा भोगी जाने वाली स्त्री को वेश्या कहा गया है। उक्त कोशों में प्राप्त गणिका एवं वेश्या शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि बौद्ध-युग में गणिका एवं वेश्याओं के बीच पर्याप्त अन्तर क्षीण होता गया तथा अन्त में जाकर गणिका और वेश्या को एक माना जाने लगा। कालांतर में गणिका के प्रतिशव्दों की संख्या बढ़ती ही गई। महाकाव्य, पुराण और साहित्य में अनेक नामों का उल्लेख प्राप्त होता है - कुलटा, स्वैरिनी, वार-स्त्री, वारवनिता, स्वतंत्रता और स्वाधीन यौवना। नटी और शिल्पकारिका प्रतिशब्द भी प्राप्त होते है। और बीच-बीच में प्राप्त होता है कुम्भदासी तथा परिचारिका। वात्स्यायन के कामसूत्र में गणिका और रूपजीव (7: 6: 54) नाम मिलते है। जटाधर के शब्द रत्नावली कोश'

संकायाध्यक्ष सह विभागाध्यक्ष, विश्व विद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्व विद्यालय, दरभंगा, बिहार

में शालभंजिका, वारवाणी, बर्बटी, भंडहासिनी, कामरेखा शूला और वारविलासिनी शब्द प्राप्त होते है।

इन प्राय: पचास शब्दों का उद्भव एक समय में नहीं हुआ, न ही एक स्थान पर हुआ। धीरे- धीरे विभिन्न अंचलों तथा विभिन्न कालों में इन नामों की रचना हुई।

अब प्रश्न उठता है कि भारतवर्ष में गणिकावृत्ति कितनी प्राचीन है?

भारतवर्ष ही नहीं,सारी दुनिया में धीरें-धारें जाति और वंश की परम्परा टूटी और उनका स्थान लेने लगे परिवार।परिवार के उदय के साथ ही अर्थात् नारी के ऊपर पुरूष के स्वत्वाधिकार की सामाजिक स्वीकृति के साथ-साथ प्रारम्भ हुई गणिकावृति। उसी समय से परिवार के बाहर के किसी पुरूष का अर्थ या वस्तु के विनियम में अपना शरीर दान करने पर नारी गणिका नाम से चिहिनत हो गई।

ध्यान देने योग्य है कि ऋग्वेद के जार या जारिणी,उपपति या उपपत्नी या फिर अवैध प्रणयी या प्रणयिनी के बीच सांकृत्यायन द्वारा किये गए दीर्धनिकाय के हिन्दी अनुवाद (वाराणसी 1936 ई;पृ.13-14)मज्झिमनिकाय(वही 1994, पृ. 20-25) संयुक्त निकाय(47:20:23) अर्थशास्त्र, कामसूत्र एवं अन्यान्य ग्रंथों से जो तथ्य प्राप्त होते है, उनसे स्पष्ट है कि गणिका का स्थान सर्वोपरि था। रूप, यौवन, शिक्षा-दीक्षा - सबमें वही श्रेष्ठ थी (कामसूत्र 13: 20)डसके बाद रूपाजीवा थी जो रूप-यौवन, शिक्षा-दीक्षा, धन-सम्पदा तथा सामाजिक स्तर की दृष्टि से गणिका से नीचे थी। उससे भी नीचे वेश्या-नाम से ही समझ में आता है कि उसका मूल धन या वस्त्रालंकार, साज-श्रृंगार था। गणिकालय में रहने के दौरान राज्य, गणिका की शिक्षा-दीक्षा का व्यय-भार वहन करता था। उसकी आय से निर्धारित आयकर वसूल करता था। कौटिल्य यह व्यवस्था भी कर गए हैं कि बुदापे में उसे कुछ वृत्ति मिलती रहे। कहने का तात्पर्य यह कि प्रतिष्ठानिक दायित्व और अधिकार, दोनों ही उसे प्राप्त थे। रूपाजीवा की शिक्षा का दायित्व उसका स्वयं का होता था या फिर उसकी माँ या उसके ग्राहक का। इसके अतिरिक्त थी अवरूद्धा अर्थात् रक्षिता जिसका पूरा भार उसके पृष्ठपोषक पर होता था। वह उसका पूरा आर्थिक दायित्व स्वयं बहन करता था और बदले में केवल वही उसके पास आ सकता था। अवरूद्धा का स्वाच्छन्द्य और आर्थिक स्थिति पूरी तरह उस एक पृष्ठपोषक की अवस्था और मर्जी के ऊपर निर्भर करती थी। इसके नीचे अनेक प्रकार की पेशा करनेवालियाँ थीं, यथा-सैरिन्ध्री, शिल्पकारिका या शिल्पदारिका, कौशिकस्त्री, कुम्भदासी, रूपदासी, नटी, क्षुद्रा भुंजिका आदि। ये राजप्रसाद या धनी लोगों के धर में अपनी योग्यता के अनुसार शारीरिक श्रम करके जीवन-निर्वाह करती थीं लेकिन ये सभी गृहस्वमी की भोग्या भी होती थीं।

गणिका राष्ट्र से एक हजार पण मासिक वेतन पाती थी, उसे चौसठ कलाओं की शिक्षा देने के लिए राष्ट्र की ओर से विभिन्न शिक्षक नियुक्त किया करता था। बौद्धसाहित्य में उल्लेख है कि गणिका सालावती की माँ सिरिमा बेटी के एक रात का मूल्य लेती थी एक हजार काहापण(कार्षापण - स्वर्णमुद्रा) (धम्मपद टीका, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, 1996-14, पृ. 308-9)। जैन ग्रंथ बृहत्कल्प (पुण्यविजय जी भावनगर विरचित, सन् 1933-38) के अनुसार गणिकाओं के लिए लिखना, गणित, नाना प्रकार के शिल्प-संगीत, वाद्ययंत्र (वीणा, पटह, वंशी, आदि), द्यूतक्रीडा, अक्षक्रीडा, काव्यरचना (संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश), गंधयुक्ति (इत्र तैयार करना), अलंकार बनाना, श्रृंगार, अलंकरण, सुलक्षण

और कुलक्षण पुरूष और नारी का विचार, अश्ववविद्या,हस्तिविद्या,रंधनविद्या,रत्नपरीक्षा,विषनिर्णय और उसका प्रतिविधान, स्थापत्य, शिविर निर्माण, सेना- सन्निवेश, युद्धविद्या, धनुविद्या, निमित्तनिदान आदि कुल बहत्तर विद्याओं की शिक्षा आवश्यक होती थी। मनुसंहिता (2: 67) में भी इस संबंध में कुछ निर्देश दिये गए है।गणिका और रूपाजीवा राष्ट्र को आयकर देती थीं तो बदले में उन्हें कुछ सामान्य सुरक्षा व्यवस्था आर्थिक एवं शारीरिक, दोनों उपलब्ध थीं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार प्रक्रट रूप में गणिका का अपमान करने का दंड था अड़तालीस पण, कान काट लेने पर दंड था पौने बावन पण और कारावास। याज्ञवल्क्य के अनुसार गणिका की इच्छा के विरूद्ध उससें संभोग करने का दंड था पचास पण और एक के बाद एक कई लोग यदि इस प्रकार बलात्कार करें तो उनमें से प्रत्येक को उसे चौबीस पण दंड में देना होता था (2: 2: 96)।

गणिका किस प्रकार के प्रार्थियों को खोजे, इसका निर्देश वात्स्यायन ने दिया है-तरूण, धनी, पारिवारिक दायित्व से मुक्त,उच्चपदस्थ, सद्वंशजात, प्राणवान्, शिक्षित, कवि, कथा-कहानी-उपाख्यान आदि में कुशल, सुवक्ता, नाना कलाओं का मर्मज्ञ, सुरासक्त, बन्धुभावापन्न, नारी-संगकमी लेकिन किसी नारी के वशीभूत न हो, और जो निष्ठुर या ईष्या से जलने वाला न हो (कामसूत्र 6: 1 : 10: 12)।

बारहवीं शाताब्दी के तन्मय सुन्दरी नामक ग्रंथ के अनुसार गणिका की आय का 15 से 30 प्रतिशत राष्ट्र का प्राप्य होता था अर्थात् राज्यकर होता था। बौद्ध ग्रंथों में गणिका की भट्टि (संस्कृति भृति) अर्थात् वेतन और परिव्यय (संस्कृत परिव्ययम्) अर्थात् खर्च का उल्लेख प्राप्त होता है।महाभारत में बराबर कहा गया है कि शिशु, दास और गणिका का सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता (आदिपूर्व 182: 22; सभापर्व 71: 1; उद्योगपर्व 33:64)। गणिका और उसकी विकल्प गणिका को राज्य से मासिक वृत्ति मिलती थी। स्व-अर्जित राशि पर कहीं-कहीं उसका अधिकार होता था और विशेष सम्पत्ति बेटी के अधिकार में आती थी तब उसे भी अपने जीवनकाल में उसका उपभोग करने का अधिकार कानूनन प्राप्त होता था। सम्पति को गिरवी रखने, बेचने या देने-लेने का अधिकार उसे नही होता था। राष्ट्र के ऊपर विपत्ति पड़ने पर उसकी सम्पति का आधा हिस्सा जब्त कर लिया जाता था (अर्थशास्त्र 5: 2)। कहीं-कहीं गणिका के परिवार की चर्चा भी की गई है। गणिका की माँ ही गणिकालय की कर्ता-धर्ता होती थी। गणिका की बहन होती थी प्रतिगणिक अर्थात् आवश्यकता पड़ने पर जो उसका विकल्प हो सके। भाई को गाने-बजाने या अभिनय करने में कुशल होना होता था और राष्ट्र द्वारा परिचालित मंच पर कम-से-कम आठ वर्षों तक अभिनय करना पड़ता था। संगीत, वाद्य के कार्यक्रमों में योग देना होता था। उसकी शिक्षा और आर्थिक व्यवस्था राष्ट्र ही करता था। उसकी मुक्ति की कीमत गणिका से भी अधिक होती थी।उत्सव, युद्ध में विजय, यज्ञ, दान दक्षिणा आदि में एक वस्तु के रूप में नारी का भी दान किया जाता था। इसमें ऐसी अभागिनें भी होती थीं जिनकी देह के विनियम के मूल्य से अन्य एक व्यक्ति पुण्य कमाता था।

वास्तव में गणिकावृति करनेवालियों में दान-दक्षिणा में वितरित स्त्रियों का ही आधिक्य था क्योंकि इनकी संख्या अनगिनत होती थी। नारी को, मुख्यत: सुन्दरी तरूणी को, यज्ञ दहेज, श्राद्ध, युद्धजय, दान दक्षिणा आदि में देने के असंख्य उल्लेख रामायण में है। (अयोध्याकांड 11-12,

25-26; किष्किधाकांड 20:13; 24,34 एवं अन्यत्र भी) महाभारत मे भी (वनपर्व 186:7; कर्णपर्व 49: 76-78; शान्तिपर्व 98: 45; अनुशासनपर्व 96:18,19:82) गणिका सभा की शोभा बढ़ानेवाली और युद्ध तथा शिकार करने के समय मनोरंजन करनेवाली कही गई है।

यदि गणिका सचमुच पापिनी है और पाप के संस्पर्श से दूर रहना चाहिए इस नीति को हम मानें तो पाप द्वारा अर्जित धन के दान को तो समाज को अस्वीकार करना ही चाहिए। लेकिन तथ्य यह है कि गणिका द्वारा अर्जित धन का भोग करने में समाज को कोई दुविधा नहीं होती थी। गणिका अर्द्धकाशी ने अनेक लोकोपकारी कामों के लिए अपनी विशाल सम्पति दान में दे दी थी और बहुत बड़ी राशि भगवान बुद्ध के चरणों में अर्पित की थी। लेकिन बुद्ध या उपकृत जनता किसी ने इसे अस्वीकार नहीं किया। जैन ग्रंथ बृहत्कल्पभा के अनुसार एक गणिका ने एक चित्रशाला की प्रतिष्ठा की थी, दूसरी गणिकाओं ने गरीबों और जैन मठों को प्रचुर दान दिया था। धनी गणिकाओं ने सेतु, कूप उद्यान, मन्दिर,मठ, चैत्य कुंज, पुष्करिणी आदि दान करके देशवासियों का उपकार किया था।

हम कह सकते हैं की प्राचीन काल से भारत में ललित कलाओं के पल्लवन और पोषण की सशक्त परम्परा रही है। इन कलाओं का विकास मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक वर्गों और समुदायों की धार्मिक, सांस्कृतिक गतिविधियों एवं उत्सवों के रूप में हुई। ललितकला में मुख्यत: संगीत कला की परम्परा के संरक्षण एवं पोषण में गणिका का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ आचार्यों ने संगीत द्वारा जीविकोपार्जन को निषिद्ध माना है लेकिन संगीत साधना को नीचा दर्जा कभी नहीं दिया गया। गणिका चौसठ कलाओं में निपुण मानी जाती थी। उनके लिए देह-व्यापार भी एक कला थी, जो उसके व्यवसाय का अंग था। काव्य-संगीत आदि सभी विधाओं में महारथ हासिल करने वाली गणिका सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र मानी जाती थीं। कौटिल्य के समय से ही देह-व्यापार को कला माना जाता था जिसे वैशिक-कला नाम दिया गया। गणिका की पदवीं गणिकाध्यक्ष द्वारा प्रदान की जाती थी। गणिकाओं में जो भेद किए गए उनमें दरबारी गायिका, सामान्य गायिका, हुरकनी, नचनिया, डेरेदार, कोठेवाली, तवायफ, वारा, वेश्या , द्दिनार, दारी, रंडी या कुलक्षणी जैसी श्रेणियों का विभाजन किया गया। वैदिक काल में युद्ध के थके हुए देवताओं की प्रार्थना पर ब्रहमा जी द्वारा गणिकाओं और अप्सराओं की सृष्टि की गई थी। रंभा, उर्वशी, मेनका जैसी अप्सराएँ नाट्य और नृत्य में प्रवीण होती थी। गणिकाओं में श्रेष्ठ 'वारमुख्या' कहलाती थी। कला कुशल गणिकाओं को प्रधान या मुख्य नायिकाएँ का दर्जा दिया जाता रहा है। पूर्वकालीन नाट्यों की नायिकाएँ विशेष गणिकाओं में से होती थी जिन्हें शिल्प, कारका, प्रेक्षणिका अथवा नटकिया कहते थे। गुप्तकाल, मौर्यकाल में गणिका को विशेष स्थान प्राप्त था। गणिका पर टिप्पणी करते हुए पं. देवदत्त शास्त्री ने कहा है कि गणिका वही है जो अपनी आमदनी को आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं लोकोपचारी कार्यों में खर्च करे। गणिका उत्तमा नायिका होने के कारण उत्तम श्रेणी के नायक से सम्बद्ध रहती है। सांख्य दर्शन की पिंगला, महाराज सागर की 'इन्दुमती', अवन्ति की विलासिनी और सुगन्धा, दक्षिण की 'लक्ष्मणा' और 'कर्नाटकी',एवं वैशाली की आम्रपाली जैसी गणिकाएँ पुराणों और इतिहास में अपने गुणों और सौंदर्य के कारण प्रसिद्ध हो चुकी है। महाभारत में सोमा, अनावधा, अंबिका,आद्रिका, गुणवरा, सुप्रिया, काम्या या ऋतुस्थला, असिता, धात्री,

सुरसा, प्रमथ्पिनी कर्णिका,अंगसु, वोगा, मरीचि, जानपदी और सुगंधा आदि 42 अप्सराओं का उल्लेख मिलता है। वेदकाल से लेकर नाट्यशास्त्र एवं अन्य महाकाव्यों में भी नायिका पद पर इनकी पहुँच रही है।

तेरहवीं शताब्दी के दौरान दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात संगीतजीवी जातियों की स्थिति तथा कला परम्पराओं में व्यापक परिवर्तन आया। सांस्कृतिक संक्रमण के उस दौर में संगीत की स्थिति अच्छी नहीं थी। ऐसे में संगीत को बनाए और बचाए रखने में गणिकाओं की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। कला के संरक्षण में जो प्रयत्न गणिकाओं ने किया उसे भुलाया नहीं जा सकता। गणिकाओं का सम्बन्ध नृत्य और संगीत दोनों से रहा है। ठुमरी एवं कत्थक की प्रसिद्धि के केन्द्र में गणिकाएँ ही रही है। उन्हें ये शिक्षा उस्तादों या गुरूओं से दी जाती थी।

बीसवीं शताब्दी में स्वतंत्रता आन्दोलन और उसके बाद विकसित जातीय चेतना और मध्यमवर्ग के विकास ने गणिका अथवा वेश्याओं के प्रति लोगों के व्यवहार और सोंच में परिवर्तन ला दिया। नैतिक अनैतिक चर्चाओं के बीच गौहरजान ने ग्रामोफोन रिकार्ड के माध्यम से अपने संगीत को व्यापक स्तर पर पहुँचाया। कई गणिकाओं ने काशी में सन् 1921 ई॰ में तवायफ संघ बनाकर असहयोग आन्दोलन से अपनी जमात को जोड़ा।

मेरा उद्देश्य गणिकाओं या वेश्याओं के उस वर्ग से है जिसने संगीत कला की ऊँचाई को प्राप्त कर समाज को सांस्कृतिक रूप से समृद्ध किया है। एक जमाना था जब गणिकाओं का सम्मान किसी देवालय के देवता की तरह किया जाता था। कलासम्पन्न गणिकाओं की कमजोरी धन नहीं बल्कि व्यक्ति के गुण और उसकी गुण ग्राहकता से होती थी। उनकी देहरी की धूल को पवित्र कामों मे अपनाया जाता था। बड़े-बड़े महाराजा अपने कुमारों को गणिकाओं के कोठों पर तमीज और तहजीब सिखाने के लिए भेजा करते थे। युग बदलने के साथ गणिकाओं की कद्र करने वाले कम होते गए। जो गणिकाएँ कला-साधिका और शालीनता की मूर्ति समझी जाती थी, उनका समाज अब तिरोहित हो गया है। समाज के उपर पड़े बाहरी प्रभाव ने भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान और व्यवहार सभी को सुनामी की तरह ध्वस्त कर दिया है। संगीतज्ञ गणिकाओं के युग का पटाक्षेप हो चुका है इसका स्थान बार बालाओं के डाँस ने ले लिया है जिन्हें न कत्थक से मतलब है और न भरतनाट्यम से। रंग-बिरंगे प्रकाश में थिरकती और कूदती बालाएँ गुणियों प्रशंसा की चाह न रखते हुए धन-कुबेरों द्वारा नोटों की वर्षा को ही अपना असली पुरस्कार समझती है।

साहित्य और संगीत का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है साहित्य समाज नहीं है फिर भी विमर्शों के स्तर पर दलित विमर्श, स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्ष की बात होती है, परन्तु साहित्य के समानान्तर संगीत और अन्य में अस्मितामूलक विमर्शों की पड़ताल अभी शेष है। सभी तरह की कलाओं में निपुण भी हासिये पर जी रहें हैं। समाज में उनकी अस्मिता की पहचान होनी चाहिए। संगीत एवं अन्य कलाओं के क्षेत्र में ऊँच नीचपन का भाव किस तरह विकसित हुआ और पल्लवित हुआ। समाज में उपेक्षित और सदा से समाज का हिस्सा रही कलानुरागिनी गणिकाओं के बीच उसकी स्थिति क्या थी और अब क्या है यह पड़ताल का विषय है।कला की विदुषी संवाहिका गणिका की परिस्थितिवश गिरते स्तर के साथ कला के वर्तमान स्तर पर विचार करना उसे पुन: संरक्षण। संवर्धन प्राप्त हो, इस ओर भी पहल होनी चाहिए।

संगीताचार्य घनारंग मल्लिक की रचनाओं में अभिव्यक्त भक्ति के स्वर

कुमार गौरव मिश्रा

शोध सारांश

घनारंग मल्लिक, जिन्हें घनारंग दुबे के नाम से भी जाना जाता है, बिहार के भक्त कवियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे जितने उच्च कोटि के संगीतज्ञ व गायक थे, उतने ही बड़े कवि व रचनाकार भी। उनकी अधिकांश रचनायें फुटकर रूप में प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त, उनके द्वारा लिखित 'कृष्ण-रामायण' जिसका प्रकाशन वर्ष सन् 1894 ईसवी है, उनके कीर्तित्व का मुख्य आधार है। मूलत: ये कृष्णभक्त धारा के कवि हैं, किंतु इनके रचित पदों में भगवती, राधा, पार्वती, शिव, राम, इंद्र, गणेश, हनुमान इत्यादि भी दृष्टिगत होते हैं।

प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य घनारंग मल्लिक के साहित्यिक व सांगीतिक यात्रा पर प्रकाश डालना है। इनके द्वारा रचित पदों का भक्ति जगत में क्या अहम योगदान है, इसे उद्घाटित करना है। साथ ही, साहित्यिक एवं सांगीतिक दृष्टि से इनके पदों का मूल्यांकन करना भी प्रमुख उद्देश्य होगा। इसके लिए गुणात्मक शोध विधि का प्रयोग किया गया है। शोध प्रक्रिया के अन्तर्गत प्राथमिक प्रदत्त-साक्षात्कार एवं द्वितीयक प्रदत्त-पुस्तक के आधार पर वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक विधियों पर आधारित शोध चर्चा प्रस्तुत की गयी है।

बीज शब्द : *कृष्ण-रामायण, ध्रुपद, सांगीतिक परंपरा, राग-रागिनी, गायन, साहित्यिक, भक्तकवि, संगीतज्ञ, शैली, छंद, शिल्प, भक्ति, गेयात्मक, पद, श्रृंगार वर्णन, ठुमरी, बंदिश, साहित्य।*

प्रस्तावना : कविवर घनारंग मल्लिक का जन्म बिहार के शाहाबाद जिले के धनगाँई नामक गाँव में सन् 1819 ई. को एक गौड़ ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका परिवार सदियों से संगीत के क्षेत्र में, खासकर ध्रुपद गायन में अद्वितीय रहा है। उनके पूर्वज पंडित ज्ञान दुबे को परिवार व पूरे क्षेत्र की सांगीतिक परंपरा का आदि पुरुष माना जाता है। आगे चलकर, इसी सांगीतिक परंपरा में घनारंग मल्लिक सर्वोत्कृष्ट गायक व संगीतज्ञ हुए, जिन्होंने ध्रुपद गायन की शिक्षा अपने पिता पंडित सुहावन दुबे और चाचा पंडित माणिकचंद एवं पंडित अनुपचंद से प्राप्त की। धनगाँई ग्राम भोजपुर की राजधानी माने जाने वाली डुमराँव नामक स्थान से दक्षिण दिशा में लगभग उन्नीस किलोमीटर की दूरी पर अवस्थित है। दुबे परिवार डुमराँव राजदरबार से संबद्ध था। अत: इनका घराना डुमराँव घराना कहलाने लगा। इसी परंपरा में आगे बच्चू दुबे (प्रकाश कवि) जैसे महान ध्रुपद गायक हुए। पंडित सहदेव दुबे एवं पंडित रामप्रसाद पांडे इस घराने में ध्रुपद गायकी के असाधारण ज्ञाता एवं प्रस्तोता हुए। प्राचीन परंपरानुकूल साहित्य और संगीत का अनूठा समन्वय तथा कई आवृत्तियों के सरगम की बंदिशों का गायन, इस घराने के

शोधार्थी (हिंदी विभाग), जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025,

ध्रुपद गायकों की विशेषता रही है।

कविवर घनारंग सादगीपूर्ण जीवनयापन करते थे। "वे बाह्य तड़क-भड़क और प्रदर्शन से बहुत दूर रहते थे। वे स्वभाव से इतने सरल थे कि पगड़ी एक बार बाँधने के बाद उसे उतारते ही न थे। जूते भी वे बहुत कम पहनते थे और किसी सवारी पर चलने का भी उनका स्वभाव न था। कोसों दूर पैदल ही चला करते थे। उनसे बहुत से व्यक्तियों ने उन दिनों संगीत की शिक्षा ग्रहण की थी। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री राधावल्लभ जोशी, विप्रलम्भ, रामचरित तिवारी, हुल्लास कवि, फूलचन्द्र मल्लिक, जगदीश्वर प्रसाद, रामलाल उपाध्याय और कान्हजी सहाय इत्यादि प्रमुख थे।"

घनारंग उच्च स्तर के भक्त कवि थे। ऐसा कहा जाता है कि वे अपनी अधिकांश कविताएँ कोयले अथवा कंकड़ से दीवार या ज़मीन पर पहले लिख लिया करते, तत्पश्चात् बैसहा कागज़ पर उतारा करते। इस कार्य में उनकी सहायता उनके भतीजे प्रकाश दुबे उर्फ़ प्रकाश मल्लिक किया करते थे। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त इनका एक ही पूर्ण ग्रन्थ 'कृष्ण-रामायण' वर्तमान में प्राप्त हो पाया है, जिसे उनके भतीजे ने सन् 1894 में प्रकाशित करवाया था। अपने आश्रयदाता डुमराँव नरेश महाराजा सर महेश्वर बख्श सिंह के अनुरोध पर घनारंग ने इस रामकथा की रचना की थी।

घनारंग के साहित्य में राधा-कृष्ण की भक्ति : घनारंग घोषित रूप से कृष्णभक्त कवि हैं, तो उनकी रचनाओं में कृष्ण के पद बहुलांश में मिलना अचरज की बात नहीं है। घनारंग का संपूर्ण जीवन कृष्ण के नाम-जप व चिंतन-मनन में ही व्यतीत हुआ। उन्होंने 'कृष्ण-रामायण' में जो शिल्प बुना, उसमें भगवान शंकर द्वारा पार्वती जी को जो रामायण की कथा सुनाई गई है, उसमें रामायण की कथा प्रत्यक्ष तरीके से न सुना कर, बालक कृष्ण को माँ यशोदा से यह कथा सुनते हुए दिखाया गया है। तत्पश्चात् पार्वती के अनुरोध पर, वे कृष्ण लीला भी सुनाते हैं। साहित्यिक दृष्टिकोण से प्रबंध काव्य लिखने की यह अद्‌भूत शैली है। चूँकि, घनारंग संगीत के मर्मज्ञ ज्ञाता थे, इसलिए इनके पद गेयात्मक एवं विभिन्न राग-रागिनियों में निबद्ध हैं।

घनारंग इस प्रसिद्ध पद में अपने आराध्य श्रीकृष्ण की लीलाओं एवं उनके रूप-शृंगार का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

"नचत त्रिभङ्ग ए
ब्रजचन्द बंसीवट जमुनतट प्रचुर मनसिज-मान-खंडन,
करन कुण्डल चमक मानो उदित जु ताल पतङ्ग। नचत०-
नख ज्योति मनि इव चरन अम्बुज सदृश नूपुर ताल गतिरव,
जघन रम्भा थम्भ उलट्यो कटि निरखि मृगराज भूङ्गी दङ्ग। नचत०-
दामिनि छटा सम पीत पट दुति लचत कटि जव नचत गति वर,
मेखला धुनि करत मानों दुन्दुभी निजले वजायो बिस्व जीति अनङ्ग। नचत०-
नवजलद सम सर्वाङ्गसुन्दर सिपज माला हृदय ऊपर,
मध्य रोमावलि जमुन मनु नीलगिरि ते धार द्व हवै चली छिति पर गङ्ग। नचत०-
सिर मुकुट रत्नावलि जड़ित धृत कुटिल कच अलि अवलि मानों,
भौह वॉक दृग रसीले अधर विद्रुम मुरलि धारे उठत तान-तरङ्ग। नचत०-"

वे श्रीकृष्ण (विष्णु) के गुणों का बखान करते हुए, उन्हें अपने पास आने की गुहार लगाते हैं और कहते हैं-

"सान्तरस-तखत पै बिचार स्वेत गादी राखि
बुद्धि मसनन्द प्रेम-चादर बिछाये है।
सुकृत-मनोरथ आ बैठेंगे मुसाहिब-बृन्द
संयम और नेम चोबदार ये दिखाये है।
ग्यान-ध्यान चामर लै खवासी मे पुन्य साथ
छमा-सील पंखा मनकिकर डुलाये है।
चरन तिहारे अंव त्रिभुवन-बादसाह कब
धी हमारे हिय-महफिर में आये है।"

गायन की ठुमरी शैली उत्तर भारत में उत्कृष्ट रही है। घनारंग भले ही ध्रुपद गायकी की परंपरा से थे, किंतु उन्होंने गायन की अन्य शैलियों के लिए भी पद लिखे व उन्हें स्वरबद्ध कर गाया। प्रस्तुत पद श्रीकृष्ण से संबंधित है, जिसे उन्होंने ठुमरी शैली में निबद्ध कर गाया गया है-

(ठुमरी)

"सखि कैसी करूँ
मोहि लाज बरन में चलत स्याम मोसे मीन्हि ठगोरी।
कूर अक्रूर साजि रथ न्यायो ने जो गयो मनभावन को
घनारंग के प्रभु नटनागर कपटिन के सिरताज आज॥"

श्रीकृष्ण, राधा जी के बिना अधूरे हैं। इस कारण जहाँ उनका वर्णन या आराधना हो, वहाँ राधा जी का गुणगान भी अवश्य होता है। घनारंग रास के मध्य श्रीराधा जी का शृंगार वर्णन अपने पदों में कुछ इस प्रकार करते हैं-

"कंचन की परी कैधौं कुसुम की छरी कैधौं
मोतिन की लरी कैधौं थीर भई दामिनी।
कैधौं करतार सुधा साँचै माँह ढारि काढ्यो
कैधौं प्रगटी है आज शुक्लपक्ष यामिनी।
कैधौं हीरा-खानि कैधौं चन्द्रमा-सरूप कैधौं
संतन के हृदय-पयोनिधि-विश्रामिनी।
जाके रूपरासि में तिलोत्तमा भई है तिल
कृष्ण ढिग राजै 'घनारंग' की सो स्वामिनी।"

"चंचल चलाके सब कला के है भरे दोऊ
लाज के पताके खंज मीन के कताके हैं।
घूंघट उठा के भ्र चढ़ाके ताक जाके ओर
सो गिरे तड़ाके घबड़ा के मुरझा के है।
सब उपमा के कज मृगा के दबा के साके
ऐसो ना उमा को ना रमा के सारदा के हैं।
दै जब सलाके सुरमा के 'घनारंग' सुख
छाक हैं सुधा नैन बाँक राधिका के है।"

निम्न पद में, लावनी छंद में श्रीराधा जी के शृंगार का वर्णन अति विशिष्ट है-

(लावनी)

"रास मध्य वृखभान किशोरी ठाढ़ी भई नृत्या करने।
नखसिख लों छबिखानि नागरी तासु रूप कबि को बरने॥
अतिसे लसत पीठ पर बेनी जनु भुजंग सटकारे हैं।
करनफूल बिच मानिक मोतो सुक भौम मनु तारे हैं॥
भुज भर कंचन अंगद बाजू मनि चूरी कंगन कर में।
है कल हार मुक्त कंडा गर क्रीट बन्दनी त्यों सर में॥
नाभी सर अम्मृत सर गाभी उपमा देत सबे दबि को।
चन्द्रहार जगमगित नगनि जुत करनि सके ताक्के छबि को
मृगपति भृङ्ग लंक लखि लज्जित सारी तहां सँवारी है।
जालदार अँगिया कुच ऊपर संभु विभूति सुधारी है॥
पावजेब अति जेव देत है नख जावक महँ दीत रखें।

गजगामिनि कोकिला पिक बैनी ने नै सुर गावति बरवै॥
बरन बरन पट भखन पहने सखी अमित चहुं दिसि बरने।
घनारंग मन मुदित भँवर नित अभय रहे सेवत चरने॥"

घनारंग दुबे के साहित्य में गणेश भक्ति : भारत में यह परंपरा रही है कि कोई भी शुभ काम करने से पूर्व गणेश जी की वंदना या स्तुति की जाती है। इसी परंपरा का ध्यान रखते हुए घनारंग 'कृष्ण रामायण' के प्रत्येक अध्याय की शुरूआत गणेश वंदना से करते हैं, उदाहरणार्थ उत्तरकांड का यह दोहा दृष्टव्य है-

(दोहा)

"नौमि बिनायक ईश्वरी ईश मुकुन्द पतंग।
बरनों अब उत्तर कथा देहु सुधारि उमंग॥"

कविवर दुबे के साहित्यिक संसार में विविध प्रकार के छंद दृष्टिगोचर होते हैं, यथा- दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलिया, कवित्त इत्यादि।

(कुण्डलिया)

"फरके तुभप्रद नैन भुज नर दक्षिन तिय बाम।
हरित वाटिका बाग बन लागत नगर लखाम।।
लागत नगर बलाम कहे को को प्रभुआये।
करहिं सगुन सुभ चोय निरखि आनंद उर छाये॥
बिनवहिं सब कर जोरि विनायक गिरिजा दर के।
घनारंग प्रभु अवसि आजु ऐहैं अँग फरके॥"

घनारंग दुबे के साहित्य में शिव भक्ति : घनारंग काशीपति अर्थात् बाबा विश्वनाथ की महिमा का गुणगान करते हुए लिखते हैं-

"कलुप-मृग मारिबे को वही गंग धन्वाकार
असी और वरुना घाट बाँध्यौ अचला-सी है।
मूठ मनिर्काणका अहेरी अचल बिस्वनाथ
चूक ना निसाना यह तारक-मत्र खासी है।
त्रोन सम लोलारक सुर्काव कहै 'घनारंग'
जानत जहान यह महिमा सुप्रकासी है।
इहि प्रकार से उदार खेलत सिकार नित्य
श्रापै अविनासी सिव आनंद-बन कासी है।"

राग बेरवा खेमटा में निबद्ध घनारंग प्रस्तुत पद में भक्तों को भगवान शंकर का ध्यान करने को कहते हैं। साथ ही, वे उनसे उन पर कृपा करने का अनुरोध करते हुए लिखते हैं-

(राग बेरवा खेमटा)

"हाय बसिया बाजे नारे की।
गई कधैया के संग।।
बैरनि सबको टेरि बोलावति ज्यों डोरी बस चंग।
अव पिय को ले गई कहाधों करिके हमे वेरंग।।
जाके सवद सुनत जिय मोहे ज्यों नट विवस भुजंग।
श्री शंकर को ध्यान धरो अति दुख देत अनंग।।
सार हीन ओछी निरमोही रगरें जल कुल अंग।
अधरामृत पी भै ठकुरानी हम सबरी तप तंग।।
बन में अपनी सदा सुनावै जेहि सुनि मरत कुरंग।
छिद्र अनेक गांठ बहु जामे हरि प्रेरक मुख तंग।।
कुविजा कर पिय दण्ड मुरलि हरि जोड़ी बनी कुटंग।
घनारंग पर कृपा करो अब हे नटराज त्रिभंग।।"

घनारंग दुबे के साहित्य में माँ भगवती की भक्ति : घनारंग के प्राप्त स्फुट पदों में कई बंदिशें भी हैं, जिसमें माँ भगवती की आराधना की गई है। ये स्फुट पद धनगाँई ग्राम में लोग अब भी गाते हैं। यह प्रस्तुत पद राग भिमपलासी में निबद्ध है-

(राग- भीमपलासी)

"स्थाई : अब न देर करू माँ, शरण दे।
दुखी जनन पे कृपा-दृष्टि दे।

अंतरा : निस-दिन धरे ध्यान जो कोई,
सुख-संपत्ति अरू मंगल सोई
घनारंग पे, दया-दृष्टि दे।"

(गो. मिश्रा, व्यक्तिगत साक्षात्कार, अक्टूबर 19, 2022)

घनारंग दुबे के साहित्य में राम भक्ति : बिहार में रामायण की जो परंपरा रही है, उसमें घनारंग मज़बूत स्तंभ की तरह हैं। "ईसा की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बिहार में नव-नवीन रामायण लेखन की एक विशेष धारा प्रवाहित हुई जिसकी ओर हमारे विद्वानों का ध्यान नहीं जा सका। यह रामकथा की प्रबन्ध काव्यधारा थी। इस धारा के अन्तर्गत जयरामदास, पंडित हरिनाथ पाठक, पंडित चतुर्भुज मिश्र, कान्हलाल गुर्दा, घनारंग, कलटू भगत आदि विशेष नाम महत्त्वपूर्ण हैं। रामायण के भाष्य संबंधी ग्रन्थों में लखन जी परमहंस कृत् रामायण सार और मधुकवि कृत् रामचरितमानस बोध उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त, आभास रामायण और जगन्नाथ रामायण भी हैं। रामायण की गद्य परम्परा में संकटा प्रसाद का उल्लेख आवश्यक है। ये साहित्यकार बिहार की रामायणी धारा के अन्तर्गत हैं।"

'कृष्ण-रामायण' से उद्धृत प्रस्तुत पद में मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के स्वरूप का वर्णन करते हुए, घनारंग उनके चरणों की महिमा को कुछ यूँ उद्घाटित करते हैं-

"सिर जटा मुकुट विसाख भाल चिपुंड तिलक विभूति की।
वृष कंध उर भृगुचिन्ह पद निरखति सुता तिरइत की॥
पद पदुम चांपत बालिसुत जेहि संभु सुर विधि ध्यावहीं।
कहि अकथ वेद पुरान निर्मल जासु गुन गन गावहीं॥
सतः सहस्त्र सुर विटप जौं सत सहस्त्र सुरधेनन्।
सत सहस्त्र अनिमादि सुख बसत राम पद रेन॥
ऐसे चरन बिसारि नर फिरहिं बिखै लपटान।
राम भक्ति दुर्लभ सुलभ तेहि नहिं चहहिं अजान।
रह्यो दिवस इक अवधि कर सोचहीं पुर नर नारि
दियो सबहिं कहूँ क्लेश अति रघुबर बिरक्ष द्वारि॥"

निम्न पद में श्रीराम दर्शन हेतु भरत की उत्कट आकांक्षा का वर्णन किया गया है। साथ ही, घनारंग ने लक्ष्मण को प्रभु श्रीराम के चरणों की सेवा करने का अवसर प्राप्त करने हेतु सौभाग्यशाली बताते हुए लिखा है -

"कौशिल्या समेत जे माता।
कहहिं सकल बायस तें बाता।।
अहो काक तुम राम निहारे।
आवत उचरड भवन हमारे।।
सोता सदित लखन रघुराई।
जोऐ हैं जननी सुखदाई तौचा।।
टककर चोंच तुम्हारो।
दिद्दों अवसिबनवाइ सँवारी॥
दहीभात मोदक तोच्दैचों।
राम हिंल खिज बनेनजु डैडौं॥
यह सुनि काकसगुन सुभदाता।
दियो जनाइ चरखीं सब माता॥
कुल देवहिं पूजा बहुभाखी।
सकख राम दरसन अभिलाखो।।
भरत नैन भुज दक्षिन फरके।
मिलन हेतु लकुमन रघुबर के।।
भे आनन्द सगुन सुभ देखो।
लगे विचार नहदेवि सेखो॥
अवधि आस इक दिन रहिगयऊ।
गुनि द्दिय दसत निधि दुख छ्यऊ।।

कवन हेतु रघुपति नहिं आये।
समुझि सदोस मोदि विसराये॥
धन्य लखन तुम परम सुभागो।

रघुबर पद पंकज अनुरागों।।
जानि कुटित्व निसंक निर खाजा।
लियो न सँगयातें महराजा।।
जोमम कर्म लखें रघुराई।
नहिं उबारजु गजु गधिकाई।।"

प्रस्तुत पद में भरत और प्रभु श्रीराम के मिलन का सुंदर वर्णन किया है। मिलन के पश्चात् जो भाइयों में हर्ष की अनुभूति है, उसे पाठक सहज रूप में अनुभव कर सकता है-

"देख कुशआसन आसीना।
कृस शरीर दीन जतें दीना॥
जटा मुकुट प्रभजन मनरंजन।
सुमिरत राम राम दुख भंजन॥
स्त्रवत नैन पंकज दौ बारी।
भये मगन द्दनिवन्त निहारी।।
अति सुखल हेन प्रेम समाई।
करनाम्मृत बोले हरखाई।।
जाकारनतेंमग्नर इत हो।
जा सुनाम मुख सदा कद्दतचो।।
चरन पीठ जाकर तुम सेवहु।
अवधि आसतपसी दुख खेवहु।।
श्रीदसरथ कुल राजिवभान।
आये सुख निधान प्रभु जानू॥
खल दखन स्योदेव जस गावत।
सीयलखनऊ तप्रभु अब आवत॥
सुनत बचन दुख सबे सिरानो।
टषित हिमिन्त्यो सुधा निधि मानो।।
आये तात कहति कोचौ।
कहइ सत्यमोते तुम जोहो।।
कहहु वचन सिव सुख अनन्द के।
समन अमित जग दुखद्द द्वन्द के।।
कपि हनुमान ननयसमोर के।
नाम मोर जन रामबीर के।।
यह सुनि भरत उठे अकुलाई।
मिलत प्रेमनहिं हृदय समाई।।
पक्केउकपिसों प्रभु कुशलाई।
स्तूनिकुशल बोले हरखाई।।"

घनारंग दुबे के साहित्य में हनुमान भक्ति : जिस प्रकार राधा जी के बिना श्रीकृष्ण का गुणगान अधूरा है, उसी प्रकार हनुमान जी के गुणों के बिना रामायण की कथा अधूरी लगती है। कविवर घनारंग प्रभु श्रीराम के गुणगान के साथ-साथ पवनपुत्र हनुमान के गुणों का बखान करना नहीं भूलते हैं-

"सुनि प्रभु बचन तुरित सिरनाई।
चले पवनसुत सुन डकँधाई ॥
पवन वेग कपिपति पहुँआये।
सकल कथा संक्षेप सुनाये।।
प्रथमज्जद्दि महँ रहे भट जेते।
कपिपति पइँ आवतभे तेते।।
सबचिं पवनसुत पीठ चढ़ाई।
आये सिघ्र जहां रघुराई।।
सबको प्रभुपद नायउ माथा।
देखि सेनहर खे रघुनाथा॥
किमि चलिये अति दुर दखभारी।
पृछा प्रभु सबसों बनवारी ॥
जे द्दिज समत विचार मइँआयो।
खिप्रभु रुखसोतवन सुनायो।।
तब मारुतसुत दौ कर जोरी।
बोले बच्चन इखेन हिंथोरी।।
सकन्छसैनसानुज रघुराई।
मेरे पीठ चढ़िय अब आई।।
सजत जान अवदोइ अवारो।
हम केहि दिन लगिदास तुम्हारो॥
मैं अब आपन देह बढ़े हों।
सागर तीरतीरसम जैहों।।
यदि विधि प्रभुसवकइँ पहुँच्चों,
जहुँजसुयलपुनितेद्दिधरिऐचों।।
प्रभु प्रताप तें सबककुमो मैं।
करिक्षोंअवसिकइतहोंजोमें।।

सुनि समीरसुत की यह बानो।
अति दरखे प्रभु बहुत बखानी॥"

निष्कर्ष : 19वीं सदी में बिहार के भोजपुर क्षेत्र में अपने साहित्य व संगीत से भक्ति व अध्यात्म का अलख जगाने में घनारंग का योगदान अभूतपूर्व रहा है। अपने कविकर्म में अति निपुणता के कारण ही, भारतेंदु युग के कृष्णभक्त कवियों में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। घनारंग दुबे के रचना संसार से गुजरने के बाद, उनका साहित्यिक व सांगीतिक ज्ञान स्पष्ट होता है। दोनों ही विधाओं में उनकी पारंगतता दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान में, उनके द्वारा बनाए गए बंदिशों व पदों को उनके परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त दूसरे घरानों, यथा दरभंगा व बेतिया आदि घरानों में भी गाया जाता है। उनकी बंदिशों को गाकर, उनकी इस महान परंपरा व धरोहर को आगे बढ़ाने में उनके परिवार के कुछ नामों जैसे कि पंडित रामसेवक मल्लिक, पंडित गोपाल मिश्रा, पंडित कामोद मिश्रा इत्यादि का उल्लेख करना समीचीन होगा।

भक्ति साहित्य के लिए जो माधुर्य गुण की आवश्यकता होती है, वह उनकी रचनाओं में बिखरा पड़ा है। उनकी रचनाओं में छंदों व शैलियों का बड़ा जख़ीरा देखने को मिलता है। अनुप्रास अलंकार का जिस प्रकार से उन्होंने प्रयोग किया है, वह भी अद्वितीय है। संगीत के अद्भूत आचार्य होने के कारण, इसका प्रभाव उनके प्रत्येक रचित पदों में दृष्टिगोचर होता है। ध्रुपद परंपरा से संबद्ध होने के बावजूद, संगीत की अन्य शैलियों, यथा- ठुमरी, टप्पा, धमार, ख़्याल, कजरी इत्यादि के भी वे महारथी थे। अधिकांश पदों में उन्होंने राग-रागिनियों के संकेत दिए हैं। उनके द्वारा 'कृष्ण-रामायण' में राग-रागिनियों का वृहद् वर्णन देखने को मिलता है। अत: यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि बिहार की धरती पर अवतरित भक्तकवियों में वे धुरी की तरह हैं। तत्कालीन समय में, भक्ति के स्वर की विविधता जितना इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होती है, शायद ही किसी और की रचनाओं में।

संदर्भ सूची :

1) 'सुमन', क्षेमचंद्र (1981). दिवंगत हिंदी सेवी : प्रथम खंड. नई दिल्ली : शकुन प्रकाशन. पृष्ठ संख्या 195.
2) सहाय, डॉ.शिवपूजन (1963). हिन्दी साहित्य और बिहार द्वितीय खंड. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. पृष्ठ संख्या 15.
3) वही.
4) मल्लिक, बच्चू (सं.) (1894). कृष्ण रामायण. बनारस : हरिप्रकाश यंत्रालय. पृष्ठ संख्या 116.
5) सहाय, डॉ.शिवपूजन (1963). हिन्दी साहित्य और बिहार द्वितीय खंड. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. पृष्ठ संख्या 14.
6) वही.
7) मल्लिक, बच्चू (सं.) (1894). कृष्ण रामायण. बनारस : हरिप्रकाश यंत्रालय. पृष्ठ संख्या 59.
8) वही, पृष्ठ संख्या 1.
9) वही, पृष्ठ संख्या 2.
10) सहाय, डॉ. शिवपूजन (1963). हिन्दी साहित्य और बिहार द्वितीय खंड. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. पृष्ठ संख्या 14.
11) शर्मा, आचार्य नलिनविलोचन (सं.) (1959). प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण तृतीय खंड. पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्. पृष्ठ संख्या 67.
12) चतुर्वेदी, सीताराम (सं.) (1973). तुलसी ग्रंथावली तृतीय खंड. अखिल भारतीय विक्रम परिषद् : काशी. पृष्ठ संख्या 295.
13) मल्लिक, बच्चू (सं.) (1894). कृष्ण रामायण. बनारस : हरिप्रकाश यंत्रालय. पृष्ठ संख्या 1.
14) वही, पृष्ठ संख्या 2.
15) वही, पृष्ठ संख्या 3.
16) वही, पृष्ठ संख्या 24.

ना धिं धिं ना के जादूगर पंडित अनोखे लाल मिश्र जी का बाज एवं बंदिशें

वर्षा निम*, डॉ. शिवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी**

सार

भारतीय इतिहास गवाह है कि भारत में शास्त्रीय संगीत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है तथा संगीत एक मानवीय अभिव्यक्ति है, जिसके माध्यम से वह अपने अन्दर की भावनाओ को दर्शाता है और एक अच्छा संगीत साधक वही है जो संगीत का रियाज़ अपनी भीतर की आत्मा से बड़ी ही सुन्दरता के साथ करके उसे मंच पर ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह सारे समाज को अपनी संगीत साधना की शक्ति से पुष्पित कर देता है। संगीत कलाकार अपनी एक मुख्य विशेषता के आधार पर जाना जाता हैं और उसी विशेषता के द्वारा वह भिन्न-भिन्न घरानों तथा वादन शैली (बाज) का परिचय देता है। इस आलेख से दृष्टिगोचर होता है कि एक सच्चा कलाकार खुद को संगीत साधना में समर्पित कर, समाज के लिये एक मिसाल कायम कर जाता हैं।

मुख्य शब्द : *संगीत, कलाकार, घराना, बंदिश*

प्रविधि: पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, इन्टरनेट आदि से सामग्री संकलित कर शोध-पत्र लिखा गया है।

प्रस्तावना- यदि हम भारतीय चिंतन को दृष्टि में रख कर देखते हैं तो चौसठ कलाएं मानी जाती हैं वास्तु कला, काव्य कला, मूर्ति कला और चित्र कलाओं के रूप में ये कलाएं जानी गई है और इन को हम इस प्रकार देख सकते हैं।

1. काव्य (नाट्य तथा साहित्य की समस्त विधाएं)

2. संगीत (गायन, वादन तथा नृत्य)

3. वास्तु कला (चित्र कला, मूर्ति कला तथा वास्तुकला)

यदि हम ललित कलाओं के रसास्वादन की बात करते हैं तो केवल दो ही इंद्रियों का प्रयोग किया जाता हैं तथा दर्शन और श्रवन में भाषा का ज्ञान होना आवश्यक हैं। इसके बिना काव्य को समझना असंभव हैं और इसी तरह कलाकृति के लिये दृष्टि का होना जरूरी है, जिसके द्वारा व्यक्ति उस कलाकृति को घूर घूरकर देख सके। किन्तु संगीत एक श्रवन का विषय है।

जब मनुष्य काव्य कला का आनंद लेता है तो उसे सुनने के लिये स्थिर होना पढ़ता हैं साथ ही साथ कलाकार को भी, लेकिन गायन, वादन तथा नृत्य स्थिर नहीं रहता वह प्रतिक्षण बदलता रहता हैं इस कारण कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान संगीत की मिला है।

"गीतम् वाद्यम् तथा नृत्यम् त्रयं संगीतमुच्यते"

संगीत संस्कृत भाषा का शब्द हैं जिसकी

*शोध छात्रा, संगीत विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान, दयालबाग आगरा, पता- 37b/89 नगला हवेली, दयालबाग, आगरा-282005,

**शोध निर्देशन-

व्युत्पत्ति 'गै' धातु से क्त के योग से बने गीत शब्द के उपसर्ग को लगाकर हुई है। सम से तात्पर्य सम्यक् या भली भांति हैं गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का समावेश संगीत हैं।

संगीत में ताल का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। विद्वानों के द्वारा कहा गया है कि अनिबद्ध या तालविहीन संगीत आरण्यक संगीत हैं। निबंध या तालयुक्त संगीत सामाजिक संगीत है। संगीत में ताल और छंद के आधार पर ही स्वरों को गति प्रदान की जाती है।

जैसे अमरकोश में वर्णित है तालः काल क्रियामानम्।

'संगीतरत्नाकर' तथा 'नारदार्थ रागमाला' में भी वर्णित हैं कि जिस प्रकार शरीर में प्रधान मुख है और मुख में नाक है इस प्रकार तालविहीन संगीत नासिकविहीन मुख के समान है। यदि हम गायन, वादन, नृत्य की बात करते हैं तो वह किसी न किसी घराने से या विशेष शैली से संबंध रखता है।

घराना तथा बाज- सामान्य रूप से घराना शब्द का अर्थ कुटुंब, परंपरा, परिवार, वंश परंपरा, वर्ग संप्रदाय, मानव समाज की एक इकाई है जो संगीत में एक बड़ा महत्व रखती है।

हमारी संस्कृति और परंपराओं को सोद्रन रखने में, विकास धारा को आगे बढ़ाने में एवं मनुष्य को अनुशासन संयम तथा अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा शिक्षा देने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। मुख्य रूप से तबले की वादन शैली को दो बाजों के आधार पर बांटा गया है।

1. पश्चिम बाज
2. पूरब बाज

1. पश्चिम बाज- पश्चिम बाज बंद बोलों के लिये जाना जाता हैं और इस बाज के अन्तर्गत दिल्ली घराना तथा अजराड़ा घराना आता हैं।

2. पूरब बाज- इस बाज को खुले तथा जोरदार बोलों के लिए जाना जाता हैं। इस बाज के अन्तर्गत लखनऊ घराना, फर्रुक्खाबाद घराना और बनारस घराना आता हैं। इन सभी घरानों के अतिरिक्त पंजाब घराना भी आता हैं जो इन सभी घरानों से भिन्न हैं।

पूरब बाज का बनारस घराना तबले में अपनी एक अलग पहचान बनाए हुए हैं। तबले के इस घराने में अनेक कलाकारों ने अपनी प्रतिभा और मौलिक क्षमता द्वारा इस घराने को पुष्पित तथा पल्लवित किया है। इन्हीं कलाकारों में से एक स्वर्ण अक्षरों में अंकित कलाकार का नाम आता है उस महान कलाकार का नाम है ना धिं धिं ना के जादूगर 'पंडित अनोखेलाल मिश्र' जी।

जीवन परिचय- ताजपुर गांव सकलडीहा बनारस से 1 किलोमीटर की दूरी पर सन् 1914 ई. में पंडित अनोखेलाल मिश्र पंडित बुद्धू प्रसाद मिश्र जी को पुत्ररत्न के रूप में प्राप्त हुये। जब यह 6 महीने के थे तभी इनकी मां की मृत्यु हो गई और ढाई वर्ष की अल्प आयु में इनके पिताजी का साया भी इनसे छूट गया। इसी कारण पंडित अनोखेलाल मिश्र जी का बचपन अत्यंत कष्टप्रद था। अब इनके परिवार में पंडित जी के दूर के चाचा, पंडित दरबारी मिश्र तथा इनकी दादी जानकी देवी थी। तब से दादी ने पोते को सहारा देकर अपने अदम्य साहस का परिचय दिया साथ ही उनको डर था कि बिना मां-बाप का बच्चा गांव में रहकर मूढ़ न बन जाये इसलिए वे अपने बच्चे को लेकर बनारस चली गई। दरबारी मिश्र जी ने उनको अपने साथ रहने का निवेदन किया किंतु किसी अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित होकर वे बनारस से जाने को मजबूर हो गयी उन्होंने गांव को छोड़ दिया। दादी को एक प्रबल हार्दिक इच्छा थी कि वह काशी में रहकर अपने पोते को किसी महान विद्वान द्वारा शिक्षा दिलाये जिससे वह भविष्य में विद्वान व्यक्ति बन सके।

यह दृढ़ निश्चय किसी देवी का ही हो सकता है जो कि इतनी कठिन परिस्थितियों में असहाय पंडित अनोखे लाल मिश्र जी को अतिदयनीय परिस्थितियों में उनकी दादी संघर्ष करती हुई कर्तव्य परायणता पंडित जी को सोचने तथा ग्रहण करने की स्थिति में लाई। ऐसे ही होनहार व्यक्ति ईश्वर के प्रेरणा स्रोत बनकर साधारण जनमानस को शिक्षा देने आते हैं। उनकी प्रारंभिक अवस्था कठिन होती है। इन सभी परिस्थितियों के थपेड़ों ने पंडित अनोखे लाल मिश्र जी को धैर्यवान, सहनशील, कर्मठ एवं प्रखर बना दिया। बनारस घराने के प्रवर्तक पंडित राम सहाय जी के शिष्य पंडित भगवती जी जो कि तबले की विद्या के कोषाध्यक्ष के रूप में जाने जाते हैं उनके शिष्य आदरणीय पंडित भैरव प्रसाद मिश्र जी से पंडित अनोखे लाल जी ने तबले की शिक्षा प्राप्त की। पंडित जी की कठिन परिश्रम एवं दृढ़ निश्चय से किया गया रियाज इतना व्यवस्थित और अविस्मरणीय था कि आज तक उनको भुलाया नहीं जा सकता। पंडित अनोखेलाल मिश्र जी ने अत्यंत कलात्मकता के साथ नवीन्यपूर्ण रूप से, अपनी प्रतिभा और रियाज के बल पर जीवन भर अपनी कला को प्रभावात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। कुछ विद्वान कहते हैं कि जब एक दिन वे अपने कक्ष में बैठकर रियाज कर रहे थे तो रास्ते से एक व्यक्ति गुजर रहा था जिसके सिर पर भारी बोझा था उसे तबले या संगीत का कोई ज्ञान नहीं था लेकिन जब पंडित अनोखे लाल मिश्र जी का अतिद्रुत लय में खड़ी अंगुली का ना धिं धिं ना सुना तो वह घंटों उस बोझ को सिर पर लेकर खड़ा रहा और तबला सुनता रहा वह उस नाद शक्ति में इतना खो गया कि उसे पता ही नहीं चला कि वह बोझ लेकर खड़ा हैं। जब वह अतिद्रुत लय में ना धिं धिं ना बजाते थे तो लगता था कि 'स्वर' कायम हो गया, साक्षात स्वर दिखाई दे रहा हो। विद्वानो का कहना है कि पंडित जी का तबला बजता नहीं था बल्कि गाता था। वैसा ना धिं धिं ना आज तक किसी भी कलाकार ने नहीं बजाया है। पंडित जी की दिनचर्या केवल तबले के लिए ही समर्पित थी।

- सन् 1952 ई. में जब पंडित अनोखे लाल मिश्र जी ओमकार नाथ ठाकुर जी के नेतृत्व में अफगानिस्तान गये वहा पंडित के वादन से खुश होकर 'मौशिकी तबला नवाज' की उपाधि से शाह श्रीमान जहांगीर खां द्वारा उनको सम्मानित किया और बहुत सा धन भी दिया।
- 10, 11, 12, 13, 14, अप्रैल 1953 को कंस्टीट्यूशन क्लव में (नई दिल्ली) भारतीय केंद्र की ओर से कार्यक्रम आयोजित किया गया। उस कार्यक्रम में श्रेष्ठ कलाकारों को आमंत्रित किया गया। यह एक विशाल कार्यक्रम था। इस आयोजन की शुरुआत बनारस घराने की श्री गिरिजा देवी द्वारा हुई। इन्होने कौंशीकान्हड़ा में ख्याल तथा ठुमरी गायी और दिल्ली के रसिकों को आनंद की अनुभूति करायी। गिरजादेवी के साथ संगत पंडित अनोखे लाल मिश्र ने की, इस सधी हुई सुन्दर संगत और दूसरी ओर गोपाल नायक मिश्र जी की सारंगी संगत ने गायन को सुन्दर और मनमोहक बना दिया, जिससे गायन और भी निखर कर आया।
- पंडित रविशंकर (सितार वादक) और पंडित अनोखेलाल मिश्र जी दोनों की जोड़ी को देखने के लिये लोग लालायित हो रहे थे। रविशंकर जी ने मंच पर आकर राग खमाज की शुरुआत की और लगभग एक घंटे तक बजाया लोग एकांत होकर सुनते रहे पंडित अनोखे लाल मिश्र जी की ना

धिं धिं ना से सब ओर वाह वाह ! होने लगी महफ़िल में तालियों की गडगडाहट शांत ही नही हो रही थी।

- कलकलकत्ता के अखिल भारती संगीत सम्मेलन में आगरा घराने के उस्ताद अली खां के साथ पंडित अनोखे लाल जी ने तबले पर संगत की और पंडित गोपाल नायक जी ने सारंगी की संगत की जिसका उल्लेख संगीत पत्रिका में भी है।
- पंडित विनायक राव पटवर्धन के साथ पंडित अनोखे लाल मिश्र जी ने संगत की। विनायक राव जी तिल्लाना बहुत तैयारी के साथ गाते थे और जब वह तराना गायन पर आये तो अनोखे लाल जी तूफान हो गये साथ में हबीबुद्दीन खां साहब भी थे। वह रुक गये और पंडित जी ने लय को साधते हुये सफल संगत की।

पंडित अनोखे लाल मिश्र जी के शिष्यों में - इनके अनेक शिष्य हुए जिन्होंने भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य विदेशो में भी अद्वितीय तबला वादन से अत्यधिक ख्याति प्राप्त की हैं और अपनी अलग पहचान बनाई है। जैसे- पंडित राम जी मिश्र (पुत्र एवं शिष्य), स्वर्गीय पंडित महापुरुष मिश्र, स्वर्गीय पंडित छोटेलाल मिश्र, पंडित ईश्वरलाल मिश्र, पंडित काशी मिश्र, पंडित नागेश्वर प्रसाद मिश्र, (पांचू महाराज), रामसुमेर मिश्र, रमेश खगेनदास (आसाम) इत्यादि।

पं. अनोखे लाल मिश्र जी कुछ बंदिशें इस प्रकार हैं-

कायदा (तीनताल)

धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
X
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
2
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
0
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
3
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
X
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
2
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
0
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
3
ताऽतिर किटतक तिरतिर किटतक ।
X
तिरतिर तिरतिर तिरतिर किटतक ।
2
तिरतिर तिरतिर तिरतिर किटतक ।
0
तिरतिर तिरतिर तिरतिर किटतक ।
3
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
X
धिरधिर किटतक धिरधिर किटतक ।
2
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
0
धाऽतिर किटतक धिऽनाऽ किटतक ।
3
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
X
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
2
धिरधिर धिरधिर धिरधिर किटतक ।
0
धाऽतिर किटतक धिरधिर किटतक ।
3

बांट तीनताल

धीग	धीना	तिरकिट	धीना ।	धागे	नाधी	गती	नाड़ा ।
X				2			
तीक	तीना	तिरकिट	धीना ।	धागे	नाधी	गधी	नाड़ा ।
0				3			

बांट

धाड़	धाधे	तेटे	धाड़।	धाड़	धाति	नति	नाड़ ।
X				2			
ताड़	ताते	तेटे	धाड़।	धाड़	धाति	नति	नाड़ ।
0				3			

कायदा तीनताल

धाती	धागे	नाधा	तिरकिट ।	धाती	धागे	तिंना	किना ।
X				0			
धाती	धागे	नाधा	तिरकिट ।	धाती	धागे	तिंना	किना ।
2				3			

कायदा 2 तीनताल

धाते	टेधा	तेटे	धाधा ।	तेटे	धागे	तिंना	किना ।
X					0		
ताते	टेता	तेटे	धाधा ।	तेटे	धागे	तिंना	किना ।
2				3			

कायदा- तीनताल

धाऽतिरकिटतक	धेरधेरकिटतक	धेरधेरधेरधेर	धेरधेरकिटतक ।
X			
धेरधेरधेरधेर	धेरधेरकिटतक	धेरधेरऽधेर	धेरधेरकिटतक ।
2			
धाऽतिरकिटतक	धेरधेरकिटतक	धेरधेरधेरधेर	धेरधेरकिटतक ।
0			
धाऽतिरकिटतक	धेरधेरकिटतक	धाऽतिरकिटतक	तूऽनाऽकिटतक ।
3			
ताऽतिरकिटतक	तेरतेरकिटतक	तेरतेरतेरतेर	तेरतेरकिटतक ।
X			

तेरतेरतेरतेर	तेरतेरकिटतक	तेरतेरतेरतेर	तेरतेरकिटतक ।
2			
धाऽतिरकिटतक	धेरधेरकिटतक	धेरधेरधेरधेर	धेरधेरकिटतक ।
0			
धाऽतिरकिटतक	धेरधेरकिटतक	धाऽतिरकिटतक	धिंऽनाऽकिटतक ।
3			

कायदा- तीनताल

तिरकिटतक	धाऽऽऽधेरधेर	किटतकधाऽऽऽ	धेरधेरकिटतक ।
X			
धेरधेरऽऽधेर	धेरऽऽऽधेरधेर	धेरधेरकिटतक	तुऽनाऽकिटतक ।
2			
तेरतेरकिटतक	ताऽऽऽतेरतेर	किटतकताऽऽऽ	तेरतेरकिटतक ।
0			
धेरधेरऽऽधेर	धेरऽऽऽधेरधेर	धेरधेरकिटतक	धिंऽनाऽकिटतक ।
3			

निष्कर्ष- प्रस्तुत शोध पत्रिका के अंतर्गत तबले के बनारस घराने तथा बानरस घराने के महान कलाकार पंडित अनोखे लाल मिश्र जी के व्यक्तित्व को जानने के साथ- साथ उनके कृतित्व की भी जानकारी प्राप्त की गयी हैं और पंडित जी की घरानेदार बंदिशों को इस पत्रिका के माध्यम से जाना गया है अर्थात प्रस्तुत विषय में शोधार्थी का सार्थक प्रयास है कि वह तबले के बनारस घराने की खूबसूरती को जानने के साथ ही पंडित अनोखे लाल जी की बंदिशों को प्रयोग में भी लायें जिससे बनारस की परम्परा और बाज भविष्य में भी उज्जवलित हो सके ।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

- तबला विशारद, त्रिपाठी डा. शिवेंद्र प्रताप
- ना धिं धिं ना के जादूगर पंडित अनोखेलाल मिश्र
- तबले का उद्गम विकास एवं वादन शैलियाँ, शुक्ल, डॉ. योगमाया
- ताल- कोष, श्रीवास्तव, गिरीश चन्द्र
- तबला पुराण, मिश्र, पंडित विजय शंकर
- पखावज और तबला के घराने एवं परम्पराएँ, मिस्त्री डॉ. आबन ई.
- ताल वाद्य शास्त्र, मराठे, मनोहर भालचंद्र राव

Inclusion of Indian Classical Music in Human Resources Stress Management Programs

*** Saumitra Dixit** S.D. Sharma*** Veronica Kamara**

Abstract

Stress is a psychological problem faced by a large section of the employees. Incorporating Indian classical music in human resources stress management programs can be a game- changer for improving worker wellbeing. Indian classical music has long been linked to mental relaxation and inner serenity because of its structured ragas and rhythmic patterns. This music can be used into HR stress management programs to provide a distinctive, culturally rich approach to stress reduction at work. Managing stress at work is a big problem that affects worker productivity, health, and general job happiness. Excessive amounts of stress can result in burnout, absenteeism, and poor performance, which harms the workplace atmosphere. Employees are frequently overburdened by the fast-paced, demanding nature of modern work as well as the pressure to fulfil deadlines and expectations. Sometimes, conventional stress-reduction strategies like therapy and health initiatives fall short. In order to effectively address and reduce employee stress and build a healthier, more productive workforce, organisations must innovate by combining holistic techniques like mindfulness, physical activity, and even music therapy. This paper investigates about the problem of stress management and also provides the solution by the application of Indian classical music.

Keywords : *Psychological disorders, Indian classical music, Raagas, Depression, Stress management*

1. Introduction:

The "fight or flight" response that the body has to perceived dangers or challenges is a key component in the psychology of stress. Stress is a natural emotion, but if it lasts too long, it may be detrimental to one's physical and mental health. Anxiety, sadness, and cognitive impairments including memory loss and concentration issues can all be mentally brought on by stress. Among the factors are pressures from the environment, one's personal life, and the employment. Maintaining

* Maharishi University of Information Technology, HR Dept. Lucknow, Uttar Pradesh, India. 226013

** Maharishi University of Information Technology, HR Dept. Lucknow, Uttar Pradesh, India. 226013

*** University of Makeni, HR Dept. Azzolini Highway, Makeni, Sierra Leone, West Africa.

mental health and a healthy, all-around way of life depend on stress management since the way the brain interprets these stresses can amplify the reaction.

Reducing stress at work is essential to maintaining contented and productive staff. Effective strategies include offering employee assistance programs (EAPs), promoting work-life balance, and cultivating a happy workplace. Organisations may put regular stress-relieving programs into place, such mindfulness training, physical fitness routines, and access to mental health resources. If open communication is promoted and employees undergo time management and resilience training, they may be able to handle stress better. By proactively managing stress, organisations may reduce burnout, increase job satisfaction, and enhance overall performance—all of which will lead to a more engaged and motivated staff.

Due to the soothing and healing nature of Indian classical music, it is very helpful in lowering stress levels. Some ragas for instance, Raga Yaman and Raga Bageshree are especially soothing and help heal stress. The main rhythms and melodies of these ragas can also be very effective in lowering blood pressure, slowing the heartbeat and enhancing the practice of stillness. Adding these kinds of music in daily activities such as yoga or meditative practices makes people more efficient in managing stress. This strategy offers a broader, multicultural way of improving mental health and achieving peace within.

2. Literature Review:

In capitalism organizations are saturated with stress. This becomes a major issue for the HR management to deal with. Leonard I. Perlin (Leonard, 1989) studies the sociological effects of stress. Behavioural, Psychological and Physical manifestation of stress is accounted to observe its relation with the population. The analytical use of the subject's personal information provides with the degree of stress present in the social sphere. Lazarus Richard S. and DeLongis Anita (Lazarus & DeLongis, 1983) have examined the process aging and circumstances of living. It's been observed that style of stress measurement and coping is still ancient/primitive. Beliefs, values, history, commitments etc. are the essential factors related with the coping of stress. Longitudinally examination of subject's personal life is important in understanding the stress levels. Margarete Vollrath (Vollrath, 2001) has taken the transactional stress theory as her base for researching about the relationship that lies between the stress and personality. Stress producing mechanism, situational characteristics, situational choices and stress coping strategies should be understood

for dealing with an ill personality. Randall S. Schuler (Schuler, 1980) is writing about the stress present in the organizations. His writing reflects that proper research needs to be done in this area to understand the stress level of the employees. He quotes that individual's physiological, psychological, and behavioral patterns are to be studied for management of stress. Cary L. Cooper (Cooper, 1991) study proves that the industrial organizational life is so complex that its repercussions can be seen on employees psychological and physiological health. Heart diseases, ulcers, high blood pressure etc. can be seen in industrial workers, that forces them for early retirement. The performance level of the sick employees also undermines the objectives laid by the management. Shubham R. Upthade and Ar. Ankush Khandare (Upthade & Khandare, 2022) practice of Indian classical music includes the physical and psychological involvement. Music is a proven remedy for stress buster. Dieses like Alzheimer, Heart Attack, Introverted Ness, Anxiety etc. could be treated using the Indian ragas. Sushila Pareek and Divya Shekhawat (Pareek & Shekhawat, 2022) have conducted the experiment on twenty subjects. Ten subjects from intervention group were made to listen the Raag Ahir Bhairav along with the standard psychiatric treatment and the remaining ten were the part of the control group and were only given the standard psychiatric treatment. The final results of the experimentation stated that there is a significant decrease in anxiety, stress and depression level of the group following raga therapy. Nandakishor Mutalik Desai, Sanjay HS, Dattatreya Mutalik Desai, Kirthana Kunikullaya et al. (Desai, et al., 2021) discussed about the nature of raagas, the season and time of day in which they should be practiced. The positive effect of raagas can be witnessed over the Vaatha, Kapha and Pittha of the human autonomy. Darbari Kannada Raag was successfully experimented as a medium of stress reduction. Charu Bansal Charu, Umesh Shukla and Saleha Zainab (Shukla & Zainab, 2020) in their work they quote that as per World Health Organization the stress level is inclining at the work places. In classical music tradition Ragas are considered crucial elements as they have the ability to influence the electromagnetic field of the body and potentially aid, in managing various ailments according to several studies conducted in this field Ragas have been shown to enhance alpha brain waves facilitating mental clarity and promoting both physical and mental wellbeing. Vd. Kusum Malik and Vd. Brijesh R. Mishra (Malik & Mishra, 2019) As genuine medical conditions are involved in health challenges; mere lifestyle adjustments may not

suffice to address them adequately... You can experience enhanced and more significant changes in your treatment options when you combine them with a healthy lifestyle regimen. Ayurvedic literature also emphasizes the belief that music can play a role in mental health treatment. Music holds a place, in Ayurvedic traditions. Throughout the years several renowned Indian classical music composers have explored the realm of music therapy. Legend has it that Maestro Thyagarajas classical compositions had the power to bring an individual back, to life.

3. Methodology:

This research paper is grounded in a mixed-methods approach, incorporating both primary and secondary data. Primary data was collected through systematic observation, which was further triangulated with in-depth interviews to facilitate a nuanced understanding of the phenomenon under study. This methodology was deliberately chosen to ensure the objectivity and reliability of the data, minimizing the potential for personal biases and opinions to influence the findings.

4. Psychological Theories on Stress:

4.1 Hans Selye: General Adaptation Syndrome (GAS): The General Adaptation Syndrome theory was developed by Hans Selye, also known as the "father of stress research" for a good reason. GAS focuses on the bodily response to stress. Selye, whose works first spanned the early 1930s, indeed planted the seeds of the contemporary understanding about the relationship between stress and one's health. The body responds to stress in three stages, according to Selye:

i. Alarm Stage:

The body responds to a stressor in this way which is reminiscent of the fight or flight response. This phase results in the increase of heart rate, blood pressure, and energy levels as the body activates and releases stress chemicals like cortisol or adrenaline. The body undergoes these changes in order to ready itself for the threat or leave it.

ii. Resistance Stage:

If the stressor is prolonged, the body undergoes the process of having a resistance phase whereby the body tries to cope with the stressor. Subsequent le after the initial alarm in the body, the body tries to restore its normal balance which is referred to as the homeostasis. Stress hormones are still high as the body uses energy to deal with stress into this stage. Despite the gradual reduction of body reserves at this stage, the body can still endure the initial stressor.

iii. Exhaustion Stage:

If the stressor exists, then the body

enters a Phase of Resistance wherein the body tries to accommodate the chronic stress. After the intro of an alarm reaction, the body's actions to restore homeostasis is initiated with the goal of restoring long-lasting balance. However, stress hormones do stick around because the body keeps on using energy in stress response resolution. Although, the body reserves are declining at this stage the body can still endure the initial stressor.

Key Contributions:

Selye also provided hypothesis that stress response is universal which stated that the body's reaction is always the same no matter the form of stress. His research focused on such health risks of stress showing that it becomes very important that stress is well managed. Selye's work laid down the basis of modern-day stress research, and has influenced the management of work place, psychology and medicine. It is now a core reference database for the physical and psychological effect of stress.

4.2 Richard Lazarus: Transactional Theory of Stress and Coping:

Richard Lazarus's Transactional Theory of Stress and Coping that emerged in the 1960s and 1970 was a significant shift in the way that scholars understood stress, in that it focus on the fluid interaction of individuals and their surroundings. Whereas stress is usually defined in its physiological manifestations, the Lazarus's theory focuses on how individuals psychologically process stressors.

i. Primary Appraisal: This is the first stage of the stress reaction where a person decides whether a given situation is stressful, unimportant or benign-positive. That is if a situation is determined to be stressful, then it goes through a risk appraisal, that evaluates it as danger (probable future threat), a threat (something undesirable but can be overcome with the possibility of gain), and/or a loss (something that has actually occurred/unfavorable event).

ii. Secondary Appraisal: When a person experiences a stressor, he or she appraises the load that the event is likely to bring. This includes estimating whether they can regulate or change the condition by rating the accessible resources (consoling strategies and companionship). The learning evaluation also determines the state of the emotional outcome as well as the coping mechanisms adopted.

iii. Coping Mechanisms: Lazarus distinguished two primary categories of coping mechanisms:

iii.a. Problem-focused coping: Here the person is required to come up with a conscious attempt to

change the situation or downplay on the stressor. It is used when people feel that they have control over the stressor.

iii.b. Emotion-focused coping: Rather, when an individual tries to change the perceived stressful situation, uses relaxation methods, or looks for someone to talk to, then he or she is said to be using emotion-focused coping. It enshries directing the emotions that one has towards the stressor. This is common with people who have a perception that they cannot in any way influence the stressor.

5. Indian Classical Music for Mental Health:

Indian classical music has been employed since ancient times in most contexts and one specific use incorporate increasing overall and mental health. Although the frameworks of melodies, known as ragas, in the classical music of the Indian subcontinent are believed to possess certain psychological and emotional associations. Many people use these ragas to support mental health:Jenna Ortega shows that she can dramatically transform her appearance in just a few minutes in this episode of limbering.

i. Raga Yaman

Effect: The effects of the colour also act as a way of encouraging people to be calm and to find ways of achieving a peaceful state.

Description: One of the ragas which is sung in evening is known as Raga Yaman and this raga has more to do with relaxation. It is usually used for increasing the well-being, reducing stress and moderate the anxiety in one's mind.

ii. Raga Bageshree

Effect: Relaxes the muscles and brings down tension.

Description: Raga Bageshree is generally performed in the night and it's a kind of raga, which can make a listener feel devotion and feeling of peacefulness. Insomnia and anxiety are some of the conditions people are advised to take the medication mostly.

iii. Raga Darbari Kanada

Effect: Strengthens the emotional sphere and decreasing the level of stress.

Description: Raga Darbari Kanada which is played mostly at night is a grave raga and very sad in appeal. It is particularly used in the music therapy to reduce tension and bring in the experience of emotional harmony.

iv. Raga Bhimpalasi

Effect: Reduces frustration and anxiety.

Description: Sung at the Pure quarters, Raga Bhimpalasi is suited for the late afternoon and is said to help in controlling anxiety as it reduces restlessness, therefore individuals

suffering from high levels of stressed and irritability can opt to listen to Raga Bhimpalasi.

v. Raga Kafi

Effect: Aids in resolution of anger, sorrow and other forms of emotions.

Description: Raga Kafi – soothes, melancholi and sad. It is in this case utilised in a effort to console and soothe the spirit during the hard times.

6. Therapeutic Use of Indian Classical Ragas:

The use of Ragas is practiced in Indian classical music therapy to bring about emotional and mental wellness, achieved via certain melodic contours. Ragas are melodic modes in Indian classical music formed by a set of notes, and these notes are believed to have moods of emotion. Therefore, the identified performance purpose in music for such a raga is a powerful tool when it comes to managing mental and emotional health. The ancient belief that human psychology is profoundly affected by sound and music gave birth to the practice of raga therapy. Musicians play Yaman and Bageshree to help ward off tension and anxiety because these raga melodies are internationally recognized as tranquilizing. These slow the heart rate and lower blood pressure, effects that are always beneficial in the management of everyday stress. They also hasten one's sense of relaxation. Similarly, ragas like Bhimpalasi and Kafi are used to address emotional imbalances such as grief or frustration, providing comfort and emotional healing.

Apart from emotional regulation, some ragas help increase cognition. For instance, Hamsadhwani and Shankarabharanam enhance concentration and attention, hence being effective in meditation and studies. Other ragas, for example Nilambari and Malkauns, help fall asleep and are used as anti-insomnia remedies: slow and calming, they regulate the pattern of sleep. Raga Therapy goes as far as treating the physical; ragas like Ananda Bhairavi help tone down pain and hypertension due to the profound connection between sound and physiological responses of the body.

It may be in the form of live performance or recorded session or interactive, the holistic approach to health through the therapeutic use of Ragas, integrating with the modern wellness practice of ancient musical tradition. The therapy helps one to come out of the psychological and emotional challenges and assists in finding inner peace and balance that later reflects a good quality life.

7. Conclusion:

Organizations can promote wellbeing in the workplace by employing Indian classical music as a stress-reduction method to develop inventive, and culturally rich human resource

management practices. Their use of Indian classical music is founded upon the idea that Indian classical music can have an effect on feelings and states of mind. Due to the complexity of ragas, rhythms, and employment of Indian classical music as a stress relief solution leads to ease and relieves stress. Utilizing Indian classical music as a musical practice in wellness programs for corporates and organizations can tremendously assist HR departments in addressing the growing stress in our workplace, which in turn leads to burnout, lower productivity and decreased job satisfaction.

Organizations can foster wellbeing in the workplace by leveraging Indian classical music as a tool for developing inventive, culturally rich HR practices as a method of stress reduction. Their use of Indian classical music on wellbeing programs is premised on these assumptions that Indian classical music can modify feelings and states of mind. The interdisciplinary nature of ragas, rhythms, and using Indian classical music as a stress relief solution creates ease and relieves stress. Engaging in Indian classical specific musical practice in wellness programs for the corporate sector or organizations can significantly help HR departments contend with the rising tide of workplace stress, which leads to burnout, lower productivity, and decreased job satisfaction.

It has also been suggested that using Indian classical music as part of HR stress management programs can improve emotional well-being and enhance employee morale. Not only can this method help employees manage stress, it can also be utilized to foster positive organizational culture by valuing and lecturing cultural diversityism. In addition, bringing music that stems from their cultural background, can provide employees with a sense of belonging to cultural heritage, especially as workplaces become more culturally diverse.

Incorporating Indian classical music into HRM's stress management approach offers a well- rounded and culture-laden method for improving employee well-being, leading to a more engaged, better producing, and harmonious workplace. Using this new approach, organizations can address the increasingly complex nature of stress in the workplace, while providing a better work-life balance for employees in a healthier way.

Conflict of Interest

The authors declare no conflict of interest.

Data Availability

The data that support the findings of this study are available within the article.

Ethics Approval Statement

The authors declare no ethical conflicts of interest regarding the

publication of this paper.

Author's Contribution

Saumitra Dixit: Conceptualization, Writing original draft, Data Collection, Formal analysis, Visualization, Methodology. S.D. Sharma: Validation and Editing. Veronica Kamara: Supervision, Validation, Writing review and Editing.

References

1. Pearlin, Leonard I. (1989). The sociological study of stress. Journal of health and social behavior. pp. 241-256. Doi: https://doi.org/10.2307/2136956
2. Lazarus, R. S. and DeLongis, A. (1983). Psychological stress and coping in aging. American Psychologist. Vol. 38(3), pp. 245–254. Doi: https://doi.org/10.1037/0003- 066X.38.3.245
3. Vollrath, Margarete (2001). Personality and stress. Scandinavian Journal of Psychology. Vol. 42(4), pp. 335-347. Doi: https://doi.org/10.1111/1467-9450.00245
4. Schuler, Randall S. (1980). Definition and conceptualization of stress in organizations. Organizational Behavior and Human Performance. Vol. 25(2), pp.184-215. Doi: https://doi.org/10.1016/0030-5073(80)90063-X
5. Cooper, Cary L. (1991). Stress in organizations. Analyzing Organizational Behaviour. Pp. 127-153. Doi: https://link.springer.com/chapter/10.1007/978-1-349-21542-3_7
6. Upthade, Shubham R., and Ar Ankush Khandare (2022). Classical music as a stress relifing therapy. International Journal of Engineering Applied Sciences and Technology. Vol. 6(12), pp. 302-305. Available at: https://ijeast.com/papers/302305,%20Tesma612,IJEAST.pdf
7. Pareek, Sushila, and Divya Shekhawat (2022). A Pilot Study of Therapeutic Effects of Indian Classical Raga on Depression, Anxiety and Stress among Adults. Indian Journal of Positive Psychology. Vol. 13(3), pp. 212-215. Available at: https://www.proquest. com/openview/105 e4371ec51072a 24b82ace79756a80/1?pq-origsite=gscholar&cbl=2032133
8. Desai, N. M., Sanjay, H. S., Desai, D. M., Kunikullaya, K., and Sinha, A. K. (2021). An Overview of the Indian system of Raagas and their Positive Effects on Health. Journal of Drugs Addiction & Therapeutics. SRC/JDAT-112, Vol. 3, pp. 3-6. Available at: https://www.onlinescientificresearch.com/articles/an-overview-of-the-indian-system-of-raagas-and-their-positive-effects-on-health.pdf
9. Charu, Charu Bansal, Umesh Shukla, and Saleha Zainab (2020). Preventive and promotive aspect of music therapy in management of job stress with special reference to nursing profession. International Journal of Ayurveda and Pharma Research. Pp. 50-54. Doi: https://doi.org/10.47070/ijapr.v8i2.1363
10. Malik, Vd Kusum, and Vd Brijesh R. Mishra (2019). Music-A remedy in Psychological Disorders (Manas Vikara). Journal of Ayurveda and Integrated Medical Sciences. Vol. 4(06), pp. 131-140. Doi: https://doi.org/10.21760/jaims.v4i06.775

The Role and Significance of Music in Early Childhood Years

Anshu Shukla

Abstract

Music is a remarkable discipline whose significance extends far beyond the common perception that it is merely a source of entertainment. In reality, the value and advantages of music go well beyond its recreational purpose. Often referred to as the universal language of the soul, music possesses the ability to convey profound messages that ordinary words or other subjects cannot. Its influence on early childhood education, particularly in the social, psychological, and spiritual development of children, is far more substantial than can be articulated through simple language. Regrettably, many parents and early childhood educators remain unaware of this, leading to challenges in these critical areas. This paper aims to illuminate this unfortunate reality by examining the role of music in the social, moral, and spiritual development of children during their formative years.

KEY WORDS: *Music, Early Childhood Education, Psychological Development, Social Development,*

Music serves as a fundamental and vital element in the growth and development of young children. Those who have engaged with young children recognize their enthusiasm for music and their ability to participate in musical activities at various levels. Indeed, early exposure to music has a positive influence on numerous aspects of children's lives (Esimone, 2012:1).

The influence of music in children's lives is significant, shaping their perspectives and contributing to their social, psychological, and spiritual well-being. However, many individuals—including parents, early childhood educators, and the general public—often view music merely as a form of entertainment. This limited perception has hindered the potential of music to support children's development in these critical areas. The intention of this paper is to highlight the vital role that music can play in fostering the growth of these aspects of children's lives. Music is an essential and inherent component of the growth and development of young children. Those

Associate Professor,VKM, Kamachha, Varanasi

who have experience working with this age group understand that children have a natural affinity for music and can participate in musical activities at various levels. Research indicates that early musical engagement has a beneficial impact on multiple facets of children's lives (Esimone, 2012:1).

One might wonder, what exactly is music? The term encompasses a variety of definitions. Blacking (1973) characterized it as "an organized sound that pleases the ear" (p. 57). Similarly, Agu (2006) referred to it as "an aesthetic art of combining or putting together sounds that are pleasant to the ear" (p. 1). Thus, music manifests in various forms and is influenced by cultural contexts, whether Western or African. According to Ekong (2008), it serves as a universal language of expression, conceived and practiced by humans to convey emotions, culture, feelings, ideas, and events (p. 17).

Ekong (2008:17) further emphasizes that "Music serves as a vital force that enriches societal life and shapes cultural identity. Across the globe, individuals cherish music as an integral component of their cultural heritage. The journey of music begins within the home and is sustained by the broader community. Historically, this transmission occurred through oral traditions, with individuals absorbing musical culture by observing, imitating, and engaging in musical activities. In today's world, advancements in technology have made music accessible to everyone, reaching every household." (p. 17).

The statement above inspired Ekpo (2008) to articulate the following:

A child's musical heritage primarily originates from their parents, relatives, and the surrounding community. Numerous children cultivate an interest in music prior to starting elementary school. Their parents often introduce them to lullabies, evening songs, playful tunes, fundamental dance steps, marches, and playing instruments. These pre-elementary activities significantly contribute to the development of children's sensitivity to rhythm, phrasing, and pitch (p. 30).The child's first music lessons come from his mother. Immediately after birth, the child is placed on her back as she goes about her daily tasks. While she attends to her chores, such as washing clothes in the river and pounding cassava to a rhythmic beat, she also dances and sings. These experiences help the child learn about the physical movements and vocal expressions that music requires (p. 30).

The statement above clearly demonstrates that music is both a cultural and universal phenomenon. It resonates with everyone and is significant in all areas of life, highlighting its essential role in a child's development, which cannot be overstated. Among the many

wonderful experiences in life, few can compare to the musical memories of childhood. Our earliest memories are often filled with melodies: soothing lullabies sung by a parent, playful nursery rhymes, the vibrant sounds of marching bands, seasonal songs shared during family gatherings, and the rhythmic chants of games played with friends. Music has always been an integral part of our childhood experiences, just as it remains for children today (Campbell & Kassner 2010). Clearly, music occupies a crucial place in the lives of all individuals and impacts various aspects of life, serving as a source of inspiration in many pursuits.

Education is an essential aspect of life that should not be ignored, as it occurs both consciously and unconsciously throughout our existence. For children, learning is a continuous process; they gain knowledge through observation, imitation, and practice. In the context of musical education, the importance of education is paramount, whether it happens in the supportive environment of a parent, sibling, or caregiver, or within the structured framework of a formal educational institution. It is clear that learning cannot be acknowledged without the influence of education. As a result, education has been defined in various ways. Brembeck (1971) suggests that "education is a device by which men and women take what others before them have learnt to the next generation" (p.287). Akande (2002) asserts that "it is the cornerstone of any nation that contributes to its development" (p. 26). Akinbote (2008) highlights that "it is a process by which the community seeks to open its life to all the individuals within it to enable them to take their part in it" (p. 8).

Education acts as a means of acculturation, helping individuals realize their potential and achieve self-fulfillment through rational development (Okafor 1992). Onuoraoguno (2009) agrees with Okafor, stating that "education has been portrayed by many sociologists and educationists as an experience that relates to the people's culture, and which through learning prepares an individual for adult life in his particular society" (p. 73).

All these definitions point to a common truth: the acquisition of skills, regardless of their purpose, is fundamentally rooted in learning, which is derived from education. In early childhood education, music education plays a crucial role, enhancing the understanding and benefits of music in a child's overall development. Therefore, Nketia, as referenced in Ajewole (2010), concludes that education was not solely focused on music; instead, music served as a foundational element for educating community members. It functions as a tool for

imparting the norms and values of society, helping individuals to be recognized as valuable contributors to their community (p. 17).

The Role and Significance of Music in-

- Early Childhood Education:
  Children exhibit a remarkable affinity for music as they explore and express their understanding of the world around them. Naturally and instinctively, young ones engage with music as a form of communication. It plays a crucial role in their enculturation process. Through music, they grow within their families, local communities, and various religious and ethnic affiliations. Children acquire a musical framework—encompassing tuning, timbres, dominant pitches, rhythmic patterns, textures, and formal structures—just as they assimilate other cultural elements from their families and communities. Music serves as a vital medium for their socialization, establishing a strong foundation in their initial musical experiences during early childhood (Campbell & Kassner 2010).
  Music is as important as life itself, as it enhances and nurtures key qualities that allow individuals to connect with their environment. The capacity to create music is a fundamental life skill, closely linked to human emotions, moods, feelings, attitudes, and viewpoints. Therefore, it is crucial for children to fully benefit from music, especially in their social, psychological, and spiritual growth. This section will explore these aspects in depth.
- Social Development:
  Social life is regarded as a facet of existence that encompasses interactions with individuals from various backgrounds. It reflects an individual's capacity to engage and connect comfortably with those who differ from their original environment. Social life is intrinsically linked to self-esteem and self-expression. Children are typically known to form attachments to their family members, often finding it challenging to interact with peers they have not previously encountered. Consequently, many exhibit shyness in unfamiliar settings.

This scenario frequently complicates the process of enrolling a child in kindergarten or pre-primary institutions, as well as in playgrounds where other children congregate. It is common for a child to require two to three attempts before they can comfortably adjust and engage with their peers. Often, parents or guardians must remain present initially, only to discreetly withdraw when the child becomes engrossed

in observing the teacher or other children, leading to distress upon realizing their companion's absence. This presents a significant challenge, largely stemming from a lack of awareness regarding the positive influence of music on children's social interactions.

However, one can observe a child's response in a musical setting, particularly within a school context. Initially, the child may observe their surroundings and the participation of others; soon after, they are likely to join in and engage with the ongoing activities. Not only does the child participate, but they also forge friendships with their peers in that moment. This phenomenon occurs whether the activity lasts for an hour or longer, often resulting in the formation of strong, lasting friendships, particularly when music is involved. Such interactions are not limited to educational settings or playgrounds; they also occur during birthday celebrations and other child-focused events. Frequently, children express a desire for their parents or guardians to leave them behind, solely due to the presence of music.

The researcher has observed this phenomenon multiple times, leading her to conclude that the value of music extends beyond mere entertainment; it plays a significant role in enhancing the social development of children during early childhood. In support of this, Onyiuke (2006) stated: Music possesses the potential to be one of the most significant subjects for fostering human personality, achieved through active engagement in inquiry-based techniques and creative methods for learners (p. 57). It is clear that music enhances children's capacity to form connections with individuals beyond their parents. As noted by Esimone (2012):Children learn to share and collaborate with those around them, engage positively with peers, and exhibit greater self-control. Consequently, participating in singing and playing together diminishes selfish tendencies. Furthermore, these shared musical experiences aid children in navigating the emotional highs and lows that arise during play and interaction with their peers. At times, they experience joy and excitement; at other moments, they may encounter misunderstandings and conflicts. The ways in which they process these feelings and manage their emotions are crucial aspects of their social growth and development, and music undoubtedly facilitates this process (p. 57).

When children participate in play and singing activities together, they tend to form strong connections with one another. This interaction naturally cultivates a sense of belonging within their group. Such unity in their activities helps to eliminate negative behaviors like discrimination, disrespect, and taking each other for granted, fostering instead positive

traits such as love, tolerance, and respect. These qualities are crucial for individuals to navigate society effectively, enabling them to uphold the dignity of others, irrespective of their color, race, or ethnicity. Music serves as a powerful tool for instilling these values early in life. The role of caregivers, teachers, and parents is instrumental in fostering these social bonds. As highlighted by Esimone (2012), it is evident that these adults support the development of social relationships by promoting collaborative play and singing among children, regardless of their backgrounds or challenges, in various environments such as home, parks, and schools.

It is remarkable to observe the transformative effect that singing has on a distressed, hungry, or unhappy child. The simple act of singing can effectively soothe the child's emotional turmoil, which often resurfaces once the music ceases. This illustrates the profound influence of music in early childhood education.

- Psychological Development:

  The role of music in the psychological development of children is a crucial element that is often overlooked by both parents and educators during early childhood, primarily due to a lack of awareness. According to the Oxford Advanced Learner's Dictionary (2006), psychology is defined as "the scientific study of the mind and how it affects behaviour" (p. 941). This definition suggests that mental states can significantly influence behavioral outcomes. A child experiencing mental dullness is unlikely to feel happiness or perceive their life as valuable, particularly when they feel different from their peers in a school setting.

Moreover, many children may appear less intelligent compared to their siblings and friends, often facing derogatory labels such as "block-head" or "never-do-well," leading to feelings of inferiority. Such experiences can create a perception of being unloved, unimportant, and worthless. Additionally, children with certain conditions that render them socially unacceptable, through no fault of their own, may struggle with psychological adjustment. This mental state not only impacts their psychological well-being but also hinders overall development. These challenges could be mitigated if parents, caregivers, and society at large recognized the transformative power of music.

As Parlakian & Lerner (2010), rightly said:

> Music has power and meaning that go beyond words. First and most important, sharing music with young children is simply one more way to give love and receive love. Like all the best learning

experiences in early childhood, music activities simultaneously promote development in multiple domains. Singing a lullaby while rocking a baby stimulates early language development, promotes attachment, and supports an infant's growing spatial awareness as the child experiences her body moving in space" (p. 1).

Music serves as a powerful source of motivation and can create a soothing and tranquil atmosphere for both listeners and participants. Engaging in music-related activities that focus on success enhances children's self-esteem and stimulates their sensory development. Parents should take every opportunity to sing lullabies at home, while also encouraging children to engage in musical activities such as singing, dancing, and playing instruments with peers and educators. This involvement significantly boosts children's self-worth and can lead to substantial improvements in their emotional well-being. Therefore, it is essential for every child to have the chance to listen to and actively participate in music-making, as well as to explore playing any musical instrument they prefer, as this can serve as a remedy for psychological challenges.

- **Spiritual Development:** Spirituality is one aspect of life that is very important in every individual's life. This life is all about God and man hence the importance of being conscious and connected to God in life can never be over emphasized. Every soul needs God, and the knowledge of God should start very early in life. The Holy Bible made it clear when it says: "the fear of God is the beginning of wisdom, through it, men depart from evil" (Prov. 9:10). The same Holy Book declared: "Remember now thy Creator when the evil days have not come, nor the years gone far, when thou shall say, I have no pleasure in them" (Ecclesiastes 12:1).

The introduction of God and His knowledge should commence early in a child's life. While many families resist this concept and oppose its inclusion in educational curricula, they often embrace it in the context of music. Leader & Hynie (1958) noted that "the teaching of religion in the schools possesses controversy and sectarianism, but music transcends these barriers, and goes to their very heart" (p. 26). This observation led Plato to assert, "Great music is that which penetrates the ear with facility and leaves the memory with difficulty. Magical music never leaves the memory. A song will outlive all sermon in the memory."

Music plays a crucial role in connecting children with God from an early age; it serves as a gateway to understanding their creator and fosters a sense of divine awareness

as they mature. This awareness aids them in making wise choices between good and evil and influences their future career paths and vocations. Coles (1990), after dedicating thirty years to researching children's spirituality across the United States and globally, encountered numerous children whose spiritual development was nurtured in homes, temples, churches, synagogues, and mosques. He found that even in the absence of formal religious practices, children are often inspired to explore their spirituality through music. During his interactions with students, he facilitated meaningful discussions and emotional debates about spirituality, capturing the sentiments of one inner-city child who expressed his connection to God through the act of singing prayers.

CONCLUSION:

Music undeniably serves as a powerful outlet for children's self-expression. With a foundation of security in their basic needs, the focus shifts to infusing life with meaning and striving for personal growth. It is essential for individuals to connect with their emotions and identity at various points in their lives. Engaging in self-expression through music, particularly singing, fosters self-esteem in children. Participation in musical activities equips them with the skills to face fears and embrace challenges. Experiencing a degree of anxiety is natural and beneficial, as it prepares them for future situations. Addressing these feelings early on helps mitigate their impact later in life. Embracing risks is crucial for a child's overall development and potential. Clearly, music education offers children unique opportunities for growth and self-discovery (Esimone, 2007).

References:

Ajewole, J. O. (2010). The role of music teacher education in the achievement of universal basic education (UBE). Awka Journal of Research in Music and The Arts. ARRMA. 7: 14 - 21

Akande, F. F. (2002). Teacher education and national development in the 21st century: Challenges and strategies for improvement. Ilorin Journal of Teacher Education. 1: 2-35

Akinbote, O. (2008). Universal basic education in Nigeria: prospects and problem. A Lead paper presented at the 3rd National Conference, School of Education, Federal College of Education, Osiele, Abeokuta [15th August 2000]

Agu, D. C. C. (2006). The Nigerian Policy on Education: Its impact on music education programme and delivery in Nigeria. Awka Journal of research in music and the arts (AJRMA). 3: 1-8.

Blacking, J. (1973). How Musical is Man? London: Faber & Faber.

Brembeck, C. (1971). Social Foundations of Education. New York: John Woly & Sons.

Campbell, P. S. & Kassner, C. S. (2010). Music in childhood: from preschool through the Elementary grades. Boston: Schimer; Coles, R. (1990). The Spiritual Life of Children. Boston: Houghton Mifflin.

Ekong, G. E. (2008). Recreating music for self-reliance and patriotism. Awka Journal of Research in Music and the Arts. 5, 16-25

Ekpo, I. S. (2008). Parental factor in early musical exposure as a prerequisite for

Ideal musical development of the child: Nigeria's experience. Awka Journal of Research in Music and the Arts (AJRMA), 5, 26-34

Elliot, D. J. (1995). Music matters: a new philosophy of music education. New York: Oxford Uninversity Press.

Esimone, C. C. (2007). Music education and social identity: A study of selected Secondary schools in Enugu State. A Master's desertation presented at the University of Nigeria, Nsukka.

Esimone, C. C. (2012) Music in early childhood education: a study of selected pre-primary schools in Anambra State, Nigeria. A Ph.D. thesis presented at the Nnamdi Azikiwe University, Awka.

Leader, J. A. & Haynie, W. S. (1958). Music Education in the High School. Englewood, NJ: Pretence Hall. Okafor, R.C. (1992). Concepts of functional education. Owerri: Totan Publishers Ltd.

Okafor, R. C. (2005). Music in Nigerian society. Enugu: New Generation.

Onuora-Oguno, N. C. (2009). Expanding the frontiers of music education in Igbo-land in the 21st century using minstrelsy as a tool. Awka Journal of Research in Music and the Arts (AJRMA), 6, 70 - 75

Onyiuke, Y. S. (2006). Music pedagogy as implement for all round development of primary school children in Nigeria. INTERLINK: A Journal of Research in Music. 3,56-63.

Parlakian, R. & Lerner, C. (2010). Beyond Twinkle, Twinkle: Using music with infants and toddlers. http://:www.naeyc.org/yc/permissions

Promoting Ecotourism in Sustainable Development in Jashpur District of Chhattisgarh : An Analysis

Augustin Xaxa [1], Dr. Anju Tiwari [2]

Abstract:

Ecotourism is a relatively new phenomenon within the travel and tourism sector. A subsector of the tourist business is one of the most rapidly expanding subsectors. Ecotourism encompasses any type of tourism that focuses on nature, minimizes its environmental effect, engages local communities in its planning and execution, and prioritizes the educational value for tourists. Ecotourism distinguishes itself from other types of tourism by its reliance on the conservation of natural ecosystems. In order to shed light on the enormous potential of ecotourism in India, this article will investigate a few of the most well-known ecotourism areas in the country. Environmental tourism has been a significant source of income for various countries in recent years. Ecotourism has the capacity to stimulate economic development and preserve the environment in economically challenged countries. In order to shed light on the enormous potential of ecotourism in India, this article will investigate a few of the most well-known ecotourism areas in the country. Furthermore, the ongoing research examines the expansion of ecotourism as a catalyst for economic progress, while also exploring its potential as a means to reconcile environmental considerations with sustainable development. This document also includes an analysis of the nation's attempts in order to encourage environmentally conscious tourism to be a way to tackle existing concerns about the environment, together with the discoveries of several studies, studies conducted on the country's most famous ecological sites.

KEYWORDS: *Sustainability, ecosystems, environmentally conscious tourism, ecotourism, Tribal Tourism, Biodiversity, Jashpur Tourism*

1. INTRODUCTION:

Amidst the hustle and bustle of contemporary city living, the significance of greenery in urban environments becomes all the more apparent as public spaces are often overlooked. This matter highlights the importance of incorporating green spaces into urban planning to ensure ecological equilibrium, improve

1 Research Scholar (History), Dr. C.V. Raman University, Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)

2 Associate Professor (History) Dr. C.V. Raman University, Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G.)

visual attractiveness, and offer social advantages. The task is made more difficult by the increase in population and its significant effect on the well-being of the environment, leading to a vicious cycle of poverty and ecological decline, especially in less developed countries. These quality-of-life challenges pose obstacles to sustainable development. Enhancing the quality of life and fostering convenient living are crucial for sustainable social progress and global well-being.

The emergence of ecotourism brings about fresh challenges, as we navigate the delicate balance between promoting the preservation of natural resources and avoiding their overexploitation. Conservationists highlight the importance of sustainable resource utilisation, while some emerging countries demonstrate a lack of dedication to addressing global warming and minimising corporate carbon footprints. With the increasing population and limited resources, it is crucial to minimise disturbance at natural and cultural landmarks to accommodate the growing number of tourists. Ecotourism fosters a profound bond with the natural world, enriching the experiences of tourists and nurturing their dedication to conservation. Nature provides a sanctuary from the stresses of city life, influenced by population movements, shifts in climate, and advancements in technology. Sustainable tourism is a holistic approach that considers the well-being of future generations, the preservation of natural environments, the protection of local communities, and the safeguarding of cultural heritage. It aims to balance the needs of travellers with the responsibility towards the environment and society.

Ecotourism goes beyond ordinary travel by promoting environmental awareness and personal development. Its goal is to combat poverty by engaging communities and protecting natural and cultural resources. India's diverse landscapes offer exceptional opportunities for the development of ecotourism. This study explores the advantages and difficulties of advocating for ecotourism as a strategy for sustainable development in Jashpur District, Chhattisgarh.

2. How Ecotourism's economic impact advances Sustainable Tourism

Ecotourism is widely recognized as a catalyst for locally and nationally growth in the economy. The ecotourism industry is a rapidly expanding sector of the hospitality sector that yields several beneficial outcomes. These include the generation of employment opportunities, the enhancement of local job prospects, the facilitation of new investments, and the promotion of foreign exchange. Reports from the Pacific Islands of Costa Rica and

the African nation of South Africa offer convincing illustrations of the economic benefits of ecotourism. Costa Rica has experienced a significant boost in revenue, surpassing even the renowned tourist destination of France, thanks to the success of ecotourism. There is compelling evidence that ecotourism has proven to be a valuable tool in addressing poverty. A noteworthy example of this can be seen in South Africa, where local communities have reported significant increases in their incomes as a direct result of their involvement in the ecotourism industry. A recent case study conducted in two provinces in China revealed that ecotourism plays a significant role in promoting regional economic stability. It has a positive impact in several areas, including value addition, revenue generation, output, and employment creation. The implementation strategy employed in ecotourism may be accountable for the divergent result. The research findings found in the ecological tourism literature indicates that regional households have the potential to benefit from the substantial money created by ecotourism in the region The local community relies mostly on ecotourism as their primary means of income, replacing traditional livelihoods such as hunting, farming, and raising livestock. The given case studies clearly demonstrate that environmentally conscious tourism has the capacity to make a substantial contribution to the nation's economic expansion and provide job prospects.

3. Examining the development of environmentally friendly tourism in India

India's natural landscapes, including waterfalls, waterways, mountainous regions, and diverse temperature and flora, make it an attractive destination for both local and foreign travelers. Implementing initiatives to enhance the country's eco-tourism infrastructure can generate fresh employment opportunities and boost economic growth. However, Indian tourism numbers will continue to be disappointing as locals fail to recognize the value of their offerings. Addressing misconceptions through cultural and educational means is crucial.

Another challenge involves persuading people to recognize the significance of their local natural, ethnic, and cultural assets. Putting first environmentally conscious tourism and environmentally friendly development is vital to minimize the destruction of mankind's ecological assets resulting from littering, pollution, and undesirable disruptions to historic places. Implementing accommodation and artistic outlets for local inhabitants, providing educational initiatives, and actively safeguarding the environment, society's cultural and historical sites,

natural marvels, and ecological tourism prospects are attractive methods for attaining environmentally friendly growth.

A significant obstacle lies in the nation's insufficient plan of action and lack of coordinated promotional efforts. The comprehensive range of ecotourism opportunities in India remains unexplored and unorganized, hindering the industry's progress. There is a lack of advertising, or if there is any, the organization is not effectively reaching its target audience, resulting in a smaller than expected number of people. It is reasonable to infer that those who live there have undergone education and instruction. If such a circumstance arises, they will devise innovative and practical strategies to safeguard the environmental and historical resources of the area while also ensuring the region's security.

India's ecotourism industry faces several major issues, including economic obstacles, societal challenges, and the absence of effective marketing strategies and a cohesive national approach. Generational disengagement, greater participation, and equality and fairness are crucial aspects of ecotourism. Additionally, the scarcity of hotels and resort centers in eco-tourism hotspots makes it difficult for visitors to find accommodations.

4. Travel to India's Indigenous peoples

The Indian tribal community, also known as indigenous people, aboriginal people, mool nivasi (original inhabitants), adivasi, janajati, etc., is in need of a well-planned, sensitively executed, and holistically monitored policy intervention to ensure economic and social prosperity. Tribal tourism is a form of travel where tourists can experience the traditional lifestyle of indigenous tribes, including their habitat, history, historical background, handicraft production, cultural practices, social values, and customary rites. This concept is popular in countries like Ethiopia, Kenya, Ecuador, Peru, and Brazil.

Ethnic tourism offers several advantages, including revitalizing cultural and identity aspects, socio-economic, and sometimes political benefits for the local minority population. In 2018, the Ministry of Tourism launched the Development of Tribal Circuit in Chhattisgarh project in Gangrel, Chhattisgarh, under the Swadesh Darshan Scheme (SDS). The project was initiated under the Sustainable Development Scheme (SDS) and successfully completed its initial phase in 2022. Jashpur, which has been designated as part of the tribal tourist circuit under the SDS, has undergone development to establish itself as an ethnic tourism community.

Several ethnic tourism villages and eco-ethnic tourist destinations have been established, including Sarodha Dadar, Gangrel, Nathianwagaon, Kondagaon, Jagdalpur, Chitrakoot, and Tirathgarh. The Strategic Development Scheme (SDS) was initiated in the fiscal year 2014-15 to promote the development of themed circuits around the nation.

The first Tribal Circuit in Chhattisgarh is a significant cultural and historical phenomenon that warrants academic attention. The inaugural tribal circuit program in India has successfully established a network linking 13 tourism spots in the state of Chhattisgarh. The initiative aims to streamline the systematic and strategic advancement of thematic circuits around the nation.

Chhattisgarh was incorporated into the tribal circuit with the objective of highlighting the multifaceted nature of its tribal communities, their traditional cultural practices, and the abundant and varied natural resources present within the state. The tribal circuit initiative has numerous amenities, such as environmentally friendly log cabins, artisan markets, retail establishments offering souvenirs, an open-air amphitheater, facilities dedicated to cultural interpretation, and spaces designated for workshops. The park offers many amenities, such as tourist centers, observation points, nature paths, and solar illuminations.

The Ministry of Tourism places a high emphasis on the advancement of indigenous tribes and the preservation of their cultural heritage. The use of novel strategies would enhance the facilitation of diverse tourist development and promotional endeavors inside the tribal region of Chhattisgarh.

5. The potential for waterfall tourism in Jashpur District is significant.

a. Various Waterfall Attractions: The Jashpur district is home to a diverse range of waterfalls, each showcasing distinct picturesque charm and a serene atmosphere. Ranidah Waterfall and Dangiri Waterfall are popular tourist destinations due to their scenic beauty and tranquil environments. Gullu Waterfall is notable for its connection to a hydropower project, offering guests educational experiences related to renewable energy. Rajpuri Waterfall and Damera Waterfall are ideal for nature enthusiasts who prefer less crowded and more quiet locations, adding to the district's allure as a varied tourist destination.

b. Potential for ecotourism : The unspoiled surroundings surrounding Jashpur's waterfalls make them perfect for ecotourism. These natural places offer ideal environments for engaging in activities such as hiking, bird watching, nature photography, and guided eco-tours. The district's

abundant biodiversity, characterised by a wide variety of plant and animal species, appeals to environmentally aware tourists and researchers, providing a distinctive chance to investigate and admire the natural world in its pristine state.

c. Participation in the community : Tribal groups, in particular, have the potential to make substantial contributions to the development and upkeep of these tourism attractions. By engaging these communities in tourism activities, we assure sustainable development and give them with economic benefits. This strategy not only improves the genuineness of the visitor experience but also fosters the social and economic advancement of the local inhabitants.

d. Exploration and leisurely pursuits : The rocky topography and verdant environs of Jashpur's waterfalls provide abundant prospects for adventure tourism. Promoting activities such as trekking, rock climbing, and camping can attract adventure enthusiasts and youth organisations. These leisure activities contribute an exhilarating aspect to the waterfall tourism experience, drawing a wider array of guests and enriching their whole visit.

e. Recommendations for the Government : In order to fully tap into the potential of waterfall tourism in Jashpur district, it is crucial for the government to focus on improving physical infrastructure and systems. This can be achieved through the construction and maintenance of roads, restrooms, parking places, information centres, as well as implementing safety measures such as guardrails and signage. Embracing sustainable tourism principles, including waste management, water conservation, and eco-friendly accommodations, is crucial for the protection of the environment. Utilising social media and establishing collaborations with travel agencies can be highly effective in drawing in tourists. Engaging local communities through training in hospitality, tour guiding, and sustainable practices will guarantee their active involvement and enable them to reap the benefits of economic opportunities. Encouraging thrilling outdoor pursuits such as trekking, rock climbing, and engaging in cultural events in the vicinity of waterfalls can greatly enrich the tourist experience. By implementing conservation zones around waterfalls and raising awareness through educational programs, we can safeguard the local wildlife and ecosystems. By prioritising these areas, the government has the potential to greatly enhance waterfall tourism, positioning Jashpur as a top-notch ecotourism spot and making a positive impact on the region's long-term growth.

6. CONCLUSION AND SUGGESTION

Ultimately, recognising the intricate relationship between urban development and environmental sustainability is crucial for the overall welfare of urban communities. Integrating green spaces into city planning not only boosts ecological health, but also enhances the overall quality of life for residents. Sustainable tourism, especially ecotourism, is crucial for achieving these goals as it promotes environmental conservation, generates economic benefits, and encourages community involvement. India's diverse natural landscapes, such as the waterfalls in Jashpur, offer great potential for ecotourism, which has the power to stimulate regional economic growth and foster social development. However, harnessing this potential necessitates the careful development of infrastructure, successful marketing strategies, and enthusiastic involvement from local communities. By emphasising sustainable practices and capitalising on the distinctive cultural and natural resources of regions like Jashpur, the government has the opportunity to position these areas as top-tier ecotourism destinations. This approach not only prioritises environmental conservation, but also guarantees the sustainable development and cultural heritage of local communities. With the ever-growing urbanisation and population pressures, it is crucial to embrace comprehensive and inclusive approaches to achieve sustainable development. This will help strike a harmonious equilibrium between human progress and environmental stewardship.

REFERENCES

1. Acquah, E., Dearden, P., & Rollins, R.. (2016). Nature-based tourism in Mole National Park, Ghana. 35(1). https://doi.org/10.1080/19376812.2015.1088389
2. Carson, D. B., & Taylor, A.. (2008). Sustaining four wheel drive tourism in desert Australia: exploring the evidence from a demand perspective. 30(1). https://doi.org/10.1071/RJ07036
3. Chen, Z., Yang, J., & Xie, Z.. (2005). Economic development of local communities and biodiversity conservation: a case study from Shennongjia National Nature Reserve, China. 14(9). https://doi.org/10.1007/S10531-004-4360-2
4. First Tribal Circuit Project under Swadesh Darshan Scheme to be inaugurated in Chhattisgarh tomorrow. (n.d.). First Tribal Circuit Project under Swadesh Darshan Scheme to be inaugurated in Chhattisgarh tomorrow. https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=183436
5. Gohil, N. (2019). Potential and Planning for Tribal Tourism in India: A Case Study on Gond Tribes of Madhya Pradesh State, India. 6(8).
6. Harrison, D., Harrison, D., & Schipani, S.. (2007). Lao Tourism and Poverty Alleviation: Community-Based Tourism and the Private Sector. 10. https://doi.org/10.2167/CIT310.0
7. Hunt, C. A., Durham, W. H., Driscoll, L., & Honey, M.. (2015). Can ecotourism deliver real economic, social, and environmental benefits? A study of the Osa Peninsula,

Costa Rica. 23(3). https://doi.org/10.1080/09669582.2014.965176

8. Kelkit, A., Ozel, A. E., & Demirel, Ö.. (2005). A study of the Kazdagi (Mt. Ida) National Park: an ecological approach to the management of tourism. 12(2). https://doi.org/10.1080/13504500509469625
9. Lyon, A., Hunter-Jones, P., & Warnaby, G.. (2017). Are we any closer to sustainable development? Listening to active stakeholder discourses of tourism development in the Waterberg Biosphere Reserve, South Africa. 61. https://doi.org/10.1016/J.TOURMAN.2017.01.010
10. National Strategy and Roadmap for Development of Rural Tourism in India - An initiative toward Aatmanirbhar Bharat. (n.d.). National Strategy and Roadmap for Development of Rural Tourism in India - An initiative toward Aatmanirbhar Bharat. Ministry of Tourism | Government of India. https://tourism.gov.in/whats-new/national-strategy-and-roadmap-development-rural-tourism-india-initiative-toward
11. Picard, D.. (2015). Making ecotourism sustainable: refocusing on economic viability. Lessons learnt from the "Regional strategic action plan for coastal ecotourism development in the South Western Indian Ocean". 23(6). https://doi.org/10.1080/09669582.2015.1019512
12. Vishwanatha, S., & Chandrashekara, B. (2014). An analysis of socio-cultural impacts of ecotourism in Kodagu District. American journal of research communication, 2(7), 135-147
13. Walter, P.. (2013). Theorising visitor learning in ecotourism. 12(1). https://doi.org/10.1080/14724049.2012.742093
14. Wang, S., Heo, J., Yamada, N., & Hwang, S. T.. (2009). Comparison of Ecotourism Policies and Implications for China's Ecotourism Development. 5(3). https://doi.org/10.1080/19388160903152779
15. Machnik, A. (2021). Ecotourism as a Core of Sustainability in Tourism. In: Lubowiecki-Vikuk, A., de Sousa, B.M.B., Đerčan, B.M., Leal Filho, W. (eds) Handbook of Sustainable Development and Leisure Services. World Sustainability Series. Springer, Cham. https://doi.org/10.1007/978-3-030-59820-4_15
16. Cabral, C., & Dhar, R. L. (2019). Ecotourism research in India: From an integrative literature review to a future research framework. Journal of Ecotourism, 19(1), 23–49.
17. Pawan Kumar, Bindu Aggarwal, Vinod Kumar & Harish Saini (2024) Sustainable tourism progress: a 10-year bibliometric analysis, Cogent Social Sciences, 10:1,2299614, DOI: https://doi.org/10.1080/23311886.2023.2299614

Capturing Echoes: The Evolution and Impact of Sound Recording Technology

Nitish Bhardwaj*, Prof. Pravin Uddhav**

Abstract

This article delves into the rich history of sound recording technology, tracing its evolution from Thomas Edison's pioneering phonograph in 1877 to the cutting-edge digital innovations of today. It explores key milestones, including the transition from wax cylinders to vinyl records, the advent of magnetic tape, and the revolutionary impact of digital formats like the compact disc and MP3. Additionally, the article highlights the cultural and socio-economic impacts of sound recording technology, particularly its role in democratizing access to music and fostering global cultural exchange. The emergence and growth of the Indian gramophone industry are also examined, showcasing the global reach of recording technology. Looking to the future, the article discusses promising advancements in high-resolution audio, 3D sound, artificial intelligence, and cloud-based recording, underscoring the ongoing evolution and its implications for the music industry. Through a comprehensive review of technological progress and its broader impacts, this article provides an in-depth understanding of how sound recording has shaped and continues to influence our world.

Keywords : *Sound Recording Evolution, Phonograph to Digital, Audio Technology History, Music Preservation, Recording Industry Impact, Future of Sound Recording*

Introduction

The ability to record and reproduce sound is one of the most transformative technological advancements in human history. From the scratchy renditions captured on Thomas Edison's phonograph in 1877 to today's pristine digital recordings, the journey of sound recording technology is a fascinating tale of innovation, creativity, and cultural impact. Each breakthrough, from the gramophone's flat discs to the magnetic tapes of the mid-20th century and the digital formats that dominate today, has not only

* Research Scholar, Department of Instrumental Music, Banaras Hindu University, Varanasi

** Professor, Department of Instrumental Music, Banaras Hindu University, Varanasi

enhanced the fidelity and accessibility of recorded sound but also reshaped the way we experience and interact with music and audio content.

This article embarks on a journey through time, exploring the pivotal moments and key figures that have defined the evolution of sound recording technology. It delves into the early innovations of the phonograph and gramophone, the commercial boom of the early 20th century, and the significant technological shifts brought about by magnetic tape and digital recording. Moreover, it highlights the important role of the Indian gramophone industry in preserving and popularizing diverse musical traditions.

In addition to tracing technological progress, this article examines the profound cultural and socio-economic impacts of sound recording. By making music more accessible and fostering global cultural exchange, sound recording technology has played a crucial role in shaping modern society. Looking ahead, the article also explores future trends and innovations that promise to further revolutionize the way we create, share, and experience sound.

Through this comprehensive review, we aim to provide a detailed understanding of how sound recording technology has evolved and its ongoing influence on our world. Whether you are a music enthusiast, a historian, or a technology aficionado, this exploration offers valuable insights into the past, present, and future of sound recording.

Early Innovations: The Phonograph and Gramophone

The Birth of the Phonograph

The journey of sound recording began in 1877 when Thomas Edison invented the phonograph. This device was capable of both recording and reproducing sound, a revolutionary concept at the time. The phonograph used a tinfoil-wrapped cylinder and a stylus connected to a diaphragm. When someone spoke into the mouthpiece, the vibrations caused the stylus to etch a groove into the tinfoil, which could then be played back by retracing the groove with the stylus. The first recorded words were Edison's own rendition of "Mary had a little lamb" (Morton, 2004).

Figure 1:Thomas Edison demonstrating his tinfoil phonograph, photograph by Mathew Brady, 1878

Improvements and Competition

Edison's phonograph, while groundbreaking, faced limitations in sound quality and durability. Alexander Graham Bell and Charles Tainter addressed these issues with the invention of the graphophone in the 1880s. They replaced the tinfoil with wax cylinders, which provided better sound fidelity and were more durable. This innovation marked a significant improvement, making sound recording more practical for commercial use (Kinnear, 1994).

The Rise of the Gramophone:

While the phonograph and graphophone focused on cylinders, Emile Berliner introduced the gramophone in 1887, which used flat discs. This innovation not only improved sound quality but also allowed for easier mass production. Berliner's discs were made of shellac and could be stamped from a master copy, making them cheaper to produce and more accessible to the public. By 1893, the gramophone had established itself as a superior technology, setting the stage for the modern recording industry (Gelatt, 1977).

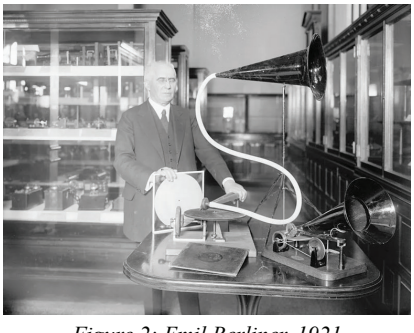

Figure 2: Emil Berliner, 1921

The Commercialization of Sound Recording

Early Recordings and Artists :

The early 20th century saw the commercialization of sound recording with companies like the Gramophone Company (later HMV) and Victor Talking Machine Company leading the charge. These companies began recording popular artists, including the Italian tenor Enrico Caruso, whose recordings became immensely popular and demonstrated the commercial potential of recorded music (Read & Welch, 1976).

Technological Advancements :

The transition from wax cylinders to shellac discs allowed for longer recordings and better sound quality. By the 1910s, the standard disc size had increased from 7 inches to 10 and 12 inches, accommodating longer pieces of music. The introduction of the electric microphone in the 1920s further revolutionized the industry by significantly improving recording fidelity. This era, known as the "Electrical" era, replaced the earlier acoustic methods where sound was captured by mechanical vibrations alone (Millard, 2005).

The Indian Gramophone Industry

Early Recordings :

The history of sound recording in India began in 1899 when the first Indian voice was recorded by the Gramophone Company in London. By

1902, the first gramophone disc was cut in Calcutta, marking the start of a vibrant recording industry in India. Early recordings featured a variety of artists and genres, reflecting the rich musical heritage of the country (Kinnear, 1994).

Establishment of Recording Studios

In the early 20th century, the Gramophone Company set up a recording studio in Calcutta, which became a hub for recording Indian music. The studio recorded a wide range of music, from classical to folk, and played a crucial role in preserving and popularizing Indian musical traditions. Artists such as Gauhar Jan and Jankibai of Allahabad became recording stars, their voices immortalized on shellac discs (Roy, 2010).

Expansion and Innovation :

By 1908, the Gramophone Company had established a record pressing plant in Calcutta, eliminating the need to send recordings to Europe for processing. This development significantly boosted the local recording industry, allowing for faster production and distribution of records. Over the next few decades, the Indian recording industry grew rapidly, with numerous companies emerging, although most were eventually consolidated under HMV (Farrell, 1993).

Table 1: Key Milestones in Sound Recording Technology

Year	Event
1877	Thomas Edison invents the phonograph
1880s	Alexander Graham Bell and Charles Tainter develop graphophone
1887-1893	Emile Berliner develops the gramophone
1899	First Indian voice recorded in London
1902	First gramophone disc cut in Calcutta
1908	Record pressing plant established in Calcutta
1925	Introduction of electrical recording techniques
1931	Merger of Gramophone Co. and Columbia Graphophone
1940s	Development of magnetic tape recording
1980s	Introduction of the compact disc (CD)
2000s	Rise of digital audio formats such as MP3

Technological Progress and the Evolution of Formats

From Shellac to Vinyl

The introduction of vinyl records in the mid-20th century marked a significant leap forward in sound recording technology. Vinyl offered superior sound quality, greater durability, and longer play times compared to shellac. The 33 1/3 rpm LP (long play) records and 45 rpm singles became the standard formats,

revolutionizing the music industry and consumer listening habits (Suisman, 2009).

The Magnetic Tape Era

World War II saw the development of magnetic tape recording technology, which provided even better sound quality and greater flexibility. Tape recording allowed for editing, overdubbing, and multitrack recording, which were not possible with earlier technologies. This innovation led to the rise of high-fidelity (hi-fi) recordings and laid the groundwork for modern recording studios (Morton, 2004).

The Digital Revolution

The late 20th century witnessed the advent of digital recording, which transformed the industry once again. Digital technology offered pristine sound quality, ease of editing, and virtually limitless copying without degradation. The introduction of the compact disc (CD) in the 1980s brought digital sound to the masses, and subsequent innovations in digital audio formats, such as MP3, further revolutionized the way music was produced, distributed, and consumed (Horning, 2013).

Table 2: Evolution of Sound Recording Formats

Format	Description	Era
Tin-foil phonograph	Cylindrical drum with tinfoil	1877
Wax cylinder phonograph	Hard-wax removable cylinder	Late 1800s
Gramophone record	Flat discs for mass production	1887-1893 onwards
Shellac discs	Lac-based records	Early 1900s
Vinyl discs	Improved sound quality and durability	Mid 20th century
Magnetic tape	Tape recording technology	WWII era
Compact discs (CDs)	Digital optical discs	1980s onwards
Digital audio formats	MP3, FLAC, high-resolution audio	2000s onwards

Cultural and Socio-Economic Impacts

Accessibility and Global Reach

The evolution of sound recording technology made music more accessible to the general public. The gramophone and later technologies enabled people to enjoy music in their homes, fostering a deeper connection to the arts. The mass production of records and the global reach of recording companies also facilitated the spread of musical styles and cultures across borders, contributing to a more interconnected world (Kenney, 1999).

Influence on Music and Artists

Recording technology not only preserved performances but also

influenced the development of music itself. Artists began to experiment with the possibilities offered by recording studios, leading to new genres and styles. The ability to edit and overdub allowed musicians to create complex compositions that would have been difficult or impossible to perform live. This innovation fostered creativity and expanded the boundaries of musical expression (Gracyk, 2007).

Economic Impact

The recording industry has had a significant economic impact, generating billions of dollars in revenue and creating jobs for musicians, producers, engineers, and many others. The commercialization of recorded music also opened up new revenue streams for artists, from record sales to royalties, fundamentally changing the business model of the music industry (Millard, 2005).

Key Figures in the History of Sound Recording

Thomas Edison

Thomas Edison, known as the "Wizard of Menlo Park," was a prolific inventor who made significant contributions to the development of sound recording technology. His invention of the phonograph in 1877 laid the foundation for the recording industry, and his work on electric lighting and power distribution had far-reaching impacts on modern technology (Gelatt, 1977).

Emile Berliner

Emile Berliner, a German-born inventor, is best known for developing the gramophone and the flat disc record. Berliner's innovations not only improved sound quality but also made mass production of records possible, revolutionizing the way music was distributed and consumed. His work laid the groundwork for the modern recording industry (Gelatt, 1977).

Alan Blumlein

Alan Blumlein, a British engineer, made significant contributions to audio technology in the 1930s. He invented stereo sound recording, which created a more immersive listening experience by simulating spatial sound. Blumlein's work in electronics and sound recording has had a lasting impact on the industry, influencing everything from music production to film soundtracks (Morton, 2004).

Table 3: Key Figures in Sound Recording History

Name	Contribution
Thomas Edison	Invented the phonograph, pioneering sound recording technology
Alexander G. Bell	Developed the graphophone, improving on Edison's design
Emile Berliner	Invented the gramophone and flat disc records

Alan Blumlein	Invented stereo sound recording, enhancing audio realism
Peter Carl Goldmark	Developed the LP record, increasing the duration of recordings
Ray Dolby	Invented noise reduction systems, improving sound fidelity
Les Paul	Innovated multitrack recording, revolutionizing music production

The Future of Sound Recording

Digital and Beyond

The future of sound recording lies in the continued advancement of digital technology. Innovations such as high-resolution audio, 3D sound, and immersive audio experiences are pushing the boundaries of what is possible. As technology continues to evolve, new formats and methods of recording will emerge, further enhancing the quality and accessibility of recorded sound (Horning, 2013).

High-Resolution Audio

High-resolution audio offers sound quality that surpasses the standard CD format, capturing more detail and nuance. This technology is becoming increasingly popular among audiophiles and music enthusiasts who seek a more lifelike listening experience. High-resolution formats like FLAC (Free Lossless Audio Codec) and DSD (Direct Stream Digital) provide greater fidelity and a more immersive audio experience (Horning, 2013).

3D Sound and Immersive Audio

3D sound technology aims to replicate the way we perceive sound in real life, creating an immersive audio experience. This involves spatial audio techniques that simulate how sounds originate and move around the listener. Technologies such as Dolby Atmos and DTS are leading the way in this field, offering a more realistic and engaging listening experience for music, movies, and virtual reality applications (Horning, 2013; Sterne, 2012).

The Role of Artificial Intelligence

Artificial intelligence (AI) is increasingly being integrated into sound recording and production. AI algorithms can analyze and manipulate audio in ways that were previously unimaginable. For example, AI can assist in noise reduction, audio enhancement, and even music composition. This technology promises to streamline production processes and open up new creative possibilities for artists and producers (Sterne, 2012).

Cloud-Based Recording and Collaboration

The rise of cloud computing has transformed many aspects of sound recording and production. Cloud-based platforms allow artists and producers to collaborate in real-time,

regardless of their physical location. This has democratized access to professional recording tools and made it easier for independent musicians to produce and distribute their work. Platforms like Soundtrap and Splice are examples of how cloud technology is being utilized in the music industry (Millard, 2005).

Preservation and Restoration of Audio Archives

Digital technology is also playing a crucial role in the preservation and restoration of historical audio recordings. Many early recordings are fragile and at risk of being lost. Digitization projects aim to convert these recordings into digital formats, ensuring their longevity and accessibility for future generations. Advanced digital restoration techniques can also enhance the quality of these recordings, removing noise and improving clarity without altering the original sound (Kenney, 1999).

Future Trends and Innovations

Looking ahead, several trends and innovations are likely to shape the future of sound recording. These include the development of new audio formats that offer even higher fidelity, advances in spatial audio that provide more immersive listening experiences, and the continued integration of AI in all aspects of sound production. Additionally, the increasing use of blockchain technology in the music industry may provide new ways to manage digital rights and ensure fair compensation for artists (Sterne, 2012).

Thus, the future of sound recording is bright, with numerous technological advancements on the horizon. These innovations promise to enhance the quality and accessibility of recorded sound, providing new ways for us to experience and enjoy music and spoken word. As the industry continues to evolve, we can look forward to even more exciting developments that will shape the way we listen to and interact with audio.

Conclusion

The evolution of sound recording technology from the late 19th century to the present day is a testament to human ingenuity and our relentless pursuit of better ways to capture and reproduce sound. From Thomas Edison's pioneering phonograph to Emile Berliner's gramophone, each innovation laid the groundwork for the next, pushing the boundaries of what was possible. These early inventions not only made sound recording feasible but also opened up new possibilities for entertainment and communication, profoundly impacting society.

As sound recording technology progressed, the commercialization and industrialization of the process brought music into homes worldwide.

The transition from wax cylinders to shellac discs, and eventually to vinyl records, marked significant milestones in improving sound quality and durability. The introduction of magnetic tape during World War II revolutionized the industry by allowing for editing and multitrack recording, paving the way for the high-fidelity recordings that defined the mid-20th century (Morton, 2004).

The digital revolution of the late 20th century further transformed sound recording, making pristine audio quality and limitless replication possible. The compact disc (CD) democratized access to high-quality sound, and subsequent digital formats like MP3 and FLAC revolutionized music distribution and consumption (Horning, 2013). This period also saw the rise of the Indian gramophone industry, which played a crucial role in preserving and popularizing the rich musical heritage of India (Kinnear, 1994).

Looking to the future, advancements in digital technology continue to push the boundaries of sound recording. High-resolution audio, 3D sound, and immersive audio experiences promise to provide even more lifelike and engaging listening experiences. The integration of artificial intelligence in audio production is opening new creative possibilities, while cloud-based platforms are democratizing the recording process, making professional tools accessible to independent artists worldwide (Sterne, 2012).

Furthermore, digital preservation efforts are ensuring that historical recordings are not lost to time, while innovations in blockchain technology are poised to address longstanding issues in digital rights management and artist compensation (Kenney, 1999). As we move forward, the continued evolution of sound recording technology promises to enhance not only the quality of our listening experiences but also the ways in which we create, share, and interact with music and audio content.

In conclusion, the history of sound recording technology is a rich tapestry of innovation and cultural impact. Each technological breakthrough has brought us closer to capturing and experiencing sound in its purest form. As we stand on the cusp of new advancements, the future of sound recording holds the promise of even greater achievements, ensuring that the magic of recorded sound will continue to enrich our lives for generations to come.

Figures

Emil Berliner, 1921. (n.d.). Encyclopædia Britannica. https://www.britannica.com/biography/Emil-Berliner/images-videos#/media/1/62226/118868

Thomas Edison demonstrating his tinfoil phonograph, photograph by Mathew Brady, 1878. (n.d.). Encyclopædia Britannica. https://www.britannica.com/technology/phonograph#/media/1/457279/1316

References

Farrell, G. (1993). Indian Music and the West. Clarendon Press.

Gelatt, R. (1977). The Fabulous Phonograph: 1877-1977. Macmillan.

Gracyk, T. (2007). Listening to Popular Music: Or, How I Learned to Stop Worrying and Love Led Zeppelin. University of Michigan Press.

Horning, S. S. (2013). Chasing Sound: Technology, Culture, and the Art of Studio Recording from Edison to the LP. Johns Hopkins University Press.

Kenney, W. H. (1999). Recorded Music in American Life: The Phonograph and Popular Memory, 1890-1945. Oxford University Press.

Kinnear, M. (1994). The Gramophone Company's First Indian Recordings (1898-1908). Popular Prakashan.

Millard, A. (2005). America on Record: A History of Recorded Sound. Cambridge University Press.

Morton, D. (2004). Sound Recording: The Life Story of a Technology. Johns Hopkins University Press.

Read, O., & Welch, W. L. (1976). From Tin Foil to Stereo: Evolution of the Phonograph. Howard W. Sams & Co.

Roy, P. (2010). Gauhar Jaan: The Life and Times of a Musician. Roli Books.

Sterne, J. (2012). MP3: The Meaning of a Format. Duke University Press.

Suisman, D. (2009). Selling Sounds: The Commercial Revolution in American Music. Harvard University Press.

Comparative Study of Gurukula System and Institutionalised System of Music Education

Raghavendra K Badasheshi

Abstract

"Saha Naavavatu, Saha Nou Bhunaktu , Saha Veeryam Karavaavahai , Tejaswi Navadheetamastu Ma Vidvishaavahai"

Meaning: *"May he protect us both together the teacher and the student. May he nourish us both together. May we work conjointly with great energy. May our study be vigorous and effective. May we not mutually dispute or may we not hate each other. Supreme god let there be peace everywhere ".*

The Gurukula system of education is as old as the Vedas. Ancient Indians followed Gurukula system of education. The Guru used to take personal care of his disciple and teach the skills as per his capabilities. But when the British started to rule our country, they changed the system of education to the present-day modern system of education. Music education was no different. The learning process got transformed due to advent of these institutions. Music was taught in the educational institutions along with mainstream subjects. Even many musicologists of the modern era opened their own music educational institutions. The very basis of imparting music education in Gurukulas continued to be the Guru-Shishya Parampara. This article is intending to draw a comparison between both these systems of education on various parameters.

Key Words: *Gurukula, Music, Education, Gharana.*

Introduction

Gurukula or also called Gurukulam, is a system of education that existed since ancient times in India. It is as ancient as the Vedas. Gurukula originally means abode of Guru. Basically, Gurukula is a Sanskrit word, which is the combination of two words, Guru and Kula. Guru means teacher and Kula means family or home. Gurukula is a system of education wherein the Shishyas or students lived with the Guru or lived near their Gurus. Therefore, Gurukulas are the residential places of learning. Gurukul is "Abode of a

Assistant Professor (Hindustani Vocal) Sri Sathya Sai Institute of Higher Learning, Puttaparti - 515134, Andhra Pradesh

Guru. Students were supposed to live with the Guru at his residence or in a shelter on the premises. The Guru would teach his pupils whenever it was convenient to him, and they were, on the other hand expected to serve the Guru and his household in suitable ways" [1]. "Gurukula is a word, which is in vogue from the period of the Vedic Sutra-Grathas".[2]

Institutionalised system of learning is, where the education is imparted through an organization. In this system of education, the teachers and the students are connected to each through an institution. The organization decides the curriculum and the teacher, and the student are bound to follow it. In the institutionalised system of music education, the teacher as well as the student has little freedom.

Comparison between Gurukula and Institutionalised system of music education on various parameters.

A few parameters, on the basis of which the comparison can be drawn between these two systems of music education are discussed below.

Quality of Education: The education which is being imparted in the institutionalised system of education focusses more on getting good scores. Whereas Gurukula system of education, focuses mainly on the overall development of the students. As the students resided with their Gurus in Gurukula system, we could see a holistic development of the student. The focus in Gurukula system is more on gaining knowledge than on getting good scores. Teachings in Gurukula system leans more on the practical side than the theoretical side. As subject of music is more practical in nature, it is the best suited to learn under Gurukula system as it intends to develop and nourish individual skills and abilities. The Guru is everything in Gurukula system of education. The Guru is like a God for the student. "Guru is regarded the metaphysical father of a disciple and is ranked higher than biological parents" [3]. As the learning is on one-on-one basis, the Guru used to take personal care of the student.

In institutionalised learning, as the teacher and the student are inter-connected with each other through an organisation, there is less chance of that personal bondage. The student doesn't have the choice to choose the teacher. The student should be ready to study under a teacher who is appointed by the organisation. In many cases we see few institutions, due to their greed for money appoint teachers who are of sub-standard level. Because of which the quality of education may get affected. But in Gurukula system of education the student has the choice to choose the teacher. In institutions, the teacher gets changed many a times or the teacher themselves leave the organisation in search of better opportunities, thereby impacting the student's musical

learning process.

Gharana tradition: Gharana is "A school of music possessing certain characteristic stylistic features" [4]. In the institutional system of education, there are several teachers from different Gharanas, teaching the same subjects, therefore it becomes difficult for the students to stick to a particular Gharana. But whereas in the case of Gurukula system, as the student is in access to a single teacher, who is following a particular Gharana, he is not influenced by any other style. He adopts the techniques or skills as it is learnt from the Guru. Therefore, following the Gharana tradition in Gurukula system of education becomes much easier than in the institutionalised system of music education.

Convenience: The Institutionalised system of learning normally follows a pre-fixed timetable that teachers and students are required to follow. The student does not have the convenience to take the classes according to his liking or ask his doubts as and when it arises in his mind. He is in touch with the teacher only during the institution's working hours. Whereas in Gurukula system of learning, as the students resided with the Gurus or near their Gurus, they always have the convenience to get in touch with the teacher to get their doubts cleared. In Gurukula system, he has the privilege of doing the Riyaz with the Guru throughout the day and night as per their convenience which is not possible in the institutionalised system of learning.

Relationship between the teacher and the students: The institutionalized system of learning is a commercial establishment wherein there may not be a personal or intimate relationship between the teacher and the student. The students and the teachers are connected with each other through an organization. Therefore, a personal relationship or the utmost respect for the teacher is a rare thing to find in an institutionalized system of learning. The salary of the teacher is paid by the institution with the fees paid by the student. As there is commercial benefit is involved, the mutual respect for each other normally is a rare thing to exist. And also, normally the students are taught in groups in institutions, because of which there is no one-on-one care being taken.

Whereas in Gukulas, there is a personal bondage between the teacher and the student. There is mutual love and understanding for each other in this system of education. Even after the completion of his studies, the student always remembers his teacher throughout his life. Music is not learned in a time-bounded atmosphere. Through hours of combined learning with the Guru, there is a lot of mutual understanding, faith and love for each other in Gurukula system.

Guru Dakshina is "Token ritual offering in cash or gifts to one's

Guru" [4]. Though students after the completion of their studies, used to offer Guru Dakshin to the Gurukulas in whatever form they can afford, it was not binding on their part. It was left to the willingness or affordability of the individual student. Every student may offer his love through Guru Dakshina in whatever form he wishes. Therefore, the bond between the student and the teacher is very strong in Gurukula system of learning. Unlike in an institutionalized system of learning, there is a pre-fixed fee that every individual student is expected to pay to acquire knowledge. And the student like in Gurukula system, doesn't have the privilege to offer the fee in any form he can afford. It is only meant to be paid in monetary form. So, the relationship between the teacher and student is more of commercial nature than personal. And also, the Guru Dakshina is offered directly to the Guru at the end of their studies, unlike in the institutionalized system, wherein there is an institution involved which receives fees from the students that too at the beginning.

Importance of human values and ethics: There cannot be a good musician without being a good human being. Therefore, it is the primary duty to uphold human values and moral ethics. In Gurukula system along with academics the students are educated about the ethics and moral values. The students are educated about their social responsibilities. The students follow the footsteps of the Gurus. Therefore, the Gurus are expected to be role models for the students. Discipline and the extreme care of the students are of greater importance in Gurukula system. As the students resided with the Gurus, they are away from bad company and ill habits. Staying away from ill habits is a pre-requisite in music learning. Therefore, discipline in a Gurukula student is natural. Along with mainstream studies, the student is exposed to various other forms of knowledge such as yoga, spirituality, medication, etc. The students are taught the art of living. They are on the path of spirituality and righteousness. Lot of value is given for our Indian culture and tradition in Gurukul system of education.

But in institutionalized learning, as the student is under the care of the institution or the teacher, only during working hours, the student is exposed to so many ill habits and outside bad company which may act as a hurdle on his path of music education. The teacher doesn't have control over the student beyond the working hours of the institution. So, it is very difficult to instil moral values and ethics in a student's mind in an institutionalized system. Even if the student is taught moral values and ethics, it may not be so effective as the student is exposed to the outside world after his study time. Holistic development of the student is very difficult in an

institutionalised learning system.

Social responsibility: Every individual is expected to be a socially responsible person. Without society, one cannot exist. Apart from satisfying his personal needs, it is the Dharma of every music student to be a part of a unified motive of true happiness in society. The famous Sanksrit shloka "Vidya Dadati Vinayam" meaning, knowledge brings humility. The ultimate aim of education is humility. Therefore, it is needless to say that Vidya without Vinayam is of no use. Gurukula system gives equal importance to mainstream studies and building the student's character. The overall transformation of the student is the main motive in Gurukula system. Whereas in an institutionalized system, more importance is given to academics than moral values. So, the student may be very good in his music subject, but what is the use of it without humility and generosity? It will earn him bread and butter, but it cannot make him a better human being.

Practicality: The education which is provided in Gurukulas is more of practical nature rather than theoretical one. It teaches students various skills. It educated the students to lead a blissful life. It is scientifically proven that the system of education through lips has greater power to help students to remember for a greater period of time. Therefore, in Gurukulas the knowledge is imparted more through lips than writing. This is the need of present-day society. In today's modern education system, we find Graduates who acquire bookish knowledge but without practical knowledge. As music is a practically oriented subject, more focus should be given to performance-related techniques rather than bookish knowledge. One cannot become a musician by acquiring only theoretical knowledge. He must possess practical skills of performance.

Conclusion:

There is no education greater than the knowledge of humanness. Due to the institutionalization of the education system, it started to become more commercial. Profit has become the main motive in many present-day educational institutions. But still, we find many educational institutions where music education is imparted through Gurukul system. The Guru-Shishya Parampara which existed in yesteryears is slowly ceasing to exist due to institutionalisation. Because of institutionalization, the students have no trust or respect for the Gurus. The Gurukula is the best system of education especially, to learn various art forms like music, dance, drama etc. There are only a few institutions where music education is provided following the principles of Guru-Shishya Parampara. It is high time that Government should come forward to open more institutions where education is through Gurukula

system which upholds our traditional values and culture. The National Education Policy 2020 also is inscribed on the same grounds to give greater importance to our Indian culture and moral values. Though the institutionalised system of education comes with its advantages, privileges, but it can never replace Gurukul system of education in music learning.

References

1. Ghosh, Nikhil. The Oxford Encyclopaedia of the Music of India. Oxford University Press, 2011.
2. Ranade, Ashok. Music Contexts a Concise Dictionary of Hindustani Music. Promilla & Co. Publishers, 2006.
3. Ranade, Ashok. Music Contexts a Concise Dictionary of Hindustani Music. Promilla & Co. Publishers, 2006.
4. Ghosh, Nikhil. The Oxford Encyclopaedia of the Music of India. Oxford University Press, 2011.
5. Bagchee, Sandeep. And. Business Publications Inc., 1998.

Impact of Social Advertising Campaigns on the Behaviour of Youth's in Metro Politan Cities

Dr. Badavath Surender

ABSTRACT:

Information on these ties may be used to infer consumer traits that are beneficial for targeting, as pairs of consumers connected by a relationship are more likely to be similar than an unconnected pair. For instance, geographic information about a person's peers may be used to enhance estimates of that person's home location. Advertisers can specifically target the peers (such as Facebook friends and Twitter followers) of customers who are known to be associated with a brand through the use of current advertising platforms. Social networks store information about unobserved qualities of customers.one way social advertising is likely to be effective. Social media advertisements use browser history to target viewers based on their demographics. Different types of businesses can influence customers to strongly rely on their marketing on social media based on factors such as geography or personal interest. The fact that social media gives users a sense of inclusivity and enjoyment is one of the key reasons they rely on it. To foster a sense of inclusivity among consumers, social media advertising that targets a certain user group is shown as though these adverts are tailored to them specifically, giving them attention that they do not frequently receive in the actual world. The Social Signals Checker tool may be used to obtain more information about connections. Metrics known as "social signals" track how much users engage with your material on social media. Each signal likes, shares, and comments add up to a total that indicates to search engines like Google how popular your material is. Your website's chances of ranking better in Google increase with the volume of social signals it receives. There are two reasons for this. First off, millions of individuals utilise social media every day.

Key words: *Advertising Platforms, Social Network, Social Media Strategy.*

INTRODUCTION:

Through influence and information channels, advertising is a powerful instrument for communication and a crucial component of marketing that helps sell goods, concepts, images, and services. It is a remarkably obvious social power. We receive inundations of texts every day about adverts. For every organisation or

Assistant Professor, R.G.Kedia College of Commerece, Hyderabsd, Telangana

corporation to succeed, it is essential. There is a greater use of advertising campaigns by nonprofit organisations like Government, Colleges & Universities, and Public Service Organisations. It plays a significant role in marketing and communication processes. People are influenced to buy products, concepts, and services via advertising. These days, public relations, communication, persuasive marketing, and facts may all be included in the process of advertising. One kind of communication route via which advertisements reach us is a medium. Usually, Organservic catered to a certain group of people, referred to as the target audience, which includes businesses and consumers. To do this, a variety of media are employed, including print magazines, newspapers, journals, radio, television, internet, sponsorships, hoardings, direct sales, contests, events, posters, apparel, colours, noises, graphics, and even human endorsements. This sector is composed of companies that produce commercials, media outlets that air the advertising, and a range of individuals that supply information to the recipient or customer, including visualizers, copy editors, researchers, brand managers, designers, and "Creative Heads." An advertiser that wants to market themselves or its goods hires an advertising firm. The client gives the firm information about the brand, target market, images, values, and guiding principles. To successfully engage with clients, agencies translate these thoughts and ideas into forms, images, themes, and texts. In the fast-paced business world of today, advertising is essential to every firm. Advertising is a tactic used by non-profit organisations, government agencies, international organisations like the World Health Organisation, and the Red Cross Society to disseminate messages on social welfare issues. In today's world, when everything is changing quickly business, society, culture, etc. advertising has become essential for any company looking to reach a broad audience with their message. A commercial that conveys a powerful message about social issues or concerns facing humanity is referred to as a social advertisement. The goal of social advertising is to address significant concerns related to people's wellbeing and social welfare. Commercial and social advertising are very different from one another.

SCOPE OF THE STUDY:

The term "social ads" describes the marketing efforts created as a component of an organization's social duty by entities like the government, advertising firms, non-profits, and other private associations. The commercial aims to raise public awareness of important yet sometimes disregarded societal concerns. Such advertising can be clever, direct, helpful, or even humorous. These

days, social advertising's widespread use is regarded as one of the best ways to raise social consciousness and alter people's perceptions. Media is necessary for many governments and non-governmental organisations (NGOs) to engage with the public. They exacerbate societal issues and bring about significant changes in the general public's mindset. Commercial advertising promotes goods and services while social advertising has a different function. Social ads, such as family planning, HIV/AIDS, female foeticide, welfare for girls, sexuality and many more, is in this group.

Review of Literature:

Gupta A. (2021) studied that youths have seen messages and advertising on social concerns in various media. Some were well aware of the process, including who was behind it, what message was sent, and what society's expectations were, but others were unsure of what action they were needed to take. Interaction in focus groups raised knowledge of public service advertising, and everyone saw the issues as troubling and serious. In terms of lifestyle, behaviour, and attitudes, the study revealed indicators of taking action and clarity that something must be done. The visual appeal of the advertising was recognized throughout the dialogue, as was a strong attraction to it, indicating a want to learn more about the situation. It was also observed that some young people were extremely disturbed as a result of seeing these adverts and refused to take action.

Datta D, & Pal, P. (2020) studied that Gender, age, literacy status, occupational status or kind of work, family monthly income, land ownership in the region, and forms of property holding are all shown to be substantially connected or correlated with respondents' public service advertising observation experiences.

Liu et al. (2016, 2017) highlight the effectiveness assessment aspect of the dialogue between the business and the customer and suggest evaluating it according to the distribution of the brand (the ratio of the number of brand references to the number of trademarks and competitors mentioned), consumer engagement (the ratio of the number of reviews, the number of shares and the number of comments to the total number of views), talking about this (the ratio of the number of times the brand was mentioned to the total number of users).

Jayaram et al. (2015) distinguishes such assessment factor groups as content management (dynamic personalization, multi-media, localization, user-generated content, quick response codes, quality management), social media (collaboration, integration with other applications, sentiment analyses, word of mouth), digital collaboration (blogs, live chat), analytics of successful

digital marketing (data and content, big data, user data, sensor data, datamining, visualization, statistical techniques, prediction algorithms, prescriptive intelligence).

Rautio (2012) suggests such assessment of the effectiveness of social media networks criteria as website/traffic metrics (unique visitors, page views, time spent, installs, lifetime), online advertising metrics (cost per click, cost per impression, click through rate, conversion, campaign reach, social reach), social media & engagement metrics (likes, followers, people discussion, mentions, retweets, weekly total reach, engaged users, virality, comments). To estimate the effectiveness of such assessment criteria, the author suggests using return on investment (ROI) and profit investment ratio.

OBJECTIVES OF THE STUDY:

The main view of Research paper is defining objectives, we may get more intelligent assistance in executing the outcomes. The objectives of the present research as follows:

1. To study the awareness of various social advertising campaigns in metro politan cities
2. To study the impact of social advertisements on the behavior of youths in Metro Cities.

HYPOTHESIS:

H1 There is no noteworthy impact of occupation on the dimension of impact of social advertisement on behavior.

H2 There is no noteworthy impact of educational qualification on the dimension of Motivation and Inspiration from social advertisement

SIGNIFICANCE OF THE STUDY:

Any advertisement to achieve its goals, a number of aspects must be correctly understood and handled, including the time, frequency, and choice of medium as well as the substance and tone of the advertising message. The new media for information and education are radio, television, and the internet. Similarly, research abounds in examples of both the beneficial and detrimental effects of advertising on young people. Therefore, when media and advertising are combined to create social advertising, they are likely to inform and amuse people at the same time. Social media advertising has two roles: it informs and educates the audience for the advancement of society. In order to do this, we must determine the effectiveness of social advertising campaigns and identify potential methods for closing the communication gap between advertisers and consumers. Any nation's future young symbolise its hopes and goals; they are a pledge for a brighter future. Providing a

suitable atmosphere for adolescents to develop into mentally and physically fit persons is a fundamental obligation of every nation. Youth nowadays confront a plethora of local and global difficulties in the age of globalisation. Particularly in a growing nation like India, where a myriad of problems is solved and created on a daily basis, youth face an abundance of challenges.

RESEARCH METHODOLGY

In research, methodology is a systematic approach to problem solving. There is a science to conducting research. Research techniques are, in essence, the methods that scientists use to characterise, comprehend, and predict occurrences. Frequently mentioned is the study of information-gathering techniques. The intention is to incorporate a research activity plan.

RESEARCH DESIGN:

This study, which was exploratory in nature, collected data via a sample survey approach. The study's main goal is to investigate respondents' motivation and awareness of different social ads. The following dependent and independent variables are employed in order to meet the study's aim. Research design, independent variables, dependent variables, universe, sample, sample size, data collection process, data collection methods, primary and secondary data sources, study objectives, development of hypotheses, goal-wise analysis plan, development of tools and the rationale behind advertisement selection, and development of questionnaires are all included in the description towards the campaign Consumer Forum, Save Girl Child, Donate Blood. Swach Bharath Mission.etc.

TECHNIQUES OF SAMPLING:

There are methodological rules for doing research included in the sample plan. For this investigation, a stratified cluster sampling strategy for young people. One technique for selecting samples from a population that may be divided into smaller groups is called stratified cluster sampling. From 5 city's Hyderabad, Chennai, Bangloor. Kolkatha and Delhi.Total 125 responders is the target population.

Results and Discussion

Gender Wise Distribution

The sample distribution of demographic data is presented in following tables.

Gender Wise Distribution of Respondents

S. No	Gender	Frequency Percent	Percent	Valid
1	Male	86	68.8	68.8
2	Female	39	31.2	31.2
	TOTAL	**125**	**100**	**100**

Gender Wise Distribution of Respondents (Source: Primary Data)

The sample consists of 68.8 % male respondents and 31.2 % of female respondents.the above respondents are below 30 years of age.

Awareness about Social Advertisement

	Frequency	Percent	Valid Percent
Yes	125	100	100
No	0	0	0
Can't Say	0	0	0
Total	**125**	**100**	**100**

Awareness about Social Advertisement (Source: Primary Data)

The respondents' level of awareness regarding social advertisements. Ten social media advertising campaigns that are now airing in Indian media were chosen for this section's punch line/tagline. Every punchline/tagline has three variations. The titles of the selections corresponded to social media initiatives. Out of the three options, only one was right. The respondents were asked to choose the punch line-filled advertising they believed was the best. This section sought to assess the respondents' knowledge of social media ads.

Preferred Medium

S. No	Medium	Frequency	Percent	Valid Percent
1.	TV	56	44.8	44.8
2.	Print Media	38	30.4	30.4
3.	Internet	12	9.6	9.6
4.	Others	19	15.2	15.2
	Total	**125**	**100**	**100**

The above table displays the media profile of the responder. According to this study, 44.8% of the respondents think that TV is the greatest medium for finding social problem commercials. Of the respondents, 30.4% think print media is superior, while the remainder respondents support radio, the internet, and other media.

CONCLUSION:

The study's conclusions unequivocally show that social media advertising campaigns have a significant impact on young people's behaviour now a days. The fact that today's young are concerned about the different social concerns that are prevalent in society is a positive indicator. The audience watches social media advertising campaigns with interest and tries to put the themes they have heard in commercials into practice. According to the survey, in contrast to earlier times, our young India is today well-aware of social concerns, highly inspired and driven, and puts out effort to create a better society. The purpose of this section is to collect data on public awareness of various social media advertising efforts. The taglines of several social media advertising campaigns are provided for this

purpose. Respondents must choose the best fit for the specified social media marketing initiatives. In order to ascertain how social advertising campaigns affected the respondents' conduct, this section of the questionnaire was given to them. This section aims to find out if respondents are adhering to the messaging in social advertising campaigns, what exactly they know about how social advertising influences their conduct, and what they think about the many aspects raised in the questions.

REFERENCES:

1. Gupta, A. (2021) "Influence of Public Service Advertising on Youth" The Asian Thinker Year-3 Volume: I, Jan-March, ISSN: 2582-1296
2. Datta D, & Pal, P. (2020) "Factors Effecting Economics of Public Service Advertising Of Health Care Service Sector In Tripura, India. International Journal of Innovative Research and Advanced Studies (IJIRAS),Volume 7 Issue 1, January 2020 ISSN: 2394-4404
3. Goswami, A. & Kalaivani, M. (2019) "Awareness and utilization of social welfare schemes by elderly persons residing in an urban resettlement colony of Delhi". Journal of Family Medicine and Primary Care, 8(3), 960- 965.
4. Seymour, J. (2018) "The Impact of Public Health Awareness Campaigns on the Awareness and Quality of Palliative Care". Journal of Palliative Medicine, 2(1), S-30-S-36.
5. Kher, S., Chandak, S., Kothari, N., & Desai, R. (2018). "A Study of Awareness among Youth about Digital India Initiative"
6. V., R., Nanjaiah, R. & Karinagannanavar, A. (2017). "A Descriptive Study on factors Affecting Blood Donation among Young Adult Students". National Journal of Community Medicine, 8(8), 487-491.
7. Shidam, U., Lakshminarayanan, S., Saurabh, S., Roy, G. (2015). Knowledge and Attitude regarding Blood Donation in Rural Puducherry, India. National Journal of Community Medicine, 6(1), 64-68.
8. Singh, D. (2014). Effect of "Jago Grahak Jago" Communication Campaigns in India to Increase Consumer Awareness. International Journal of Innovative Research & Development, 3(3), 257-260.
9. Yogita Narang, Atul Narang, Dr. Shalini Nigam. (2012)."Effect of Public Service Advertising and The Effectiveness Of Media- An Exploratory Study Of Four Campaigns". International Journal Of Research In Finance Volume 2, Issue 2 ISSN 2231-598.
10. Mohan, R. (2011). "Covert advertising in the context of media ethics on the example of Slovenian press". International Journal of Transformations in Business Management, 1(3), 68-69.
11. Chao, P., Cismaru, M., Lavack, A. M., & Markewich, E. (2009). "Social marketing campaigns aimed at preventing drunk driving". International Marketing Review
12. Ganeshasundaram, R., & Henley, N. (2009). "Reality television (Supernanny): A social marketing "place" strategy". Journal of Consumer Marketing.
13. Wakefield, M., Flay, B., Nichter, M., & Giovino, G. (2003). "Role of the media in influencing trajectories of youth smoking". Addiction, 98, 79-103.
14. Price, N. (2001). "The performance of social marketing in reaching the poor and vulnerable in AIDS control programmes". Health Policy and Planning, 16(3), 231-239.
15. Rotfeld, H. J. (2002). "Misplaced marketing the social harm of public service advertising". Journal of Consumer Marketing. Nov (1).

Importance of Guidance and Counselling Cells in Educational Institutions

Dr. Pukhrambam Chitra Devi

Abstract

The study aims to explore the importance of guidance and counselling cells in every educational institutions. There is need of organizing proper guidance and counselling services in educational institutions which will benefit students and teachers and whoever involved in the system. The aim of education is to achieve the fullest possible realization of possibilities inherent in the individual's personalitry. Guidance is an integral part of education and helps in achieving the goals of education. Counselling is considered to be an integral and central part of guidance. In every educational institutions, there is need of proper guidance and counselling cells so as to help and assist the students for optimum achievement and adequate adjustment in varied life situations. Also, this will enhance and motivate on the part of teachers, teachers needs to have specific skills and qualities so that they can guide and teach the students in an effective manner. Guidance in educational institutions must be necessarily provided to students to guide them in the right direction and to enable them to take right decisions. Students often need guidance in personal,educational and vocational areas and so on. The paper confined to areas of educational, personal and vocational areas of guidance that gives due importance to students and counselling approaches of directive, non-directive and electic methods were highlighted. There is need of organizing various guidance in educational institutions as this will helps the teachers to take note of potentialities of each student in different degree in different direction. It co-ordinates the work of all persons engaged in guidance programme. A well organized guidance programme economizes time, money and effort. Guidance service helps the students and their parents to make right and appropriate career plans for future. Guidance and counselling, both aims to give an opportunity for an individual to see a variety of available options and thereafter, assist the person in making a wise choice. Guidance and counselling cells served in many ways to assist the students to achieve their goals.

Introduction

Guidance and counselling is an integral part of an effective functioning of technician institutions in thier attempts to educate and train their students to become efficient

Assistant Professor (HOD), Department of Education, G. P. Women's College, Imphal, Dhanamanjuri University, Imphal-795004, Manipur (INDIA)

and effective technicians. It helps every student to understand himself, to make the most of his capabilities and interests, to make affective adjustments with the environment and the institution and to develop ability and inclination to discuss wisely and solve his problems independently. A primary task of guidance and counselling is that of enhancing learning; not only learning of skills and knowledge related directly to the world in which the student lives but also learning related his 'inner world'- that is, an increased understanding of self. Technical institutions need, therefore to accept the responsibility of providing an adequate and properly organised mechanism for instituting guidance and counselling services to their students.

Guidance and counselling service are becoming more and more important as the society and its various institutions are growing in complexity. The strength and solidarity of the society and its institutions, are therefore, contingent upon the strength of these individual units. Strength and solidarity of these individual units constitute the foundation of a strong nation. Hence, the optimum development of each of these units should be the most cherished goal of every nation. Guidance and counselling contributed to the achievement of this goal. Through guidance and counselling, efforts are made to develop the potentialities of individuals to the maximum possible extent so that they may live an effective life themselves and may contribute their best to the progress of the society. From this point of view, guidance and counselling should be considered essential social services. Besides, there are several other considerations on the basis of which the need for guidance and counselling may be justified. Guidance services are meant to help students to make proper adjustments with the environment in which ther are living and also to make the best possible contributions commensurate with one's strengths and limitations. Every individual, at some time or other, needs help to become happier, more creative and better adjusted in his family and social milieu. In this regard, the individual will be required to act accordingly to certain decisions. He being self-autonomous must, therefore, be permitted to make his own decisions. There are several areas where students required assistance.

Purpose and types of Guidance

Guidance is a very well known term to everyone as it is concerned with each and every person. Guidance involves personal help given by someone, it is desinged to assist a person to decide where he/she wants to do, or how he/she best asccomplish his/her purpose; it assists him/her to solve problems that arise in his/her life. It does not

solve problems for the individual but helps him/her to solve them. Guidance is a personal assistance. Guidance is a process by which individual solves his problems by his own efforts. Guidance focusses on the attention of the welfare of the individual. Guidance is a kind of advice or help given to the individual's especially students, on matters like choosing a course of study or career, work or preparing for vocation, from a person who is superior in the respective field or an expert. It is the process of guiding, supervising or directing a person for a particular course of action.

Therefore, the focus of guidance is the individual not the problem; its purpose is to promote the growth of the individual in self-direction. This guidance may be given to the groups or to individuals,but it is always desinged to help individual eventhough they may be in group. The process of guidance aims at making students or individuals aware of the rightness or wrongness of their choice and importance of their decision, on which their future depends. In this sense, guidance is a service that assists students in selecting the most appropriate course for them, to discover and develop their psychological and educational abilities and ambitions. Guidance results in self-development and helps a person to plan his present and future wisely.

- **Educational Guidance**
  Educational guidance is a process of assisting the individual student to reach optimum educational guidance. It is a sort of guidance that is only rendered to the student community. Educational guidance helps the students to make right choices as well as make adjustments in relation to schools, curriculum, courses and school life which contribute to the all round development. Educational guidance is a help which aims at adjusting the children with the requirements of school and curriculum. It includes the help and assistance given to pupils in adjusting to the demands of the school and to plan intelligently an educational programme suited to their abilities and needs. It serves to realize the aims and objectives of education and to check wastage and stagnation.
- **Personal Guidance**
  Personal guidance is that type of guidance given to an individual person to overcome his specific problems. Personal guidance includes personal psychological or emotional relationships which a person develops himself. The problems regarding health, emotional adjustment, social adjustment and leisure and recreational problems are included in personal guidance for solution. It is a process of helping the individual to solve his problems which do not come within the

jurisdiction of educational and vocational guidance. But sometimes, educational and vocational guidance can be called personal guidance. As a whole, the personal guidance is meant for helping each and every individual to look at himself in the right perspective. Personal guidance is that which is rendered to a person for solving his personal problems. Therefore, it can be said that personal guidance as the assistance given to the individual to solve his emotional, social, ethical and moral as well health problems. The main aim of personal guidance is to establish balance between the individual's mental, social and physical aspects. It is the type of guidance service that has been rendered for the individual in case of personal problems. This type of guidance service can prove helpful in solving personal related issues and problems.

- **Vocational Guidance**

  It is the process of helping the individual to choose occupation that fit him best. It involves a thorough understanding of the individual in general and special capacities. Basically vocational guidance is accepted as that type of guidance where mere information and advice is given in regard to choosing an occupation. Preparing for it, entering in it and progressing in it. Vocational guidance is concerned with helping the individual to become aware of his strenghts and weaknesses in the world of occupations and helping him to choose a vocation for his better adjustment with every situation of the society. In other words, vocational guidance may also be defined as a process of helping individuals or people to cope with problems relating to occupational choices,plans, development, adjustment and maturity. Vocational guidance may also be defined as the assistane given to children/ students to get in schools to know the world of vocations. It is early exposure to the variety of jobs they will have to make a choice latter in life.

Purpose of counselling method approaches

The term counselling is defined as a talking therapy, in which a person/ client discusses freely his problems and share feelings with the consellor who advises or helps the client in dealing with the problems. It aims at discussing those problems which are related to personal or socio-psychological issues, causing emotional pain or mental instability that makes uneasy. Counselling is the service offered to the individual who is undergoing a problem and needs professional help to overcome. It is

not just advice or making a judgement but the helps the client to see clearly the root of problems and indentify the potential solutions to the issues. The counsellor also changes the viewpoint of the client, to help him take the right decision or chooses a course of action. It will also help the client to remain intuitive and positive in the future.

- **Directive Counselling**
  In this type of approach, the counsellor plays an important role. A major goal of this type of counselling is to replace the emotional behaviour of the individual with deliberately rationale behaviour, although he avoids dictatorial advice. This type counselling revolves around the counsellor. Here, the counsellor is active and expresses his ideas and attitudes independently. He evaluates expressions of the client or counselee. According to this viewpoint, the counsellor takes an interview and asks a series of standardized questions to the client. The counsellor does not allow the development of expression and feeling of the counselee here. He leads as an experet, evaluates and gives necessary suggestions to the counselee or client regarding his problems. That's why this approach is known as 'counselor-centred' or 'prescriptive counselling'.Under this process, the counsellor plans the counselling process, his work is to analyze the problem, identify the triggers, identify the exact nature of the problem and provide various options. Williamson was a great propounder of this kind of approach as he stated that this approach is good to address the problems relating to educational and vocational adjustment. This type of counselling is more useful where the individual wants information and advice for choice of a career. This approach does not focus its attention on personality development as such.
- **Non-Directive Counselling**
  In this of counselling, the client is led to apoint of self-realization, self-actualization and self-help. The counsellor has proper regards for the integrity of the counselee. He never passes on his decision to the counselee. The counselee has to make his own decisions. The counselor's attitude is friendly, receptive and democratic. The counselling atmosphere is such that the counselee willingly and freely expresses himself. In this method, emphasis is put on the counselee not on his problem. That's why this method of counselling ia also called 'client-centered counselling' or 'permissive counselling'. The client is considered to the pivot of the process. His emotions are given due emphasis and efforts

are made for the release of his emotional tensions. Under non-directive counselling, counsellor does not issue directions but observe the behaviour and attitude of the counselee towards his work and his colleagues and superiors and subordinates. If he makes a mistake then counsellor comes to his rescue and corrects him, realizing him that he was wrong. He will not issue him any instructions or will not direct him. Thus, his type of counselling is known as non-directive counselling.

- **Eclectic Counselling**
  There are some counsellors who do not believe in either of the two extreme type of counselling, i.e. directive and non-directive. They have developed a middle way taking all the good points of both. So, eclectic counselling is not entirely permissive. Actually eclectic counselling is a continuation and synthesis of directive and non-directive counselling. It puts check on the client's emotional expression whenever it is essential in the interest of the client. It is flexible in nature and applies both directive and non-directive techniques according to the need of the situation. In this type of counselling, the counsellor studies the needs and personality of the client and then selects the appropriate technique. Begins with directive but switches over to non-directive or vice-versa as demanded by the situation.

Significance of organizing guidance service in educational institutions

At present, guidance has taken an unprecendented lead over all the other helping professionals, for it empowers an individual to charter his life successfully, inspite all odds. There is urgent need of introducing and strenthening the counselling services in the schools and colleges of our country to meet the various needs of the students administrational and the educational system. There is need of organizing guidance services in educational institutions-

- It facilitates the use of skill, training and interest of staff members.
- It co-ordinates the work of all persons engaged in guidance programme.
- A well organized guidance programme economizes time, money and effort.
- It hepls in developing good relationships.
- It helps to understand the physical, social, emotional and intellectual characteristics and needs of all human beings.
- It helps teachers to understand the individual differences of children in various spheres.
- It promotes efficiency in providing

adequate, reliable and scientific data.
- It utilizes community resources.
- A well organized guidance programme helps in self-realization.
- It emphasizes on democratic principles.
- It helps the students and their parents to make right and appropriate career plans for future.
- It helps the teachers to take note of potentialities of each student in different degree in different direction.

Importance of guidance and counselling cells in educational institutions

There is need of guidance and counselling cells in educational institutions so as to help and assist the students for optimum achievement and adequate adjustment in varied life situations. Guidance and counselling, both aims to give an opportunity for an individual to see a variety of available options and thereafter, assist the person in making a wise choice. There is need of guidance and counselling cells in educational institutions because guidance and counselling cells served in many ways to assist the students to achieve their goals, Therefore, guidance and counselling service is imprtant in every respect. A few specific issues are given below:

- To give the student information on matters important for success.
- To get information about the student which will be of help in solving his problems.
- To establish a feeling of mutual understanding between student and teacher.
- To help the student work out a plan for solving his difficulties.
- To help the student know himself better-his interests, abilities, aptitudes and opportunities.
- To encourage and develop special abilities and right attitudes.
- To inspire successful endeavour towards attainment.
- To assist the students in planning for educational and vocationl choices.
- To assist students in moving towards direction of fulfilling their potentials or in achieving an integration of previously conflicting parts of themselves.
- To provide students with skills, awareness and knowledge which will enable them to confront social inadequacies.
- To help students in developing decision making skills.
- To help students gain insight into the origins and development of emotional difficulties, leading to an increased capacity to take rationale control over their feelings and actions.
- To help in understanding one's strength, limitations and other

resources.

- To help the students to improve the ability of social as well as personal adjustment.
- To provide strategies and techniques regarding conservation and proper utilization of human resources.
- To minimize the mismatching between education and employment and help in the efficient use of manpower.
- To develop readiness for choices and changes to face new challenges.
- To help in talking problems arising out of students population explosion.
- To help the student to learn about factors which contribute to increase effectiveness and efficiency and to improve study habits,
- To help the students to develop skills in social and personal forecasting, acquire attitudes and skills necessary for matering the future.

Educational implications

Guidance and counselling has become an integral part of the educational system because of the changing face of the education across the globe. Guidance and counselling are educational and vocational levels for students so that they can choose the right courses and careers. The need of guidance and counselling can be stated in simple terms to assist and help individuals adjust to their personal, emotional, educational and occupational environment. The main aim of providing guidance and counselling services is to enable individuals to make adjustment in their life and bring about behavioural changes so that the individual can lead a happier and a healthier life. Guidance and counselling have come to play a significant role in the field of education. Guidance refers to give direction or to provide assistance to someone who needs help. Counselling refers to professional services provided to an individual who is facing a problem and needs help to overcome the problem. Counselling is considered to be an integral and central part of guidance. With the increased advancement in technology and globalization, several techniqueshave been developed to impart guidance and counselling in education. These techniques are devided into two-testing and non-testing techniques. The testing techniques include intelligence test,achievement test, interest test, aptitude test and so on. The non-testing techniques include case study, interview, observation and so on. Guidance and counselling is oriented to help students to understand themselves, becomes self-sufficient in making realistic and positive selections and grow in human relationships and concerns, guidance,

hence should prepare students for adult life as well as help them acquire appropriate attitudes and values that facilitate them to become productive and dynamic members of the society. Primarily, the guidance programme shoud help young people and children to develop a positive self-image a sense of identity create a set of beliefs and a value system that will guide their behaviour and actions.

Conclusion

Guidance and counselling are involved with the development of an individual. Both help an individual in facing and solving the problems and moving towards self-realization and self-empowerment. Through guidance and counselling, efforts are being made to develop the potentialities of individuals to the maximum possible extent so that they may live meaningfully and may contribute their best to the progress of the society.thus, guidance and counselling enable individuals to understand themselves better and identify their problems and the causes and solve them with the help of professionals. Thus, guidance and counselling is a concept of helping individuals discover and develop their psychological, educational and vocational potentialities, to achieve an optimal level of personal happiness and social usefulness.

REFERENCES

Directorate of Distance Education, Tripura University (2016), Guidance and Counselling in Education,Vikas Publishing House Pvt. Ltd, Noida-201301

Gibson et.al (2008), Introduction to Counselling and Guidance, Michigan: Merril

Gysbers, N.C. (2006), Developing and managing your school guidance program, Washington D.C.: American Counselling Association

Heyden, S.M. (2011), Counselling children and adolescents, Belmont, CA:Brook/Cole

Juneja, S. (2014), Guidance and Counselling, Prerna Prakashan, Vishal Kaushik Printers, Delhi-110085

Kochhar, S.K. (2005), Educational and Vocational Guidance in Secondary Schools, Sterling Publishers Private Limited, new Delhi-110020

Kochhar, S.K. (2018), Guidance and Counselling in College and Universities, Sterling Publishers Private Limited, new Delhi-110020

Netaji Subhas Open University. (2020), Educational Guidance, Counselling and Curriculum Studies.

Patterson, C.H. (1973), Counselling and Psychotherapy, New York: Harper and Row Publishers.

Sharma, R.A. (2008), Career Information and Career Guidance, R. Lall Book Depot, Meerut-250001

A Study on the Educational status among the Muslim Women in the State of Manipur

Dr. Khutheibam Seema

Abstract:

"There is no change of the welfare of the world unless the condition of the women is improved. It is not possible for a bird to fly on one wing."- Swami Vivekananda.

The Manipuri Muslims also commonly known as Meitei-Pangal are found inhabitate in valley districts (Imphal-East, Imphal-West, Thoubal and Bishnupur) and hill districts (Churachandpur and Chandel). Meitei-Pangal communities lag behind in educational aspects compare to other major communities namely Meitei (Hindu) in valley districts and Tribals (Christian) in hill districts. As per finding Meitei-Pangal community are found to be least literate thereby minimal participants in socio-economical developments of the state. In spite of many challenges, Meitei-Pangal community is becoming aware of the need and importance of general education as a tool for the general development and change within the community. Even after various Government schemes and general awareness, enrolments among the Muslim Women in different levels of education are comparatively low to other communities. The present study deals with the Educational status of Muslim women in Imphal East district of Manipur State.

Keywords: Education, Meitei-Pangal women, Status

Introduction

Manipur is a state of scenic and meshmerising beatuty in Northeast India and the term "Manipur" literally means "the Jeweled land". The state was called "the jewel of India" by Lord Irwin. It is bounded by Nagaland in the north, Mizoram in the south, Assam in the west and Burma(Myanmar) in the east. Manipur is further bounded by the Surma Vallely on the southwest and upper Chindwin district of Myanmar in the east, by the Lushai Hill on the south, by the Cachar district of Assam on the west. The international border with Myanmar is 352 Km long.(Farooque Ahamad & Sidiqur Rahaman,2020,p. 1). The Manipuri Muslims commonly known as Meitei-Pangal, ther are three theories about the origin of the term "Pangal"-(1) from Pang, (2) from

Assistant Professor, Dhanamanjuri University

Bangal and (3) from Pan'ngamba. In ancient time, there was an ancient ethenic group "Pang" who embraced Islam, and thus Pang could have been addressed as "Panga-al"(Pangal) by the Arabs and Persians. Another theory is that most of the Muslims in the past came mainly from Bengal and thus they were called "Bengal" which got corrupted into "Pangal". Another assumption is that the "sturdy Muslims" were called "Pangalba" which literally means "those who are stong or brave" and thus "Pangalba watered down to "Pangal". It is also notable that the terms "Pangal" and "Pangan" are used interchangably denoting Manipuri Muslims. (Farooque Ahamad & Sidiqur Rahaman,2020,p. 9)

REVIEW OF RELATED LITERATURE:

Kamei, (2008) in her research leading to Ph.D. conducted on historical study of Muslim women in Manipur. Among other objectives of the study include -

i) To study and analyse the role and status of women in the dynamic social structure of the Muslim community in Manipur.
ii) To examine the status of Muslim women of Manipur with regard to the application of Islamic law.

The main findings of the study is discussed as below :

i) Muslim women are general have a limited role to play indecision making and their freedom is curbed to a large extent as also free association with men outside of the family. On the social front, Muslim women in Manipur are at great disadvantage compared with their counterparts of other communities.
ii) The foremost duty of an exemplary Muslim women is to serve her husband and instruct her children about moral and religious values and Islamic etiquette with respect to dress, food, manners, customs etc., Even though Muslim women in Manipur play a vital role in building up and strengthening of Muslim society in the state, yet their status in the state is debatable one. They belong to the minority community and their status is low when compared to other groups of women in the state.

Chithung, (2008) in her dissertation studied development of Muslim, women's education in post colonial Manipur. The main objective of the study was to investe into the impact of education on the development and empowerment of Muslim women in Manipur.

The study followed the historical method of research. Data were gathered through documentary analysis and personal interviews.

The findings of the study discussed that after 1947, when Manipur joined the Indian union Muslim came to know the importance

of western education. They realized that a society could not be developed at own pace without the education of their children. They became interested in western education slowly and steadily. They started learning either in their own that they can come up at par with the larger communities of Manipur.

It has been confirmed on the basis of the present study that the introduction of primary education in Manipur for Muslim community in general was very late compared with other communities. Also, the introduction of education to Muslim girls was also very late compared with other community girls. The first Primary Madrassa for Muslim community was established at Lilong in the year 1907-08 with the establishment of the L.P. Madrassa, the literacy rate of the Muslim boy's increases gradually. But Muslim girls then neglected to study because majority of the people of Muslim community were illiterates. They gave apathy towards the education of girls due to illiteracy.

It is also found that the member of schools is very limited in Muslim areas. Some of the Muslim girls studied in co-educational institutions, after much persuasion to their parents.

It was found that there were 179 co-educational primary schools, 36 co-education Junior High School, 16- co-education High Schools 1 Co-education College, 252 Anganwadi centres in Muslim inhabited areas.

R.K. Jhalajit Singh in his book 'A short History of Manipur' (From A.D.33 to the present time) published in 1992, 2nd edition mentions that Manipuri Muslims who began to settle in Manipur were from East Bengal and they inhabited fertile tracts of land on the banks of the Imphal and Iril River. He further says that any man who came from East Bengal irrespective of his religion was called Pangal. In his book he makes some reference to the Muslims during the reigns of Kings like Mungyamba (1562-1597), Khunjaoba (1652-1666) and Paikhomba (1666-1698). He also gives a brief history of the capture of Muslims by King Khagemba and of the King giving them land for settlement in Manipur as well as the establishment of a new office for the welfare of the Muslims. Unfortunately, he has not made any mention about the conversion of Meitei women to Islam or Muslim women in general. He has written only three or four sentences about women in general i.e. a bride was escorted by her husband, she had to submit to the authority of her husband was assigned only household duties, including arduous ones like husking rice. These statements are applicable to Muslim women as also other women belonging to different communities.

'Women of Manipur an Alternative Perspective' is a book authored by Salam Irene. He is

focusing on the contradiction inherent in popular beliefs that women in Manipur enjoy a high status. The common perception is that Manipuri women enjoyed a very high position especially in comparison to women in other parts of India, but there is a dichotomy in the public and the private sphere with regard to women's status. Women representatives at the grassroots level are usually only nominal figureheads and it is the men who make the actual decisions. This applies to Muslim women elected to the Gram Panchayet and Zilla Parishads too. Manipuri society being patriarchal, Muslim women do not have decision making powers at home except in related to household activities.

Salam Irene's book 'Muslims of Manipur' deals with the coming of the Muslims to Manipur during the time of king Khagenba and their marriages to Meitei Women, adoption of Meitei culture as well as assimilation of Muslim men in Meitei society and the reason for the nomenclature "Meitei Pangal". In the second chapter she focuses on the social life of the Muslims, and the role of Muslims in economy, culture, religion as also the Laws of inheritance etc. are dealt with in the third and fourth chapters. The last chapter deals with administration, governance, and political participation of the Muslims in Manipur but no Muslim women's name has been mentioned except for those who participated in the Second Nupi Lan (Women War). However, she has included the gender perspective in each chapter. She concluded that the socio economic indexes show the backwardness of the Muslims especially in the field of education, science, technology, mass communication, health and standard of living. Therefore special incentives, measures and programmes are needed to enable the Muslims to come into their own, especially the women.

Meitei-Pangal women and Education:

Education is one of the significant social indicators for the growth of an individual as well as the community. "A well-educated population, adequately equipped with knowledge and skill is not only essential to support economic growth but is also a precondition for the growth to be inclusive since it is the educated and skilled person who can stand to benefit most from employment opportunities which growth will provide" (Parida, 2013).

As per the census enumeration of 2011, out of total 2, 39,836 Muslim population of Manipur, 1, 19,432 are female Muslim population. Nearly half of the Muslim populations are women. Muslim women in Manipur, compare to women of other communities, lack behind in almost all the socio-economic,

political and educational aspects. Due to such differences, the majority of the Muslim women are among the most disadvantage, least literate, most economically improvised and politically marginalized section of Manipur society. In spite of many challenges, Muslim women are working up to a consciousness of the distance they lack behind vis-a-vis the other communities. They are aware of the importance of education as a tool of change and development. Education of women is now considered as an economics investment at the family level and cornerstone of development at societal level. Due to the revivalist tendencies of Manipuri Muslims in early part of 20th century, they emphasized mainly on the importance of religious studies. They failed to comprehend the value of modern secular education and thereby ignoring it. Muslim took to modern education as late as the 1970s and that to be limited to few elite groups from Imphal areas. Muslim women are not educated for a number of reasons; poverty, religious considerations, early marriage and lack of awareness so there is no option of continue schooling after marriage. As per the census enumeration of 2011, the number of Manipuri Muslim literate is 1, 34,292 (79,474 male & 54,818 female).

Objectives of the study:-

i. To study the attitudes of Muslim women belonging to different categories viz highly educated (Graduate and above), Average (12 passed), and Below Average (10 Passed) under uneducated it has been classified into two categories viz married and Unmarried.
ii. To study the significant levels Muslim Women towards women's social freedom in Imphal-East District.

Hypotheses of the study:-

i) The Muslim women belonging to different categories had positive attitudes.
ii) The significant levels of Muslim women differed towards women's social freedom in Imphal East District.

Population and Sample of the Study

The present study is confined to the Muslim women population residing in Imphal-East District under the 3 (three) sub-divisions, namely Keirao Bitra, Sawombung, and Porompat. The Muslim women who have passed matriculation (10th) and above shall be taken as educated, and those below shall be uneducated. Again, under-educated has been further classified into three categories viz., highly educated (Graduate and above), Average (12 passed), and Below Average (10 Passed) under uneducated it has been classified into

two categories viz and married and Unmarried for the present study. A stratified random sampling technique has been employed, and for the sample data, 600 Muslim women, 200 samples (100 educated and 100 Uneducated) each from the three Sub-Divisions are collected.

Tools Used

For the present study, the investigator has used following tool for the collection of data:

i. Women Social Freedom Scale (WSFS-BL) developed by Dr. L.I. Bhusan.

Statistical Techniques Used

i) For finding out the attitudes of Muslim women belonging to different categories towards social freedom by adopting WSFS- BL scale and percentage method, Z-test and t-test have been adopted.

Delimitations of the Study

i) The present study has been confined to Imphal East District, Manipur.
ii) The present study has been confined only to Muslim women residing area of in Imphal-East District.
iii) For the present study, the selected Muslim woman has been limited to 18-50 years.

Table 1: Showing the attitudes of Muslim Women belonging to different categories towards Women's Freedom in Imphal-East District

Women's Social Freedom Scale (WSFS)

Sl. No.	Category	Education Level	No. of Sample	Score	Z-Score	Grade	Level of Women's Freedom
1		Highly					
	Educated	Educated	75	1822	+0.81	C	Above
			(12.50%)	(14.37%)			Average
2		Average	101	2213	+0.20	D	Average
			(16.83%)	(17.45%)			
3		Below	124	2415	-0.42	D	Average
		Average	(20.67%)	(19.05%)			
4		Married	191	3860	-0.24	D	Average
	Uneducated	(31.83%)		(30.44%)			
5		Unmarried	109	2369	+0.15	D	Average
			(18.17%)	(18.68%)			
Total	**600**		**12679**				

Analysis and Interpretation:

The above table shows educated and uneducated Muslim women of the Imphal-East District of Manipur based on their social freedom level. For the selected sample of the present study, Muslim women have been classified into two categories: educated (Xth passed and above) and uneducated (under Xth). Further, educated Muslim women have been classified into three categories viz. highly educated (Graduate and above), average (XIIth passed), and below-average (Xth passed). Uneducated Muslim women are broadly classified into two categories, viz. married and unmarried. As for the study, 300 samples each of educated Muslim women and uneducated Muslim women were selected.

From the above table, it can be interpreted that, Highly Educated Muslim women (14.37%) are found to be in grade C (Above Average) of women's social freedom with a Z score of +0.81. For Average Educated Muslim women (17.45%) are found to be in grade D (Average) of women's social freedom with Z score +0.20 and for Below Average Educated Muslim women (19.05%) with a Z score of -0.42 found and fall in grade D (Average) level of women's social freedom. For Uneducated Married Muslim women (30.44%) with a Z score of -0.24 are found and fall in grade D (Average) level of women's social freedom. In addition, Uneducated Unmarried Muslim women (18.68 %) with a Z score of +0.15 are found and fall in grade D (Average) level women's social freedom.

From the above analysis, it can be said that the selected Muslim women of the Imphal-East District of Manipur are found to be in Average level of women's social freedom. It is also found that with the variation in their level of education, their "Women's Social Freedom" level also varied. With the higher educational level, their "Women's Social Freedom" level has also increased. Educated Muslim women have a higher level of "Women's Social Freedom" than the uneducated Muslim Women of the selected samples of the present study. Hence, the present study's hypothesis, "Muslim women belonging to different categories have a positive attitude towards women's social freedom in Imphal-East District," has been accepted.

Table 2: Showing the significant levels of Educated and Uneducated Muslim Women towards Women's Freedom in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Educated	300	21.50	0.24	598	2.32	0.02068	*
Uneducated	300	20.76	0.20				

Table 3: Showing the significant levels of Married and Unmarried Muslim Women towards Women's Freedom in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Married	240	20.70	0.24	598	2.35	0.01910	*
Unmarried	360	21.46	0.20				

Table 4: Showing the significant levels of Highly Educated and Average Educated Muslim Women towards Women's Freedom in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Highly Educated	75	24.29	0.38	174	4.30	0.00003	**
Average Educated	101	21.91	0.39				

Table 5: Showing the significant levels of Highly Educated and Below Average Educated Muslim Women towards Women's Freedom in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Highly Educated	75	24.29	0.38	197	8.83	0.00001	**
Below Average Educated	124	19.48	0.36				

Table 6: Showing the significant levels of Average Educated and Below Average Educated Muslim Women towards Women's Freedom in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Average Educated	101	21.91	0.39	223	4.61	0.00001	**
Below Average Educated	124	19.48	0.36				

Analysis and Interpretation:

The significant differences in the attitudes of Muslim women towards women's social freedom belonging to different categories have been shown in the above tables, 5.7, 5.8, 5.9, 5.10, and 5.11. The calculated t-values of Muslim women belonging to different categories (Educated & Uneducated, Married & Unmarried, Highly Educated & Average Educated, Highly Educated & below Average Educated, And Average educated & Below Average Educated) were 2.32, 2.35, 4.30, 8.83, and 4.61 respectively. The calculated t-value of Educated & Uneducated and Married & Unmarried Muslim women is more significant than the tabulated t-value (tcal>ttab) and found significant at 0.05 significant level. The calculated t-value of Highly Educated & Average Educated, Highly Educated & Below Average Educated and Average Educated & Below Average Educated Muslim women has been more significant than the tabulated value (tcal>ttab) and found to be significant at a 0.01 significance level.

From the above analysis, it can be said that the women's social freedom has been a significant difference between found among the Educated and Uneducated, Married, and Unmarried Muslim women at 0.05

levels. In addition, highly and Average Educated, Highly and Below-Average Educated, and Average and below average educated Muslim women at 0.01 level. Therefore, the study's hypothesis is, "There exist significant differences in the attitudes of Muslim women towards women's social freedom in Imphal-East District of Manipur." It has been highly accepted.

Findings of the Study

I. Educated Muslim women have a higher 'Women's Social Freedom' level than Uneducated Muslim Women.
II. Highly Educated Muslim women (14.37%) are found with a positive Z score of + 0.81 and fall in grade C (Above Average) of 'Women's Social Freedom' level.
III. Average Educated Muslim women (17.45%) are found with a Positive Z score of + 0.20 and fall in grade D (Average) of 'Women's Social Freedom' level.
IV. Below Average, Educated Muslim women (19.05%) are found with a Negative Z score of – 0.42 and fall in grade D (Average) of 'Women's Social Freedom' level.
V. For the married category (30.44%), Uneducated Muslim women have a negative Z score of – 0.24 and fall in grade D (Average) of 'Women's Social Freedom' level.
VI. Uneducated Muslim women, for the Unmarried category (18.68%), are found to have a positive score of + 0.15 and fall in grade D (Average) of 'Women's Social Freedom' level.

References

Ahamed, F. (2011). Manipuri Muslims (Historical Perspectives- 615-2000 CE). New Delhi: Pharos Media & Publishing Pvt. Ltd.

Ahmed, F. & Rahman, Md. S. (2020). Pangal History of Manipur (615 AD To 2020 AD). Rasulgarh Bhubaneswar: Walnut Publication.

Devi, J. (1989). Education in Manipur. Imphal: Rai Pravina Brothers.

Devi, H. B. (2017). Status of Meitei Pangal Women in 17th and 18th Centuries Manipur. Political Economy Journal of India, 2(1), July-December.

Devi, H. B. (2018). Customary Practice of Meitei-Pangal (Manipuri Muslims in Manipur). International Journal of Research in Social Science (IJRSS), 8(2), 443-455. http://www.jimra.us

Hakim, A. (2008). The Manipur Governance to Meitei-Pangal (Manipuri Muslims) 1606-1949. Imphal: Pearl Education Society, Imphal, Manipur, India.

Irene, S. (2010). The Muslims of Manipur. Delhi: Kalpaz Publications.

Irene, S. (2014). Women of Manipur (An Alternative Perspective). Delhi: Anshah Publishing House.

Koul, L. (1984). Methodology of Educational Research. New Delhi: Vikas Publishing House Pvt. Ltd.

Mangal, S.K. (2002). Statistics in Psychology and Education. 2nd Edition, New Delhi: Prentice Hall of India Pvt. Ltd.

Sharma, S. & Sharma, K. (2006). Muslim Women. Delhi: Anmol Publication Pvt. Ltd.

Sheikh, S. M. (2018). Manipuri amasung Meitei Pangal (Past and Present). Imphal: Writers Union.

Hypergeometric Forms in Para-Linear Abstractions of Nasreen Mohamedi: A Self Transformation Into the Recluse Pictorial Space of Zen Minimalism

Dr. Ramesh Kandagiri

Abstract

Nasreen Mohamedi, an internationally eminent figure in the genre of abstract art, reflects a profound engagement with solitude, seen not as a curse but as a productive alienation rooted in Indian contemplative traditions towards perennial awareness, viz. samadhi. Despite battling Parkinson's disease, she transcended personal challenges to pioneer a unique artistic language in Indian contemporary art, drawing inspiration from diverse sources including Suprematists, Constructivists, and Minimalists like Agnes Martin. Departing from the prevalent hegemony of academic naturalism in disguise of realism in Indian art, she embraced non-representational forms, challenging the stigma attached to abstraction in post-independence India. Influenced by Zen philosophy, Mohamedi viewed art as a tool for self-transformation, delving into inner realities rather than externalities. Her international exposure and keen observation of modern technological advancements shaped her abstract aesthetic, characterised by intricate hypergeometric compositions in para-linear abstractions that came as a contemplative field self-recluse. This departure from conventional norms was to earmark her significant contribution to Indian abstract art, forging a path that defied societal expectations and celebrated the subtleties of abstraction eventually forming the Zen of reclusive pictorial space. Nasreen Mohamedi had always deviated from the academic realism ensconced in usual Indian art institutions that sported anthropocentric or anthropomorphic images. Choosing the trajectory of non-representational was a hard time for Nasreen Mohammedi as it was a time when abstraction in Indian art within the art practice in the early decades of post-independent India was looked down upon and criticized as naïve. This paper speaks in particular about the inherent Zen in the reclusive pictorial space of Nasreen Mohamedi's para-linear abstraction as the transformation of her sequestered life through personifying the austerity of Indian contemplative traditions towards perennial awareness, of self-absorption with the sound knowledge of European art-historical movements.

Keywords: *Pictorial Space, Abstraction, Zen, Suprematism, Minimalism, Constructivism, Empiricism, Transcendentalism*

Assistant Professor, Department of Painting, College of Art, New Delhi

The inherent Zen navigating Nasreen Mohamedi's abstraction of a middle path through empirical turmoil and transcendental silence

It would not be out of place to say that Nasreen Mohamedi's forms are a personal dialogue with herself and her solitude. This awareness in her is to the extent of drawing maximum from the existence of given immanence exploring transcendence. Unlike her contemporaries, Nasreen's mature works are marked by narcissistic solitude, frequently expressed in hypergeometric compositions with para lunar grids and parallels.

She explored the clairvoyant deciphering of the current technological world, influenced by the synthetic order of reason proposed by suprematism, constructivism and technology. This ultimately resulted in a quixotic sense abstraction in Indian contemporary art. The evidence points to abstraction in art as a reaction to the conflict between feeling and logic, which gave rise to abstract expressionism. Clairvoyance of Nasreen may be compared with artists like Pollock, Rothko, Klein Motherwell, and Newman for manifesting this conflict by fusing hypergeometric and para-linear patterns, as navigating a middle path through empirical turmoil to transcendental silence. History has it that artists have exploited the diminishing existence to the fullest for élan vital (creative evolution).

Rhythmic Movements Of Lines: Natural Release Of Psychic Energies

Nasreen Mohemedi's turmoil and silence validate her abstraction via phenomenological personification. The concept of abstraction is in the common parlance today and is a highly evolved modus operandi for various technical and conceptual disciplines, for example, Molecular Biology, Philosophy, Statistics, Taxonomy, Sociology, Economics, Mathematics, Quantum Physics Software language programming and solutions of AI Technology (abstraction in coding, java, C++, Python, PHP etc.), and so on. The most interesting fact is abstraction is an applied engineering principle in all the other fields of knowledge except for art (all arts for that matter) where it loses its objective rigidity. Since abstraction has been proved to be the creative aberration against the redundant aspect of representational art or descriptive art discerned as the 'paradox of realism' also it is a trans-cognitive phenomenon majorly connected to the individual's (artist's) subjectivity. Therefore, there are chances for jargon and fakes; hence abstraction in the art constantly demands revalidation purely based on a subjective module again; the 'personal commitment,' an emotive-subjective mechanism in a committed individual that synchronizes her/ his Philosophical (intellectual-logical),

Empirical (Scientific-experiential) and Metaphorical (Poetic-transcendental) awareness set into creative action. The tormented life of Nasreen Mohammedi, the 'Indian artist of the abstract,' while awakening her 'perennial awareness' enriched her 'eternal immanent self' as an 'ontic referent' to eventually qualify her as an 'impersonal performer of abstraction' certifying her abstraction as valid.

Turning of ephemera of European vanguard into the perennity of Indian post-avant-garde through contemplation

The most interesting fact about Indian abstraction is that when Western abstraction after living its fullest and turning into vintage-avant-garde in its context reaches the Indian context then inherent Dialectical Materialism's treatment of 'alienation' as a curse is so mysteriously reversed by 'Indian Artist of the Abstract' as boon wherein the 'shock' received from the loss of 'aura' is proved to be vitalizing them as post-avant-garde. So Nasreen Mohamedi turned the 'curse' into a 'boon' and while making alchemy of discrete realities in her autopoietic-sympoietic capacity is reincarnated as Enigmatic Individual. Geeta Kapoor quoting Helen Siksu's, 'We Who Are Free, Are We Free?: Critical Inquiry,' Vol.19, points out this alienation with the 'desert' when she writes, "notwithstanding, also there are people who are borne with the desert, somewhat like a curse, which is a boon, an innate betrayal that punishes them and moves towards poetry." (Kapur, 2020) The Indian transcendental plane of immanence is driven by its perennial process of 'transcendental materialism' or 'spiritual materialism' which is different from the Western concept of the rational plane of immanence being driven by dialectical materialism (Marx 1883) or transcendental empiricism (Deleuze 1953). Unfortunately, without following the universal discipline of exhausting dialectical materialism and also defying historical materialism art of post-independent Indian society was divided into two bandwagonism, one was the cult caught up in audacious self-glorification of the transcendental plane of immanence (the rightist's belief system) and the other was the Marxist clan with its premature hybrid mannerism (Swaminathan 1962). Eventually, the former was appropriated with the religious representationalism by the clans of Raja Ravi Verma and the latter was appropriated with the radical representationalism through Eurocentric modernism by Marxist clans in post-independent India. The real transcendental materialism at the core of Indian thought remained struggling in various isolated individuals throughout the country. Nasreen stands out as one of the most

significant such individuals. Both have been appropriated by some self-opinionated individuals who have faultily interpreted abstraction in art as 'anti-representational;' which in fact from time immemorial has been 'transcendental.'

Abstraction in art as mindful act of transcendental materialism

This is because of the Indian contemplative mechanism of 'living in the instant' observe 'occurring in the instant' during its state of mindfulness. The sense of 'living in the instant' is deeply embedded in the cult of 'non-recordable listening' in Veda known as 'Shruti,' until the cult of 'philosophical memorizing' came in Upanishad known as 'Smriti.' Contemplation is common in both 'Shruti' and 'Smriti' directed towards 'living in the instant' and 'listening in the instant' the Anahat Naad, the unstruck sound, that reverberates both inside the micro and the macro. When we listen to the Anahat Naad we just listen and don't 'record' or 'philosophize' therefore it can be compared to the discourse of 'lived experience' by Gilles Deleuze, the only gallant metaphysician after Nietzsche who "U-turned" the course of Western philosophy of Dialectical Materialism through his metaphysics of 'Transcendental Empiricism' (Difference & Repetition). He claims being quoted by Brent Adkins in his essay, 'Who Thinks Abstractly,' "true lived experience is an abstract thing, (….) once you have reached the lived experience, you reach the most living core of the abstract. In other words, lived experience is nothing. And you can live nothing but the abstract." (Adkins, 2020)

This justifies that when we experience the living we don't conceptualize or philosophize. Indian contemplative act of 'Sruti,' is the process of listening to the Anahat Naad through 'lived experience' rather than 'conceptualizing' or 'philosophizing' until the expiry of the phenomenon just unlike that of the Western which bears the pressure of Dialectical Materialism to 'conceptualize' and 'philosophize' simultaneously with 'lived experience.' Moreover, be it is Shruti-Dhyana (Aural-contemplation) or Smriti-Dhyana (Philosophical-contemplation) mindfulness is central in Indian trans-empirical and trans-personal practice in the Tantric age after the Vedic age in the Indian philosophy and during the Bhakti Kaal the Nirguni Bhajan was spread over in the subcontinent by the iconoclast esoteric saint poet St. Kabir whose one of the poems is widely sung in Hindustani Classical recital "सुनता है गुरु ग्यानि ग्यानि (२) गगन् में आवज़ हो रही झीनि झीनि (२) पहि लियाये नाद बिन्दु से पीछे जमया पानि हो जी। सब घट पुरण बोली रहा है, अलख पुसुष निर्बानि हो जि" (meaning, 'The one anointed by the Gurus, hears the soft melodious cosmic sound

(Anahat Naad) saying, your soul originated from Naad-Bindu – the dot of celestial music, And here you hoard water (referring to the things which by their very nature flow freely. The whole world says repeatedly. This is how it is and must be, While Brahma is himself without words (noiseless or sound of silence)."

Nasreen Mohamedi's art is all about this noiselessness' and her being in the state of Zen or Dhyana or the state of mindfulness, free from 'full of mind' hearing that 'sound of silence' the Anahat Naad from within herself and it's all about being lost in her 'lived experience' and thereby living the 'abstract.' This is how her abstraction is starkly different from Western abstraction. The alienation fixed as a 'curse' by the dialectical materialism when entered the Indian magnetic field of transcendental materialism then it is transformed into 'boon' and 'Absolute Bliss' through its all-encompassing understanding of 'sacrificing oneself for the other' from its age of Sanatana, "जीवो जीवस्य जीवनमं," meaning, "all forms can only be preserved by absorbing other forms. Sacrifice permeates all religion as it permeates the universe." (College, 2019) Herein all external influences are subsumed by its strange 'Magnanimous Reservoir of Aesthetic and Cultural Alchemy' which possesses the capacity to transform whatsoever foreign influences and concepts through 'lived experience' into inspiring rhythm within the Naad-Bindu, 'the dot of celestial music' wherein is reverberating the perennial 'sound of silence,' the 'soft melodious cosmic sound' Anahat Naad; recalling Deleuze. It is post the 'lived experience' there within the Naad-Bindu, 'the dot of celestial music' reverberating as perennial 'sound of silence,' the 'soft melodious cosmic sound,' the Anahat Naad, is heard by Nasreen Mohamedi and wherein her Ahat Naad the 'struck sound' with creative move and action is fused resulting in inspiring rhythmic movements of lines as natural release of psychic energies.

Sahaj Samadhi as the abstract aesthetics of Nasreen while contemplating consciousness

It takes to be self-critical for the individual claimant of the avant-garde to reincarnate as an Enigmatic Individual no matter for which he/she risks his/her worn-out image while being tagged vintage-avant-garde of the dusking era, and then it is the pre-individual, who enables him/her to take that risk. Nasreen Mohamedi is one of such a gallant individual, irrespective of being female, whose identity is validated by the pre-individual within her no matter if she dared to risk the so-called standard code of manners, bearing, appearance and even the 'so-called isolation' misinterpreted and fixed by the male chauvinist feudalism of Indian society

when Nasreen existed. Rightly has been venerated Mohamedi by Since her "discovery" at Documenta 12 in 2007, Nasreen Mohamedi, who passed away prematurely from Parkinson's Disease in 1990, has swiftly become a favourite "unknown" among certain art elites. In 2003 Holland Cotter suggested in the New York Times that "if people — especially young artists — knew about Mohamedi, they would love her the way they do Eva Hesse." Yet as Grant Watson — who together with Suman Gopinath has championed her work for a decade and curated this latest show at Milton Keynes Gallery — has pointed out, her work has long borne multiple echoes and lives. Mohamedi, he has noted, "was always destined for a wider audience that she, ever the internationalist, was already addressing." This process guides one to abstraction as a phenomenon of practising an introspective search of the actual atomic intention of one's own 'innermost self' or consciousness as un-swayed one's mundane intentions. Today we are living in a world of complete disillusionment from stagnated concepts and any hegemonic preconception or idea because the 'innermost self' of the masses is in constant evolution achieving alienation and so are the given concepts renewed through natural 'empirico-transcendental' practices in general in every field. This is the reason for hitherto 'unknown' becoming known rapidly in the social reality, this is the 'dualism' between 'spiritual' and 'material.' 'Unknown' is the term used here to denote the 'experienced elemental value of truth 'that exists in the consciousness of the artist and does not have any established record in the textually narrated world. 'Experienced elemental value of the truth' is the empirico-transcendental wisdom in process within the aware art practitioner thereby renewing the hitherto forced establishment of knowledge in him/her. Today the reason for over- growth of mass media is the extremism sprouted out of a misconceived match between knowledge (instead of experiential wisdom as true knowledge) and power (instead of power of consciousness). Thus, the textual narration of knowledge remains floating as a mere 'idea' and not 'action' hence they remain 'knowledge of past' and never the 'experience in the present' and they are even open to the 'literal adaptation by the extrovert extremism'. Buddha called this 'experiential wisdom' as bhavit pragya. Often 'idea' is in disguise of 'issues'; it is certainly great painting on 'issues' yet it is greater to keep the 'innermost-self' from being lost in the flux generated from this regressive crux because 'issues' may be the mere symptoms of reality and far from truth. This is perhaps one of the main reasons why many 'representationalists' became alienated

and turned into 'abstractionists. Nasreen's abstraction therefore is the representations of consciousness back onto itself.

Hence for the practical revalidation of the phenomenon of 'abstraction' in Nasreen, is the practice of internal observation of the very 'innermost self' through the contemplative mode of painting; the dhyana or Zen or the stillness of sahaja samadhi.

Open-ended forms of Nasreen are newer dimensions of abstraction

The tormented life of Nasreen Mohammedi qualifies to her abstraction and gets validated via personification. This is a point of undercurrent concern of the present research for what it posits for abstraction in art, as struggling dissension between emotion and reason and even the former's revolt against the latter, is fortified. As seen in this light Abstract Expressionism could be argued to be the fruition of the 'revolt of emotion against reason' followed by the total orphancy of emotion on the mishap of reason's incest indulgence with the tyrant war rationalism causing a huge catastrophe. As a result, a brigade of awareness was born as Pollock, Rothko, Klein Motherwell and Newmen whose 'transcendental empiricism' took their art to the transcendental sublime. Nasreen's art certainly fathoms the depth of the transcendental sublime where her inner turmoil seems to be calmed down into the geometrical and linear forms which autonomously arrange themselves in various ways; parallel, traverse, diagonal and so on.

Nasreen Mohemmedi's turmoil and silence validate her abstraction via phenomenological personification while her rhythmic movements of lines force the natural release of psychic energies and through this, her forms are torn open. Her forms were so torn open that they are left with the throbbing energies inspiring the newer posterity who are often loaded with their open-ended questions. Nasreen's removal of herself as the authority from her geometrical thought was possible because of her contemplative systemization of chaotic psychic energies where of course the presence of self as 'mind' would be blocking with traditional memories which are habitually ending into what colloquially is identified as 'figurative narration.'

Conclusion

Lines were the essence of Nasreen Mohamedi's work and they 'become' into open-ended form. Since Nasreen's oeuvre represents the sound of silence in a contemplative mode with the self-critical and self-sacrificial conversion of the 'curse' of 'alienation' into the 'boon' of 'sublime' and by doing so she reinvents the vintage-avant-garde of the mid-20th century west in the

India context she is reincarnated as Enigmatic Individual, hence she cannot be called as merely modernist because modernism is redirected by avant-garde she must be venerated to the category of post-avant garde. It may be argued that Geeta Kapur's comment on Nasreen's work, as being "committed to augmenting (Indian art's) iconographic resource" would be a not-up-to-the-mark veneration of Nasreen's work rather the comment should have been "personally committed to liberating her self-consciousness and by doing so adding dimension to the tradition of making 'abstract' through metaphor processed through her contemplative stasis of Zen making an aesthetic alchemy of discrete ideas of eastern transcendental materialism and western empirical materialism." This would perhaps do the justice with the due veneration of her oeuvre.

Geeta Kapur's comment about Nasreen's target being the overweening romanticism on Indian Art is arguably inappropriate because Nasreen's art is far from targeting or aiming at anything rather her entire oeuvre doesn't have any goal such as the art of Zen which she came across and assimilated and personified, which far from intentionality. To have a target one has to be intentional but Nasreen's art is non-intentional her liberated lines are the testimonial of this fact. Nor Nasreen couldn't be forced by any poetic of so-called pure abstraction if the so uttered poetic is a negative connotation. On the contrary, Nasreen's work is practising equanimity in the flux of both lethargic poeticism and hackneyed representationalism; and her work doesn't deserve Euro-centric assessment to be compared with any cliched 'purity' in terms of 'abstraction but it stands for itself a unique phenomenon, a spontaneous for the contemplative assessment but stringent for the uninhibited flamboyance of the so-called modernism. Thus, we see that the linear abstraction of Nasreen is a self-transformation into the recluse pictorial space of Zen Minimalism.

REFERENCE

Abbott, G. M. (2020, 8 19). articles/Nasreen-Mohammed-notes. Retrieved from https://bidoun.org: https://bidoun.org (Accessed on 05.06.2020)

Adkins, B. (2020, Feb 9). https://www.jstor.org/stable/10.5325/jspecphil.30.3.0352. Retrieved from www.jstor.org: https://www.jstor.org (Accessed on 05.06.2020)

College, C. H. (2019, 12 7). 22/items/sanatanadharmaad00benaiala/sanatanadharmaad00benaiala.pdf. Retrieved from www.ia800705.us.archive.org: https://www.ia800705.us.archive.org. p. 124 (Accessed on 05.06.2020)

College, C. H. Ibid., 125

Gandharva, K. (2020, 8 15). Kabir Bani: Music For Soul. Retrieved from www.kabir-bani.blogspot.com/: http://kabir-bani.blogspot.com (Accessed on 05.06.2020)

Kapur G. (2010). Ek Shok Geet: Nasreen Mohamedi. In P. Daiya, Kala Bharati (p. 567). New Delhi: Lalit Kala Akademi. Pg.260

Gahira Guruji the Pride of Purvanchal Chhattisgarh

Dr. Ramratan Sahu, Malay Ghose

ABSTRACT

It is true that when a person rises above personal selfishness and good wishes for society, the state, the country and the world, serving for its welfare and progress, then he appears like a bright lighthouse, or an angel, the ambassador of god send to serve as a savior of the humanity and society. People call them the incarnation of almighty on mother earth. Guruji too was an incarnated soul, an enlightened soul who guided the direction and gifted light to the primitive tribal society. It is for their deserving qualities and services in interest and favor of the society, that he is rewarded by the society and the government also, in the form of many symbolic awards. Gahira Guruji was one of the greatest reward for the humanity, society, culture, civilization and nation. This master from Purvanchal Chhattisgarh proved that, just as much as the world is for us, so we also are for the world.

KEYWORDS :- *Purvanchal, Collective, Immutability, Identity, Pole-star, Mastered, Savior, Signature, Kanwar, Achievement, Communities, Gateway.*

Sant Gahira Guruji toiled to improve the standard of living of the people living in forest. His socio-religious movement was call of the nature and was the connected to the ground, He preached the importance of education, religion, socio-cultural-economy, nationality etc. to the tribal society and prepared them to contribute to the mainstream. In this way, in a very limited time he succeeded in liberating a large tribal society, affected by poverty, illiteracy, evils, addictions and superstations. He brilliantly communicated real health and happiness to the backward tribes and developed a sense of progress and development by taking them out of their stagnated condition.

Gahira Guruji has represented a chain of growth on the cultural immutability of tribes without disturbing their original identity, there was no false conversion, pressure, exploitation, humiliation, manipulation and exertion. People

Associate Professor, (History), Department of Social Science, Dr. C.V. Raman University, Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G)

Research Scholar, (History), Department of Social Science, Dr. C.V. Raman University, Kargi Road, Kota, Bilaspur (C.G)

become aware on the importance of education, health, hygiene, rites, worship, values of life. Guruji realized the people about the constitutional framework of the life, its fundamentals rights and duties, for being lords supreme creation on the mother earth and universe.

Gahira Guruji who belonged himself to the kanwar tribes, from a small village Gahira surrounded by dense forests all around. So, he was intimate with life of the forest-dwelling tribes and the forest. Infect, the forest is their life. Their daily life spins and rotates around the forest. Gahira Guruji in the form of irresistible, illuminating, enlightened pole star, he showed light and direction to the primitives. He received many symbolic awards and accolades by the society and government for his rewarding selfless services for the society. He is established as a pillar of fame for his work and service for ages.

In the context of recognitions the government of Madhya Pradesh recognized Guruji on the occasion of Manav Chaturdashi Celebration. Hence, he received "Indira Gandhi National Social Service Award", in the year 1986-87. The people who were aware of the news felt great pride that for the first time a forest dweller was going to get honored for his social services.

Gahira Guruji was thoughtful about further welfare works and was busy implementing them like always. Guruji do not had any slight affect regarding any political issues. He never believed in the games of conflicts such as favor – unfavour, sorrow-happiness, victory-defeat, certainty-uncertainty, regard-disregard, love-hate, etc. he believed in being detached. Religion for Guruji means the manifestation of the divinity already in man. Guruji never mixed with the fray, he keep on holding like a witness and continued on his path without focusing on any abstractions, barriers, hurdles, false impressions, curses or boons and worked unstoppably, tirelessly like a self-conqueror, mighty warrior of life and death. He worked like a true winner. He possessed and earned that perfect control and mastered it is a heroic way. He was never unreal. Thus, he became a living god by worshipping the living gods by the dint of his selfless, unconditional dedication, determination, devotion and service. He baned the idea of privileges in human life. Thus, that was the reward for his perseverance.

Gahira Guruji expressed his inner feelings and said, "this society, this nation, this religion is mine. The land, religion and society in which I was born, that society, nation and the earth is my mother and I have resolved and committed to serve my mother. It is the natural duty of every human being. It is a felony to expect any reward for the service of one's mother. Let us all

together work selflessly and tirelessly for the society, religion and nation".

Gahira Guruji's selfless social services with complete devotion, determination and dedication, especially in the regions of purvanchal Chhattisgarh and the areas bordering it. He started a mission to end the poverty and exploitation of tribes. In Gahira he sold 70 acres of his father's land and purchased land in shrikot of district surguja, then distributed plots to the tribals from this land. He motivated people to do collective farming. He himself used to do agricultural tasks with the tribals. He instilled confidence in their minds towards advanced agricultural tasks with the tribals. He instilled confidence in their mind towards advanced agriculture. He performed all the agricultural activities like ploughing, leveling the land, embankment, till harvesting the prepared crops. He taught the people to gain increase and growth quantitatively and qualitatively in productivity. He promoted growing the trees of fruits and storage of grains. All the techniques and methods worked efficiently resulting as improvement in the economically backward condition and plight of the people. This also added in the direction of liberation of the so-called weaker and dominated sections of the society. He was a savior who freed them from the cruel bondage of moneylenders and from their exploitation and manipulation at their hands.

Gahira Guruji had proved by his innovative service experiment that even with the base of God's realization, wisdom and a little effort socio-economic changes can be possibly brought about on a large scale in the backward society. When he came to know that the evil practice of eating animal and human flesh was prevalent in the internal areas of raigarh district, he resolved to eradicate this evil practice which was a symbol of extreme backwardness. By directing and inspiring the tribals wandering in the darkness of their ignorance to take the vow of peace and service, and enlightened them in the brilliance and radiance of righteous and virtuous thoughts, love, good will. He opened several rural ayurvedic dispensaries where the patients received free treatment by wild medicinal herbs.

He secured the tribals people by making them self-reliant financially too by establishing Galla Kothiya in villages, which arranged finance at a very nominal interest rate to the rural people for their personal and professional tasks. He established different training- centers like handloom and tailoring training centers.

The government of Madhya Pradesh honored Gahira Guruji by conferring Indira Gandhi National social service award for his live,

ceaseless practice towards over-all development, growth, upliftment, and salvation of backward sections of the society. For his immortal services and welfare works even after leaving the world, Gahira Guruji was awarded with Birsa Munda Award [1996-97] by the government of Madhya Pradesh.

After such a long span of time the work done by Gahira Guruji is a legacy of social-service history. It is still standing tall and strong in the progress as a statement and signature of service with dignity, honor and pride. Gahira Guruji's organization is also gifted with many awards for its philanthropic services to society. After the formation of separate state. Chhattisgarh, the government of Chhattisgarh by taking a meaningful initiative, has announced "Vanvasi sant Gahira Guruji Maharaj Chhattisgarh Environment Award". The tribal welfare department in the series of accolades in 2004, honored Gahira Guruji's organization with "Shaheed Veer Narayan Sing Award".

MADHYA PRADESH BIRSA MUNDA TRIBAL SERVICE STATE AWARD [1996-97]

The name of the great saint Gahira Guruji is immortal in the field of social service. He was born on Shravan Amavasya Krishna Paksha, in the year 1905 in a tribal Kanwar family in gram Gahira of Lailunga development block of Raigarh district. He renounced his physical body and become one in the Brahma, when he was 92 years. His religion and worship was the service to the poor and downtrodden. His formal education was limited to alphabetic knowledge. He was attracted towards super natural powers since his childhood. His search was for the divine knowledge. His inner inspiration, at the age of eleven lead him to do spiritual practices, worship and penance with meditation. For meditation he went to a serene place known as Rat Gufa of Bagicha Development Block of Raigarh district. Earlier it was a lion's cave situated in the midst of inaccessible hills and rugged forests. It was difficult to stay there. But, Gahira Guruji found the place most suitable for his meditation as well as spiritual and religious practices. He performed his practices living at this place for 14 years. He used to survive on roots, tubers, fruits and herbs during this period.

In the gap of time this holy shrine of Gahira Guruji became popular among the people by the name of Kailash Natheshwar Cave. After arriving at Gahira he dedicated his life for the tribals. He saw the stagnation all around of all kinds. People suffered gross poverty due to economic stagnation. There was not only economic crisis, but there were social, cultural, religious, spiritual all sorts of crisis and stagnation. There the houses were also too small and stinky. Guruji went on moving and

observing the prevalent conditions and worked on the remedies. Guruji was the pioneer of novelties and revolution in the tribal region of Purvanchal areas and the bordering states.

Gahira Guruji established an institution called 'Sant samaj' for the cultural, social, educational and spiritual progress of the forest-dwelling tribes. It was founded in 1943 for the planned and complete development of the society. Ashrams, schools, hostels etc. Were established by Guruji's institution. On the basis of Guruji's sacrifice, tireless penance & perseverance the dimensions are extending far and wide to the border areas of Raigarh, Jashpur, Surguja, Bilaspur, Orissa, Uttar Pradesh, Bihar etc. The main ashrams of the organization are located at samarbar, Gahira, Lailunga, Shrikot, Ambikapur, Rajpur, Raigarh, Vishrampur, Patthalgaon, Kakna, Champa, Suplaga, Kailash cave etc. In the educational institutes various school and colleges, and hostels are run at different place, in which thousands of students enjoy the facilities like free accommodation, food, education, electricity and others. Teaching and learning are processed by the Gurukul trend of educational pattern. A Sanskrit college run by the institution is one of the biggest college of India and purvanchal Chhattisgarh, which is running since 1965. Ninety-nine percent of the students of this Sanskrit college are tribals.

Gahira Guruji's disciples belong to different tribal groups as the Gond, Kanwar, Uraon, Aghariya, Ahir etc. All of them are perfectly embodies in Guruji's ideal. He was an innovation saint whose entire life has been the epitome of selfless service and devotion. Hence, Madhya Pradesh Government honored late Gahira Guruji with 'Madhya Pradesh Bisra Munda Tribal Service State Award' for his selfless service for the overall upliftment of the tribal socity throughout his entire life.

SHAHEED VEER NARAYAN SINGH HONOUR, UPLIFTMENT IN TRIBAL AND BACKWARD CLASSES [TRIBAL CASTE WELFARE DEPARTMENT] –

The government of Chhattisgarh has established Shaheed Veer Narayan Singh Award by keeping in view the inspiring work of calling for a continuous struggle against injustice, for raising and creating awareness among the villagers in regard to their fundamental rights. Chhattisgarh government has honored the great freedom fighter, 'Shaheed Veer Narayan Singh' in the domain of tribal and backward class upliftment.

Thus, the government has awarded 'National Indira Gandhi Social Service Award', 'Bisra Munda Tribal Service Award' and 'Shaheed Veer Narayan Singh Award' respectively. 'Gahira Guru Environment Award, was instituted in the memory of param

pujya Guruji by the Government of Chhattisgarh.

Gahira Guruji always kept himself engaged in social welfare works and kept away from all other publicities and propagandas. Down-to-earth Guruji humbly declared that his work was yet to be completed at the grass root level and that he will never leave the tribal communities. So, awarding such a multi-disciplinarian was the biggest achievement for society. he was the true pride of purvanchal Chhattisgarh who set a legacy for his great service to the almighty and his creations and opened the gateway to progress for them.

References-

- Dikshit, Pushpa, (2005),Bhartiya Samaj Ke Jagruk Prahari-Ramdayal Gahira Guru, Shri Publication, Bilaspur
- Dixit Saurabh Kumar, "Community Attitude towards Tourism Development: Study of Meghalaya, India," South Asian Journal of Tourism and Heritage, Vol.7, No.2, July 2014.
- Garg, Mamta,(1993) Social Movement By Gahira Guru In Eastern Madhya Pradesh, Pt. Ravishankar Shukla University, Raipur.
- Guruji, Rameswar, 1997, Shri Chandraansh Darpan, Sanatan sant samaj , Banora
- Singh, Inder 2007, Aalekh Mahamanav Pujya Gahira Guruji, Sanatan dharma sant samaj, jaspur
- Tripathi, Abha, 2011, Social And Religious Changes In Tribes, prayag publishor Allahabad.

An Investigation Into the Administrative Style of Higher Secondary Principals and Its Effect on Campus Environment

Mr. Umang Vasani, Prof. (Dr.) Parshuram Dhaked

Abstract

The administrative style of school principals plays a crucial role in shaping the campus environment, influencing both academic outcomes and overall school climate. This research paper investigates the various administrative styles adopted by secondary school principals and examines their impact on the campus environment. Through a review of existing literature, surveys, and case studies, the paper aims to provide a comprehensive understanding of how different leadership approaches affect the dynamics of secondary schools.

Keywords : *Investigation, administrative style, higher secondary, campus environment.*

Introduction

Secondary school principals are pivotal figures in educational institutions, responsible for not only administrative tasks but also for fostering a positive and productive school environment. Their leadership style can significantly influence teacher performance, student behavior, and the overall learning atmosphere. This paper explores the relationship between the administrative styles of secondary school principals and the campus environment, highlighting the effects of different leadership approaches.

Literature Review

Administrative Styles of School Principals

Principals employ various administrative styles that can be broadly categorized into autocratic, democratic, transformational, and laissez-faire leadership.

Autocratic Leadership

Autocratic principals make decisions unilaterally and expect strict

Research Scholar, Dept. of Education, Sabarmati University
Dean Academics, Sabarmati University, Ahmedabad, Gujarat 382481

compliance from staff and students. This style can lead to a highly controlled environment but may stifle creativity and morale.

Democratic Leadership

Democratic principals involve staff and students in decision-making processes, fostering a collaborative environment. This style can enhance motivation and innovation but may sometimes result in slower decision-making.

Transformational Leadership

Transformational leaders inspire and motivate their staff and students to achieve their fullest potential. They focus on creating a shared vision and fostering a positive school culture. This style is often associated with high levels of commitment and performance.

Laissez-Faire Leadership

Laissez-faire principals take a hands-off approach, providing minimal direction and allowing staff and students considerable autonomy. While this can promote independence, it may also lead to a lack of coordination and oversight.

Impact on Campus Environment

The administrative style of principals affects various aspects of the campus environment, including teacher satisfaction, student behavior, and overall school climate.

Teacher Satisfaction and Performance

The leadership style of a principal can significantly impact teacher morale and job satisfaction. Principals who adopt a supportive and inclusive approach tend to foster a more positive and productive working environment.

Student Behavior and Academic Performance

The way principals manage disciplinary issues and academic expectations can influence student behavior and performance. A consistent and fair approach to discipline and high academic standards can promote a conducive learning environment.

Overall School Climate

The general atmosphere of the school, including relationships among staff, students, and the community, is shaped by the principal's leadership style. A positive school climate is often characterized by mutual respect, collaboration, and a focus on continuous improvement.

Methodology

This study employs a mixed-method approach, combining quantitative data from surveys with qualitative insights from interviews and case studies. The research focuses on secondary schools in diverse settings to provide a comprehensive analysis of the effects

of different administrative styles.

Data Collection

- Surveys: Distributed to teachers, students, and administrative staff to gather perceptions of the principal's leadership style and its impact on the school environment.
- Interviews: Conducted with selected principals to gain deeper insights into their administrative approaches and the rationale behind their strategies.
- Case Studies: Analysis of specific secondary schools known for their distinct leadership styles to illustrate the practical implications of different administrative approaches.

Findings and Discussion

Influence of Leadership Styles on Teacher Satisfaction

- Autocratic Leadership: Often leads to low teacher morale due to lack of involvement in decision-making and restrictive policies.
- Democratic Leadership: Enhances teacher satisfaction by promoting participation and valuing their input.
- Transformational Leadership: Highly motivates teachers, leading to increased job satisfaction and performance through inspirational and supportive leadership.
- Laissez-Faire Leadership: Can result in mixed outcomes, with some teachers appreciating the autonomy while others feel unsupported and directionless.

Impact on Student Behavior and Academic Outcomes

- Autocratic Leadership: May result in disciplined students but can also lead to rebellion and lack of engagement.
- Democratic Leadership: Generally fosters a respectful and engaged student body, with positive behavioral and academic outcomes.
- Transformational Leadership: Encourages students to excel and take ownership of their learning, resulting in high academic achievement and positive behavior.
- Laissez-Faire Leadership: Can lead to a lack of discipline and inconsistent academic performance due to insufficient oversight.

Overall School Climate

- Autocratic Leadership: Often creates a tense and hierarchical environment, which can hinder open communication and collaboration.
- Democratic Leadership: Promotes a collaborative and inclusive school climate, characterized by mutual respect and collective problem-solving.
- Transformational Leadership:

Fosters a positive and visionary school climate, with a strong sense of community and shared goals.

- Laissez-Faire Leadership: May result in a disorganized and fragmented school climate, with varying degrees of effectiveness depending on individual teacher and student initiative.

Recommendations

1. Promote Inclusive Decision-Making: Encourage principals to adopt democratic elements in their leadership to enhance teacher and student involvement.
2. Invest in Leadership Training: Provide professional development for principals to develop transformational leadership skills that inspire and motivate their school communities.
3. Ensure Balanced Autonomy: Principals should balance autonomy with adequate support and oversight to maintain a cohesive and effective school environment.
4. Foster Open Communication: Create channels for regular feedback and dialogue among all school stakeholders to ensure transparency and address concerns promptly.
5. Regular Evaluation: Implement regular assessments of the principal's leadership

References

- Government of India. (2023). *Annual Report 2022-23: Ministry of Education*. New Delhi: Ministry of Education.
- National Council of Educational Research and Training. (2022). *Challenges in Secondary Education in India*. New Delhi: NCERT.
- UNESCO. (2022). *Education for All: Global Monitoring Report*. Paris: UNESCO.
- World Bank. (2021). *Secondary Education in India: Issues and Concerns*. Washington, D.C.: World Bank.
- Interview with Dr. A. Kumar, Principal, Government Secondary School, Uttar Pradesh. (2023).

Entrepreneurship Education: Issues and Challenges

Ms. Reena, Ph.D. Scholar, Dr Akanksha Srivastava

Abstract:

A quality life is a fundamental right of every individual and education is the means to achieve it. The issue of quality of life is closely linked with access to education and economic resources. At present, India has become the most populous country in the world (data.gov.in dt. 5 June 2023). In such a situation, due to increasing needs, unemployment, and limited resources, the responsibility has increased on education (H. Ramakrishna & H Hulugappa,2013) to develop skills in students and prepare them as productive human beings and also enable them to face challenges of the future (NEP 2020). On the other hand, the sustainable development goals (SDGs) also presented a target of 2030 in front of the world to achieve issues like poverty, starvation, unemployment, etc...

In such situations, entrepreneurship education plays a crucial role. It's been over 80 years since entrepreneurship has been taught as a subject (Janowski, et. al., 2023;2020). However, the issues related to entrepreneurship education are still unresolved. The main issues are: - Can entrepreneurship be taught? Where to start? What to teach and, How to teach? These fundamental questions are still unanswered and relevant in the current scenario.

This review paper explores the above issues in light of the literature. The last 25 years of research papers were taken from various sources for this review paper. The 'entrepreneurship education in school' key term was used to filter the papers on the website. The team filtered around 135 papers at the initial level. After the refiltration, the team shortlisted 55 papers for the literature review.

Based on the literature review, the researcher finds that attitudes towards entrepreneurship can be developed through education; entrepreneurship education should be incorporated into every formal education stage and provided in an integrated manner with other school subjects. The research also suggested that competencies cannot be developed in the classroom and require experience outside the boundary wall.

Key Words: - *entrepreneurship; education; pedagogy; curriculum*

School of Education, Sharda University, Greater Noida, U.P. India

Associate Professor, School of Education, Sharda University, Greater Noida, U.P. India

Introduction

According to Article 21A of the Indian Constitution, a quality life is a fundamental right of every individual and education is the means to achieve it. The issue of quality of life is closely linked with access to education and economic resources. Highlighting the same role of education in the National Education Policy 2020, it has been said that education is the means through which the country's talent and resources can be best developed and promoted for the betterment of the nation and the world. “Education is the most important component of nation-building” (Tagore R.). At present, India has become the most populous country in the world (data. gov.in dt. 5 June 2023). In such a situation, due to increasing needs, unemployment, and limited resources, the responsibility has increased on education (H. Ramakrishna & H Hulugappa,2013) to develop skills in students and prepare them as productive human beings and also enable them to face challenges of the future (NEP 2020). On the other hand, the sustainable development goals (SDGs) issued by the UN, also presented a target of 2030 in front of the world to achieve issues like poverty, starvation, unemployment, etc...

Education is such a power that multiplies the success of efforts being made for development. So, to achieve these SDGs and to enable the child according to the needs of the 21st century, effective entrepreneurial education is required. India has emerged as a fast-emerging economy on the world platform and will be the third-largest economy in the world by 2030 in terms of GDP (IMF's October World Economic Outlook, 2019). 'Entrepreneurship is seen as the process by which individuals use resources to create new opportunities' (Roos A., 2015). According to the Report of the National Knowledge Commission on Entrepreneurship, Govt. of India (2008), entrepreneurs’ growth depends upon the quality of education imparted in the institutions. So qualitative entrepreneurial education is very important for the nation. Entrepreneurship education plays an important role in the economic development of the country. Now there are many concerns raised about the relationship between entrepreneurship and Education (Janowski et al.;2023). In the current scenario, entrepreneurial culture and education are vital for any emerging economy (Mukhtar et al,2021; Bhardwaj P.2020; H. Ramakrishna & H Hulugappa, 2013; Rehman A. & Elahi Y. A.,2012; Todd and Javalgi,2007) and entrepreneurship education & training are the pioneers for developing a culture of entrepreneurship and entrepreneurial mindset (Capote & Dinagsao,2016). For qualitative education, it is required to identify the important issues so that effective strategies can be prepared.

Methodology

This review paper explores the above issues in light of the literature. The last 25 years of research papers were taken from various sources for this review paper. The 'entrepreneurship education in school' key term was used to filter the papers on the website. The team filtered around 135 papers at the initial level. After the refiltration, the team shortlisted 55 papers for the literature review.

The Fundamental Questions About Entrepreneurship Education

The concept of entrepreneurship education was introduced in 1736, but formal education was started in 1938 by Shigeru Fijii, at Kobe University in Japan. It's been over 80 years since entrepreneurship has been taught as a subject (Janowski, et. al., 2023). But even today, the question related to entrepreneurship education is so relevant. Basu R. (2014) & Shankar, (2012) highlight the issues faced by Entrepreneurship education. These are short-term focused results, elective nature of the subject, inappropriate pedagogy, untrained teachers, limited focus on experience and a limited number of institutions. Some other pedagogy-related issues are:- Is it possible that through education an attitude towards entrepreneurship can be developed in a person? (Henry C. et. al.,2005; Harrison, 2014) or, is it possible that competencies such as: - risk-taking, creativity and innovativeness can be developed through education, which are essential for an entrepreneurial mindset? In this context, research shows that attitudes towards entrepreneurship can be developed (Janowski et.al.,2023; Basu R.,2014; Donald F. Kuratko,2003) or that some aspects of entrepreneurship can be developed through education (Henry C., Hill F., Leitch, 2005). Blenker et al. (2011) and Gibb A. (2008) raised concern about entrepreneurship education and highlighted the main issues about it which are: - the policy justification, enterprise/entrepreneurial idea, intended goals, pedagogical obstacles relating to this subject, teacher skills and ownership, conceptual alignment with educational objectives and practice, curriculum placement and integration strategies, opportunities for a transition from primary to secondary and higher education include entrances into the curriculum, alternative models for different student groups, as well as evaluation and assessment methods. Blenker et al. (2011) highlighted the crucial questions related to entrepreneurship education which the following are: -

1) What is the best way to prepare students to launch new businesses?
2) How can students be prepared to start high-growth businesses?
3) What are some ways to teach students to apply entrepreneurship to address a variety of social issues?

4) What are some strategies for teaching students to think like entrepreneurs?

These questions stem from entrepreneurial instructors' need to give effective education while also adjusting to their embedded environment. Different research trends, institutional settings, and definitions of entrepreneurship lead to varying learning objectives.

Now some fundamental questions about entrepreneurship education arise here why? What? how? And where?

- Question on why we teach entrepreneurship education

  The first question about entrepreneurship education is whether entrepreneurship is an innate tendency of humans or whether can it be developed through education. Apart from this, what are the basic objectives of entrepreneurship education? etc… related issues are included in this. Innovation, risk-taking ability, foresight etc. are the main competencies of entrepreneurship which automatically develop in humans at birth. Can entrepreneurship be taught (Harrison, 2014; Henry C.et. al. 2005)? Some research indicates that an entrepreneurial attitude can be developed (Nuryanti, B.L. et al 2016; Basu R.,2014; The Consortium for Entrepreneurship Education, Columbus, Ohio,2004; Donald F. Kuratko, 2003). While, some researchers say that most of the youth have innate entrepreneurial qualities, but they don't have the technical skills to put them into practice. These skills can be taught to them through entrepreneurship education so that their inner talent is not wasted (Trivedi, 2014).

Table 1. Relevance & importance of Entrepreneurship Education

	Individual level	Organizational level	Societal level	References
Commonly stated reasons for entrepreneurial education, but less effective in schools and for embedded approaches				
Job creation	More individuals are needed that are willing and capable to create job growth	Growing organizations create more jobs	Entrepreneurship and innovation are primary paths to growth and job creation	(Jones and Iredale, 2010, Hindle, 2007, Kuratko, 2005, Volkmann et al., 2009)
Economic success	Entrepreneurship can give individuals economic success	Organizational renewal is fundamental to every firm's long-term success	Renewal processes are fundamental to the vitality of economies	(Kuratko, 2005, O'Connor, 2008, Volkmann et al., 2009, Gorman et al., 1997)
Globalization, innovation and renewal	People need entrepreneurial skills and abilities to thrive in an ever-changing world	Entrepreneurial firms play a crucial role in changing market structures	A deregulated and flexible market requires people with higher-level general skills	(Henry et al., 2005, Jones and Iredale, 2010, Kuratko, 2005, Hytti and O'Gorman, 2004)
Rarely stated reasons for entrepreneurial education, but promising for schools and embedded approaches				
Joy, engagement, creativity	Creation / value creation / creativity is a main source of joy and pride for people	Employee creativity and joy is essential for the performance of new and existing organizations	Economic wealth of nations correlates with happiness of its citizens	(Amabile and Khaire, 2008, Amabile and Kramer, 2011, Goss, 2005, Diener and Suh, 2003)
Societal challenges	People can make a difference to society, and marginalized people can achieve economic success	Corporations can collaborate with small social entrepreneurship initiatives to create social value	Social entrepreneurship addresses problems in society that the market economy has failed to address	(Volkmann et al., 2009, Kuratko, 2005, Seelos and Mair, 2005, Austin et al., 2006, Rae, 2010)

Source: - Lackéus, M. (2015). Entrepreneurship in Education. What, Why, When, How. Entrepreneurship360, Background Paper, European Commission: OECD.

In the absence of sufficient research on this subject, it is not possible to draw any conclusion. However, entrepreneurship education must teach students how to convert original ideas into practice. Where to start? Which points should be kept in mind to reduce the risk assessment? Or how to establish yourself in the market competition by adopting innovation? Thus, entrepreneurship education supports enterprise and makes it a smooth process. Some researchers (Rashid L.,2019) say that entrepreneurship education strengthens the ability to remove poverty, establish social equality and enrich economic development.

According to some other researchers (Lackeus M. 2015; Tattwamasi P. 2005; Krisner 1973, 1982), making self-sufficient, creating employment opportunities, qualitative change in lifestyle, environmental protection etc. are also the objectives of entrepreneurship. Globalization and technological advances have increased the demand for entrepreneurs and employees with an entrepreneurial mindset in the international world (Goshen-Olgun S. et.al.,2022; Kuratko et. al.,2015).

- **Question on What to teach**
  Entrepreneurial education supports enterprise development (Agrawal V K,1995). In such situations the questions of 'what to teach and how to teach' become important (Ronstadt, 1987). According to Agrawal V K (1995), The curriculum, which has great significance in education, must not be a mere repository of facts; rather, it ought to have real-world applications. Adha et al. (2023) highlighted the concern that the academic and theoretical material in current teaching techniques is excessive, and there aren't enough practical components to support a business-minded mindset. Now what should be included in the curriculum of entrepreneurship education? Along with this, what should be the proportion of Theory and Practicum in it? etc. related issues remain relevant even today. Thus, student-centric learning methods, practical knowledge, and entrepreneurial understanding are required to boost students' entrepreneurial intentions.

Some researchers (Tattwamasi P.,2005) said that both components should be given equal weightage. The Consortium for Entrepreneurship Education, Columbus, Ohio (2004), advocated that real entrepreneurs' stories, discussions with them, apprenticeships etc should be incorporated into the curriculum.

Table 2. What to teach at the school level in entrepreneurship education

S. No	Content	Reference
1.	Real entrepreneurs' stories, narratives; repertoires, Interviews, and discussions with entrepreneurs	Adha et al. (2023), SCERT of GNCT Delhi (2019); Blenker et al. (2011), The Consortium for Entrepreneurship Education, Columbus, Ohio (2004); Kuratko,2003; Gartner, 2001
2.	Interact with people outside the school boundary	Lackeus M.,2015

- **Question on How to teach**

The Consortium for Entrepreneurship Education, Columbus, Ohio (2004), highlighted that 'entrepreneurship education is beneficial for wealth creation. It also develops different skills, abilities, self-esteem, and work environment. Arasti Z. et al. (2012) stated that the knowledge and skill of an educator to use various teaching methods, particularly those linked to teaching entrepreneurship, have a major role in the effectiveness of entrepreneurship education. According to Nuryanti, B.L. et al (2016), there are several methods to develop an entrepreneurial mentality, and learning outside of the classroom is one of them. Some researchers (Anđelković A. K et al 2020; Bhardwaj P. 2020; Nadelson L. S.et al 2018; Natuna D. A.& Rinaldi 2017; Tadvi V & Magre S 2016; Basu R. 2014) argue that it should be provided in an integrated manner with other school subjects whereas some researchers stated that it should be taught as a stand-alone subject (Ntsanwisi & Mnisi.2021; Almahry F.F. et al.2 018; Tattwamasi P. 2005).

Table 3. How to teach entrepreneurship education: As a subject or in a transdisciplinary manner

S. No	Different views	Researchers
1.	As a separate subject	Ntsanwisi & Mnisi (2021); SCERT of GNCT Delhi (2019); Almahry F.F. et al (2018); Tattwamasi P. (2005);
2.	In a Trans-disciplinary manner	Anđelković A. K et al (2020); Bhardwaj P. (2020); Nadelson L. S.et al (2018); Natuna D. A.& Rinaldi (2017); Tadvi V & Magre S (2016); Basu R. (2014); Ruskovaara, E. et al. (2014); Lackeus M. (2015); National Curriculum

		framework, 2005, MoE, Govt of India; The Consortium for Entrepreneurship Education, Columbus, Ohio (2004);
3.	In the form of Extracurricular subject	Floris M. et al, (2023)

Now here, competent and trained teachers are the basic requirement of any education system. The first condition for the transition to an enlightened curriculum is a change in teacher competencies, skills, knowledge and attitudes (Focus Paper on Teacher Education, 2009). Effective education of any subject depends on its effective implementation and this implementation depends on the efficiency, skill, training, attitude etc. of the teachers. Shankar (2012) has highlighted the paucity of trained teachers as a major constraint in entrepreneurship education in India. Malywanga; Shi & Yang (2020) revealed that business management-related pedagogical approaches were commonly used in the entrepreneurial classroom. The lecture method was followed which affects the goals of producing competent entrepreneurs. Diaz (2019) suggests that there is a time to change the teaching approach to addressing contemporary change. Rajput V. (2020) found that the use of experience methods and the learning-by-doing methods used in the pedagogy of entrepreneurship education could improve their entrepreneurial competencies, make them more confident and equip them with a can-do attitude towards starting a business of their own. Whereas Arasti (2012) found that group projects, case studies, individual projects, the development of a new venture creation project, and problem-solving are the teaching methods used by faculty. However, Gatchalian (2010) stated that entrepreneurship education experts gave more importance to individualised experience and methods like project-based learning. Sherman, Sebora & Digman (2008) stated that the experimental approach also provided a realistic experience of being an entrepreneur. Whereas traditional approaches like reading and lecture methods have shown a weak relationship with students' career choices. Some prevailing pedagogical practices followed for teaching entrepreneurship education are as follows: -

Table. 4. Prevailing Pedagogies in Entrepreneurship Education

S. No	Teaching Method	Reference
1	Experimental approaches	Costa et. al. (2024); Neck et al, (2014); Sherman, Sebora & Digman (2008).

2	Experiential Method	Ghafar (2020); Lackeus M. (2020); Malywanga; Shi & Yang (2020); Rajput (2020); Tadvi V & Magre S (2016); Canziani B. et al (2015); Rushworth S. (2011); Gatchalian (2010);
3	Project-based learning	Gatchalian (2010)
4	Design thinking method	Zupen, Cankar & Cankar (2018)
5.	Discovery Learning	Nuryanti, B.L. et al (2016),

A common consensus among researchers is that giving opportunities to learners to work in an interdisciplinary manner and interact with people outside the school boundary wall is an effective way to build entrepreneurial competencies in learners (Lackeus M.,2015). The integration of new subjects in the curriculum is an important requirement by which contemporary issues can be addressed. But due to this, the load of subjects on the children increases. So the better option can be to include them in the curriculum through the already existing subjects and ongoing curricular activities (National Curriculum framework, 2005, page 34). However, some researchers feel that the transdisciplinary transition of this subject does not meet the nature of the subject and the demands of the community. So, it should be included as a separate subject. An urgent need emerges here for how to comprehend entrepreneurship education in the ongoing curriculum (Fejes et.al.,2018).

- **Question on Where to start**
  Entrepreneurship education can help foster economic growth. But for this, effective entrepreneurship education is an essential condition. Some research shows that entrepreneurial competencies in human behaviour can be induced and controlled by external factors, therefore it is necessary to teach entrepreneurship in schools, from an early age (Tattwamasi P.,2005; National Knowledge Commission, 2008; Kautonen et al.2015) So, entrepreneurship education must be incorporated into every stage of formal education.

Table 5. School Level from where we endorse entrepreneurship education

S. No	School Level	Reference
1.	Primary Level	Floris M. et al, (2023); Anđelković A.K et al (2020); Zupen, Cankar & Cankar (2018); Polenakovikj R. et al., (2016); Ruskovaara, E. et al. (2014); Tattwamasi

		P. (2005)
2.	Secondary Level	New Education Policy of India (2020), SCERT of GNCT Delhi (2019); Kirkley, W.W. (2017);
3.	Higher Secondary Level	Bhardwaj P. (2020); Natuna D. A.& Rinaldi (2017)

Apart from these pedagogical issues, several other issues are also affecting entrepreneurship education such as: - inappropriate pedagogy, untrained teachers, and limited focus on experience are the main challenges in entrepreneurship education (Basu R, 2014). Rehman A.; & Elahi Y. A. (2012) also highlighted various challenges in the field of entrepreneurship education like cultural barriers, dependency on the government, Lack of standard framework, incomplete entrepreneurship education, difficult start-ups, etc...

Conclusion: -

After reviewing the literature, some important issues arise here like: - How to teach entrepreneurship? What should be the effective teaching pedagogy related to entrepreneurship education (Lackeus M. 2020; Blenker et al. (2011)? Should the transition of entrepreneurship education be limited within the school premises or should it be taken outside the school boundary and organized in the community? Should entrepreneurship education be included in the curriculum as a special subject or given in a transdisciplinary manner with other subjects? Now, it can be concluded that entrepreneurship education is beneficial for enhancing students' entrepreneurial purpose, learning, practical knowledge, and entrepreneurial understanding. A collaborative framework of education is required between universities and primary schools to face social challenges. Teachers are crucial in operationalizing entrepreneurship education and identifying best practices. So, high legitimacy among teachers about entrepreneurship education is required for qualitative education in the discourse of entrepreneurship education. Teachers frequently used roleplay, brainstorming, problem-solving, networking, and use of case studies. The literature work also suggested that educators and policymakers should give sufficient time to assess the effect of various pedagogical methods for boosting competencies related to the entrepreneurship mindset. The research also suggested that competencies cannot be developed in the classroom and require experience outside the boundary wall.

REFERENCE

- Adha H. V. et al (2023) “Analysis of the Factors that Impact on Student Entrepreneurial Intention on

Entrepreneurship Study Programs in West Sumatera", Jurnal Manajemen Universitas Bung Hatta Vol. 18, No. 02, July 2023. ISSN: 1907-6576 (print) ISSN: 2615-5370 (online).

- Albornoz, C, and Rocco, T.S 2009, Revisiting Entrepreneurship Education Literature: Implications for Learning and Teaching Entrepreneurship, Proceedings of the Eighth Annual College of Education & GSN Research Conference PP.2-7.
- Almahry F.F. et al,2018, A REVIEW PAPER ON ENTREPRENEURSHIP EDUCATION AND ENTREPRENEURS' SKILLS. Journal of Entrepreneurship Education. Print ISSN: 1098-8394; Online ISSN: 1528-2651.
- Anđelković A. K.et al (2020). 'DEVELOPING ENTREPRENEURIAL COMPETENCIES IN STUDENTS AND TEACHERS BY STIMULATING CREATIVITY'. https://www.researchgate.net/publication/34312740.
- Arasti Z.et al 2012; A Study of Teaching Methods in Entrepreneurship Education for graduate Students, Higher Education Studies Vol. 2, No. 1; March 2012; ISSN 1925-4741 E-ISSN 1925-475X
- Balabuch, P., de Francisco, A. C., Pinheiro, E., Sokulski, C. C., & Aires, J. P. 2019. Developing Professional Skills of the Convict through Entrepreneurship Education. Creative Education, 10, 3329-3344. https://doi.org/10.4236/ce.2019.1013256.
- Bhardwaj P. (2020). PhD Thesis, https://doi.org/10.1016/j.ijme.2019.100358
- Canziani, B., Welsh, D.H.B., Hsieh, Y., & Tullar, W. 2015. What pedagogical methods impact students' entrepreneurial propensity? Journal of Small Business Strategy, 25(2), 11-42.
- Capote V; Dinagsao A V 2016 Teachers' Entrepreneurial Competence and Knowledge of Business Management, International Journal of Science and Research (IJSR) ISSN (Online): 2319-7064; Volume 5 Issue 12, December 2016.
- Caroline E.W. Glackin and Steven E. Phelan 2020 Improving entrepreneurial competencies in the classroom: an extension and in-study replication; New England Journal of Entrepreneurship Vol. 23 No. 2, 2020 pp. 79-96 Emerald Publishing Limited 2574-8904 DOI 10.1108/NEJE-04-2020-0005.
- Corbett, A. 2011. Find your own way: entrepreneurship course development, strategic fit, and the problems of benchmarking. International Journal of Entrepreneurship and Small Business, 13(1), 18-31.
- Díaz, E.R., Sánchez-Vélez, C.G., & Santana-Serrano, L. 2019. Integrating The Five Practices of Exemplary Leadership Model into Entrepreneurship Education. The International Journal for the Scholarship of Teaching and Learning, 13, 10.
- Deepti,2018, "Teaching competence of secondary school teachers about their role conflict Vocational maturity and attitude towards Teaching". Dept. of Edu. MD University. http://hdl.handle.net/10603/298582.
- Ernest K; Matthew S K; & Samuel A. K 2015; Towards Entrepreneurial Learning Competencies: The Perspective of Built Environment Students; Higher Education Studies; Vol. 5, No. 1; 2015 ISSN 1925-4741 E-ISSN 1925-475X.
- Fejes A; Nylund M; & amp; Walli, J 2019 How do teachers interpret and transform entrepreneurship education, Journal of Curriculum Studies, ISSN 0022-0272, E-ISSN 1366-5839, Vol. 51, no 4, p. 554-566
- Floris, M., Dettori, A., & Reginato, E. (2023). Budding entrepreneurs. The role of university in spreading early entrepreneurial mindset in school kids. National Accounting Review.
- Ghaffar S. 2020 'Convergence between 21st Century Skills and Entrepreneurship Education in Higher Education Institutes' International Journal of Higher Education,

Vol. 9, No. 1;2020
- Göksen-Olgun, S., Groot, W., & Wakkee, I. (2022). Entrepreneurship programs and their underlying pedagogy in secondary education in the Netherlands. Entrepreneurship Education, 5, 261 - 287.
- H. Ramakrishna H Hulugappa, (2013). Entrepreneurship Education in India: Emerging Trends and Concerns. Journal of Entrepreneurship and Management. Volume 2 Issue 1 February 2013.
- https://www.iitms.co.in/blog/importance-of-pedagogy-in-teaching-and-learning-process.html.
- https://www.edudel.nic.in/mis/eis/frmSchoolList.aspx?type=8v6AC39/z0ySjVIkvf DJzvxkdDvmSsz7pgALKMjL3UI=
- https://sdgs.un.org/
- Huang, Y, An, L, Liu, L Zhuo, Z and Wang, P 2020 'Exploring Factors Link to Teachers' Competencies in Entrepreneurship Education' International Conference on Education and Educational Psychology ICEEPSY 2010, Procedia Social and Behavioural Sciences 12 2011 436–447
- Janowski, A., Gonchar, O., & Yakovyshyn, R. (2023). Education vs. Entrepreneurship – Between Theory and Practice: The Case of SMEs in Poland. E&M Economics and Management, 26(1), 111–125. https://doi.org/10.15240/tul/001/2023-1-007.
- John A. Dobson Clark University, Jacobs Seton Hill University, Dobson. L, Saint Francis Xavier University,2017 'Toward an Experiential Approach to Entrepreneurship Education' Journal of Higher Education Theory and Practice Vol. 17(3) 2017.
- Jovanovski, B.R., Beinhauer, R., Valentic, E., & Kiendl, D. (2020). Development of successful entrepreneurial education initiatives enabled by EU-funded projects - The case of FH JOANNEUM. Economics.
- Kirkley, W.W. (2017). Cultivating entrepreneurial behaviour: entrepreneurship education in secondary schools.
- Lackéus, M. (2015). Entrepreneurship in Education. What, Why, When, How. Entrepreneurship360, Background Paper, European Commission: OECD.
- Luísa, M., & Gatchalian, B. 2010. An In-depth Analysis of the Entrepreneurship Education in the Philippines: An Initiative Towards the Development of a Framework for a Professional Teaching Competency Program for Entrepreneurship Educators.
- Malywanga, J., Shi, Y. C., & Yang, X. P. 2020. Experiential Approaches: Effective Pedagogy "for" Entrepreneurship in Entrepreneurship Education. Open Journal of Social Sciences, 8, 311-323. https://doi.org/10.4236/jss.2020.82024
- McGrath, G. R., & MacMillan, J. (2000). Entrepreneurial Mindset: Strategies for Continuously Creating Opportunity in an Age of Uncertainty. Brighton, MA: Harvard Business School Press Books.
- Miranda C; et al(2020 Seven Challenges in Conceptualizing and Assessing Entrepreneurial Skills or Mindsets in Engineering Entrepreneurship Education , Educ. Sci. 2020, 10, 0309; doi:10.3390/educsci10110309; www.mdpi.com/journal/education.
- Mojab, F, Zaefarian, R, Azizi, A.H.D, 2011, Applying Competency-based Approach for Entrepreneurship education, Procedia Social and Behavioural Sciences 12 2011 436–447
- Morris, M.H, Justin, W.W, Jun, F, and Singhal.S 2013, A Competency-Based Perspective on Entrepreneurship Education: Conceptual and Empirical Insights, Journal of Small Business Management 2013 51(3), pp. 352–369.
- Mukhtar, S., Wardana, L., Wibowo, A., & Narmaditya, B.S. 2021. Does entrepreneurship education and culture promote students' entrepreneurial intention? The mediating role of an entrepreneurial mindset. Cogent Education, 8.
- Nadelson et al.2018Developing Next Generation of Innovators: Teaching Entrepreneurial Mindset Elements across Disciplines, International Journal of Higher

Education Vol. 7, No. 5; 2018; ISSN 1927-6044 E-ISSN 1927-6052; http://ijhe.sciedupress.com.

- National Knowledge Commission Report 2008, Govt of India
- National Education Policy 2020, MHRD, Govt of India.
- Natuna D. A.& Rinaldi (2017), 'The Competency of Teacher Entrepreneurship in Teaching'.
- Ntsanwisi, S; & Mnisi S.S; 2021 TEACHERS' PERCEPTIONS ON THE IMPORTANCE OF ENTREPRENEURSHIP EDUCATION TO LEARNERS IN SOUTH AFRICAN SCHOOLS, Proceedings of EDULEARN21 Conference 5th-6th July 2021; ISBN: 978-84-09-31267-2
- Nuryanti, B.L. et al (2016), 'Growing Up Entrepreneurial Mindset with Discovery Learning Model Development'. 1st Global Conference on Business, Management and Entreupreuneurship (GCBME-16), Advances in Economics, Business and Management Research, volume 15.
- Pesonen et. al., (2004). 'Evaluation of entrepreneurial development coaching: changing the Teachers' thinking and action on entrepreneurship'. Annals of Innovation &Entrepreneurship, 3:1, 17211, DOI: 10.3402/ aie.v3i0.17292.
- Pizzaro. N 2014, 'An Institutional and Pedagogical Model That Foster Entrepreneurial Mindset Among College Students' Journal of Entrepreneurship Education, vol.17, Number2, 2014
- Pretorius, M., Nieman, G., & Vuuren, J.J. 2005. Critical evaluation of two models for entrepreneurial education: An improved model through integration. International Journal of Educational Management, 19, 413-427.
- Rajput V. 2020, Role of Pedagogical Practices in Entrepreneurship Education for New Venture Creation in India, http://hdl.handle.net/10603/311756.
- Rehman A.UR. et al. (2012). Entrepreneurship Education in India – Scope, challenges and Role of B-schools in Promoting Entrepreneurship Education. International Journal of Engineering and Management Research, Vol. 2, Issue-5, October 2012 ISSN No.: 2250-0758
- Ruskovaara, E., & Pihkala, T. (2014). Entrepreneurship Education in Schools: Empirical Evidence on the Teacher's Role. The Journal of Educational Research, 108, 236 - 249.
- SCERT, Delhi.2019," Entrepreneurship Mindset Curriculum Framework", Class 9-12, ISBN:978-93-85943-78-2.
- Sherman et.al 2008, EXPERIENTIAL ENTREPRENEURSHIP IN THE CLASSROOM: EFFECTS OF TEACHING METHODS ON ENTREPRENEURIAL CAREER CHOICE INTENTIONS, Journal of Entrepreneurship Education, Volume 11, 2008.
- Seikkula-Leino, J., Ruskovaara, E., Ikävalko, M., Mattila, J., & Rytkölä, T. (2010). Promoting entrepreneurship education: the role of the teacher? Journal of Education and Training, 52, 117-127.
- Sirelkhatim F. & Gangi Y. 2015; Entrepreneurship education: A systematic literature review of curricula contents and teaching methods; Cogent Business & Management, 2:1, 1052034, DOI: 10.1080/23311975.2015.1052034.
- Tadvi V.& Magre S. 2016, 'A STUDY OF SECONDARY SCHOOL TEACHERS ENTREPRENEURIAL MOTIVATION IN RELATION TO THEIR ENTREPRENEURIAL COMPETENCIES'. Int. J. Adv. Res. 4(12), 350-353, ISSN: 2320-5407: http://dx.doi.org/10.21474/IJAR01/2401
- Tattwamasi P. (2005). Entrepreneurship Education in India: Needs for Policy Interventions .6th Biennial Conference on Advances & Trends in Entrepreneurship Research, organised by EDI, Ahmedabad,2005.
- Zupan B, Cankar F, Setnikar Cankar S.2018. The development of an entrepreneurial mindset in primary education. Eur J Educ. 2018; 53:427–438. https://doi.org/10.1111/ejed.12293

Educational Administrative Problems of Higher Education Institutes in India

Ms. Sejal Chavda, Prof. (Dr.) Parshuram Dhaked

Abstract

Higher education institutions (HEIs) in India are pivotal for the nation's socio-economic progress. However, these institutions face numerous administrative challenges that hamper their efficiency and effectiveness. This research paper delves into the primary administrative issues affecting higher education in India, including governance, funding, infrastructure, faculty management, and policy implementation. Through an analysis of existing literature, government reports, and case studies, this paper aims to provide a comprehensive overview of these challenges and propose potential solutions to enhance the administration of HEIs in India.

Keywords: *Education, Administrative problems, higher education, governance.*

Introduction

Higher education in India is essential for developing skilled professionals and fostering research and innovation. Despite significant advancements in expanding access to higher education, Indian HEIs contend with various administrative challenges that affect their overall performance. This paper examines these challenges in detail, offering insights into systemic issues and proposing measures to address them effectively.

Literature Review

Governance and Leadership

Effective governance and leadership are critical for the smooth functioning of HEIs. However, Indian HEIs often suffer from bureaucratic inefficiencies, lack of transparency, and inadequate leadership.

Bureaucratic Inefficiencies

Administrative processes in many HEIs are hindered by excessive bureaucracy, leading to delays in decision-making and policy implementation.

Lack of Transparency

The absence of transparent processes in areas such as faculty recruitment, student admissions, and financial management fosters an environment prone to corruption and mismanagement.

Research Scholar, Dept. of Education, Sabarmati University

Dean Academics, Sabarmati University, Ahmedabad, Gujarat 382481

Inadequate Leadership

Leadership at HEIs frequently lacks the necessary training and vision to navigate the complexities of modern higher education, affecting institutional development and innovation.

Funding and Resource Allocation

Adequate funding is crucial for the development and maintenance of HEIs. However, Indian HEIs face significant challenges related to funding and resource allocation.

Insufficient Government Funding

Many HEIs depend heavily on government funding, which is often insufficient and irregular, leading to financial instability and underfunded programs.

Inequitable Resource Distribution

There is a significant disparity in resource allocation between elite institutions and other HEIs, resulting in inequality in educational quality and opportunities.

Infrastructure and Facilities

Infrastructure is a vital component of an effective educational environment. Many HEIs in India lack the necessary infrastructure to support modern educational practices.

Outdated Facilities

Many HEIs operate with outdated infrastructure, including classrooms, laboratories, and libraries, which hampers the quality of education and research.

Inadequate Maintenance

Poor maintenance of existing facilities exacerbates the problem, leading to deteriorating conditions that affect both students and staff.

Faculty Management

Faculty are central to the academic and research activities of HEIs. Issues related to recruitment, development, and retention of faculty are significant administrative challenges.

Recruitment Challenges

The recruitment process in many HEIs is often non-transparent and slow, leading to faculty shortages and impacting the quality of education.

Professional Development

There is a lack of adequate professional development opportunities for faculty, hindering their ability to stay updated with the latest advancements in their fields.

Retention Issues

Low salaries, lack of career progression, and poor working conditions contribute to high turnover rates among faculty, affecting institutional continuity and performance.

Policy Implementation

The effective implementation of

educational policies is crucial for the success of HEIs.

However, many policies are either poorly implemented or not implemented at all.

Policy Gaps

Significant gaps between policy formulation and implementation lead to inconsistencies in educational practices and standards.

Resistance to Change

Resistance to change among stakeholders, including faculty and administrators, hampers the successful implementation of new policies and reforms.

Methodology

This research employs a mixed-method approach, combining quantitative data from government reports and educational statistics with qualitative insights from interviews with administrators, faculty, and students. Secondary data analysis and case studies from various regions of India provide a comprehensive understanding of the administrative challenges faced by HEIs.

Data Collection

- Surveys: Conducted among faculty, staff, and students at various HEIs to assess their perceptions of administrative problems and their impact on the educational environment.
- Interviews: Conducted with college administrators and policymakers to gain insights into their experiences and perspectives on administrative challenges.
- Case Studies: Analysis of specific HEIs known for their administrative practices and challenges to illustrate the issues and potential solutions.

Findings and Discussion

Governance and Leadership

- Bureaucratic Inefficiencies: Excessive bureaucracy in HEIs leads to slow decision-making and policy implementation, affecting institutional efficiency.
- Lack of Transparency: Non-transparent processes result in corruption and mismanagement, undermining the credibility and effectiveness of HEIs.
- Inadequate Leadership: Many HEIs suffer from a lack of visionary leadership, affecting their ability to innovate and adapt to changing educational needs.

Funding and Resource Allocation

- Insufficient Government Funding: Irregular and inadequate government funding leads to financial instability and underfunded programs, affecting the quality of education and research.
- Inequitable Resource Distribution: Significant disparities in resource allocation between elite and

other HEIs result in inequality in educational quality and opportunities.

Infrastructure and Facilities

- Outdated Facilities: Many HEIs operate with outdated infrastructure, hindering the quality of education and research.
- Inadequate Maintenance: Poor maintenance of existing facilities leads to deteriorating conditions, affecting the learning environment and overall institutional performance.

Faculty Management

- Recruitment Challenges: Non-transparent and slow recruitment processes lead to faculty shortages, impacting the quality of education.
- Professional Development: Lack of professional development opportunities prevents faculty from staying updated with the latest advancements in their fields.
- Retention Issues: Low salaries, lack of career progression, and poor working conditions contribute to high turnover rates, affecting institutional continuity and performance.

Policy Implementation

- Policy Gaps: Significant gaps between policy formulation and implementation lead to inconsistencies in educational practices and standards.
- Resistance to Change: Resistance among stakeholders to adopt new policies and reforms hampers the successful implementation of educational changes.

Recommendations

1. **Enhance Governance and Leadership:** Streamline administrative processes to reduce bureaucracy, increase transparency in decision-making, and invest in leadership training programs for college administrators.
2. **Increase Funding and Ensure Equitable Distribution:** Allocate more financial resources to HEIs and ensure equitable distribution between elite and other institutions to reduce disparities.
3. **Improve Infrastructure and Facilities:** Invest in updating and maintaining infrastructure to provide a conducive learning environment.
4. **Strengthen Faculty Management:** Implement transparent recruitment processes, provide professional development opportunities, and improve working conditions to attract and retain qualified faculty.
5. **Effective Policy Implementation:** Bridge the gap between policy formulation and implementation through regular

monitoring and evaluation, and address resistance to change by involving all stakeholders in the reform process.

Conclusion

Addressing the administrative problems of HEIs in India is crucial for improving the overall quality of higher education. By focusing on enhancing governance and leadership, increasing funding, improving infrastructure, strengthening faculty management, and ensuring effective policy implementation, India can overcome these challenges and foster a robust higher education system that contributes to the nation's socio-economic development.

References

- Government of India. (2023). Annual Report 2022-23: Ministry of Education. New Delhi: Ministry of Education.
- National Assessment and Accreditation Council (NAAC). (2022). Assessment and Accreditation of Higher Education Institutions in India. New Delhi: NAAC.
- University Grants Commission (UGC). (2021). Guidelines for the Management of Higher Education Institutions. New Delhi: UGC.
- World Bank. (2020). Higher Education in India: Issues and Challenges. Washington, D.C.: World Bank.

A Critical Study of Neutralizing Mother Tongue influence on English in a Multilingual Class

Dr.Vinay Bhogle

Abstract:

Due to India's diverse cultures and multitude of languages, the monolingual technique is not suitable. While several languages own their own alphabets, others do not. Amidst these challenging circumstances, Indian students must acquire a comprehensive education in their own language while also developing proficiency in spoken English. India's education system is currently experiencing numerous transformations. The necessity for multilingualism in English schools has become urgent. To ensure the comfort of pupils with varied cultural backgrounds and mother tongues, English should be taught using their respective mother tongues. It is imperative for instructors to employ their creativity and explore additional methods to enhance the appeal and effectiveness of teaching and learning in a bilingual/multilingual English classroom. This study addresses the challenges of teaching English in a classroom with students who speak many languages, explores the benefits of multilingualism, and suggests innovative methods to integrate multilingualism into an English classroom to enhance teaching effectiveness.

Keywords: *Multilingualism, Mother tongue, course, cultural diversity, pedagogy, methodology.*

Introduction:

India is a country characterized by its rich cultural diversity and a wide array of languages. According to the 1961 census, India possesses about 1652 distinct mother tongues, which can be classified into five distinct language families based on their genetic origins. The presence of numerous languages has made multilingualism an essential aspect. Liwei states that language is an inherent ability of humans that develops in conjunction with our evolution. Implementing monolingualism in India is not feasible. English has long coexisted with all the indigenous languages of India, predating independence. In the current globalized era, bilingualism/ multilingualism has become a

Associate Professor, English, Degloor College, Degloor

common practice for learning, and India is not exempt from this trend.

Multilingualism is a common characteristic of human beings. Approximately 75% of the global population naturally speaks two or more languages. The principle has become blurred in many regions of Europe due to the effects of colonial history. It is imperative that we promptly reaffirm and effectively apply multilingualism in practical ways, as in today's society, being able to speak only one language is not an advantage but a disadvantage.

A multilingual class has pupils from diverse social and cultural backgrounds, each with their own mother tongue and regional languages. For instance, in a tribal college, there is a diverse student body with varying socioeconomic and cultural origins. Some students speak tribal languages, even if they do not have a written script. Additionally, there are students who speak Telugu and a handful who speak Urdu. A heterogeneous class of this nature typically has a language barrier, preventing students from effectively communicating with one another or resolving doubts in their native language. Another issue arises while attempting to comprehend other courses due to the diverse mother languages of students, which hinders their shared knowledge. Each discipline may employ its own specialized vocabulary within its respective field. The sole means of contact among these students is exclusively in the common language of English. This situation really provides an opportunity for students to step out of their comfort zone and attempt to use the common language, regardless of their fluency level.

Cultural disparities can serve as an effective icebreaker for discourse. This cultural disparity can serve as a catalyst to initiate discussions on other subjects such as the diverse festivals of India or the distinct cuisines, and can offer fresh insights in multiple domains for students. In a monolingual classroom, the atmosphere might become tedious due to the pupils' mutual understanding, which is not a result of their accurate language usage, but rather due to their shared errors. For instance, in a classroom consisting entirely of tribal children, there may be a common issue with pronunciation or difficulty in articulating certain sounds in English. However, despite mispronunciations, the students are still able to comprehend what their classmates are reading. However, if a student is in a multilingual class, it is necessary for them to enunciate all the sounds accurately in order to be comprehensible to their classmates. This will enhance the pupils' proficiency in oral communication by improving their speaking and listening skills. The learning capacity exhibits variation across different cultures and among individual students. The

multilingual class offers a chance for diverse groups to gather and acquire new methodologies. To acquire proficiency in the English language, individuals must step out of their linguistic comfort zone and engage in conversation primarily in their native tongue. It is well-established that the mother tongue has a significant impact on one's ability to speak English. Many words are mispronounced as a result of individuals' native language.

Teachers' reluctance to modify pedagogy:

Pattanayak argues that the idea of using a single dominant language for instruction results in many children being unable to read and write in their native language, and also leads to poor performance in the dominant language. Undoubtedly, language plays a significant role in the occurrence of school dropouts and the lack of progress in education. The prevalence of illiteracy, particularly in tribal regions, may largely be linked to the adoption of a single dominant language within a state and the absence of effective language planning.

Currently, educators or teachers at the undergraduate level predominantly employ the Monolingual technique for instruction. Students at a lower academic level tend to prioritize marks above other aspects, which may be one reason why they struggle to concentrate on learning a language. According to the majority of educators, while multilingualism might be advantageous in life, it poses a significant obstacle in teaching methods. However, in the current situation, it is imperative that we embrace multilingualism in our educational approach wholeheartedly.

Within an English classroom, the instructor has the ability to integrate various tactics such as narratives, enigmas, aphorisms, melodies, and other methods to render the lesson comprehensible and captivating. The students can enhance their English language proficiency using these strategies as they facilitate the establishment of linkages between new English terms and corresponding words in their native or local language. This strategy will aid students in achieving proficiency in the English language. Furthermore, this is explicitly endorsed by the National Curriculum Framework of 2005. By engaging in this practice, we may not only support the development of our local languages but also foster the growth of our culture. Additionally, learners will be able to maintain our multilingual approach. This strategy will enhance the effectiveness of language learning.

The English teacher of a multilingual class needs to be resourceful if she wants to help her students overcome linguistic barriers caused by cultural differences.

Ruthz. Hauzel emphasises

the importance of comprehending the medium and context of our teaching, as well as understanding the student's background, in order to ensure that our instruction supports rather than hinders the student's potential. The book titled "Cultural Diversity and the Classroom" by Viva Books in 2017, with a page count of 166, discusses the importance of multilingual education in India, specifically focusing on the case for English. Utilizing the first language (L1) in an English classroom offers numerous advantages. In fact, the integration of L1 might enhance the acquisition of L2 among students. "Teaching L2 is not simply instructing the student on adding rooms to a house by constructing an extension at the rear; it is akin to reconstructing internal walls." It suggests that the construction of the house will undergo certain modifications. The attempt to categorize languages into distinct compartments within the mind is destined to be unsuccessful, as these compartments are interconnected in several ways.

According to Cook's analysis L1 does not possess distinct storage space within the brain; instead, all components are interconnected. These forms have mutual influence on each other and on the overall system as a whole. The global landscape is undergoing fast changes, necessitating a corresponding evolution in the education system. In light of the increasing multilingualism in the globe, it is imperative that education, particularly English language instruction, adjusts to accommodate this positive shift for future generations. Education must adapt to the requirements of the job market in order to address the current state of incompetence, helplessness, and frustration in society. By integrating education with practical skills, we might potentially alleviate these issues.

Potentialities:

English language teaching should incorporate innovative techniques to achieve harmonization between English and local languages. The classroom activities for effective English instruction should be tailored to the individual capabilities of the pupils. Teachers must cultivate an environment in which all students can acquire language skills on an equal basis. However, due to the effect of their home tongue, pupils may comprehend the material differently. Students in the community have diverse mother tongues. It is not advisable to assign identical activities to all students. The teacher should ensure that the learners have been furnished with the requisite English abilities and that we have supplied them with a suitable framework for learning.

Another viable approach to enhance learning outcomes is

to produce bilingual/multilingual textbooks. This would facilitate favorable results and also assist teachers in engaging with students, eliminating the need to consult numerous research volumes. According to the United Nations Convention on the Rights of the Child (UNCRC) in 1989, it is essential to protect the language and cultural rights of children. It is their basic right to have access to their full range of languages, not just as a temporary support or a tolerated method, but as a recognition of their diverse linguistic identity, as a means to improve their social and economic welfare, and as an acknowledgement of their ability to choose how they want to learn a new language.

Several educators have proposed additional activities that can be incorporated into a multilingual English classroom. The students can utilize their native language competency to enhance their second language skills. The learner's L1 can serve as a catalyst for using L2 (English) in the classroom. The L2 text does not necessarily have to be completely monolingual; it can also include code-switching.

Conclusion:

India is a heterogeneous country that values and celebrates its "Unity in diversity." Link languages play a crucial role in uniting disparate civilizations. Language is regarded as a symbol of any civilization. English, first introduced to India as the language of colonizers, has now established a significant presence in the lives of Indians. Undoubtedly, English is the predominant language in the academic world, and being multilingual can greatly assist non-native English speakers in effectively acquiring the language.

References

McKay, P. (2006). Assessing young language learners. Cambridge: Cambridge University Press.

Mohanty, A. K. (1994). Bilingualism in a multilingual society: Psycho-social and pedagogical implications. Mysore: Central Institute of Indian Languages.

Nag, S. & Sircar, S. (2008). Learning to read in Bengali: Report of a survey in five Kolkata primary schools. Bangalore: The Promise Foundation.

Path. N. & Bhaag, C. (2002). An integrated text cum work-book for Class IV. Guwahati: The Assam State Textbook Production and Publication Corporation Limited.

In A. D. Cohen & E. Macaro (Eds.). Language learner strategies: Thirty years of research and practice (pp. 141-160). Oxford: Oxford University Press.

SCERT (2002). Natun Path (Chaturtha Bhaag) [An integrated text cum work-book for Class IV

Guwahati: The Assam State Textbook Production and Publication Corporation Limited.

Pattanayak, D. P. (1981). Multilingualism and mother tongue education. Delhi: Oxford University Press.

Prasad, N. K. (1979). The language issue in India.Delhi: Leeladevi Publications.

Srivastava, A. K., Shekhar, R. & Jayaram, B. D. (1978).The language load. Mysore: Central Instituteof Indian Languages.

Echoes Through Time: The Evolution of Western Rhythm from Medieval Chant to Modern Minimalism

Rajnish kumar Tiwary & Dr. Chandan Vishwakarma

Abstract

This article delves into the captivating journey of rhythmic evolution in Western music, tracing its development from the Medieval period to the contemporary era. Starting with the foundational rhythmic modes of the Medieval period and the revolutionary mensural notation of the Renaissance, the study highlights the intricate rhythmic interplay in the polyphonic works of composers like Léonin, Pérotin, and Josquin des Prez. The Baroque period's formalization of meter, exemplified by Bach and Vivaldi, set the stage for the Classical period's balanced and expressive rhythms, as showcased by Mozart and Beethoven. The Romantic era brought bold experimentation with irregular meters and syncopation, pushing emotional expression to new heights through the works of Brahms, Tchaikovsky, and Wagner. Moving into the 20th century, composers like Stravinsky and Bartók redefined rhythmic boundaries, while jazz, funk, and hip-hop introduced innovative rhythmic languages. This article explores these transformative phases, demonstrating how rhythmic practices have continuously evolved to shape the rich tapestry of Western music.

Keywords : *Rhythmic evolution, Medieval rhythmic modes, Mensural notation, Baroque meter, Classical rhythmic structure, Romantic syncopation, 20th-century rhythmic innovation, Cross-cultural influences, Polyphony*

Introduction

Rhythm, the heartbeat of music, has undergone a remarkable evolution throughout Western history. From the sacred halls of medieval cathedrals to the vibrant stages of contemporary concert halls, the development of rhythmic practices reflects a dynamic journey through time. During the Medieval period, rhythmic modes laid the groundwork for structured musical timing, as seen in the Notre Dame school's polyphony. The Renaissance brought a revolution in notation, with mensural and proportional systems enabling composers to craft intricate, independent rhythms.

The Baroque era witnessed the formalization of meter and time

Research scholar, B.H.U.
assistant professor, B.H.U.

signatures, with composers like Bach and Vivaldi pushing the boundaries of rhythmic complexity. The Classical period refined these advancements, with Mozart and Beethoven exemplifying clarity and innovation in their rhythmic expressions. The Romantic period broke free from tradition, embracing irregular meters, syncopation, and rhythmic displacement to convey profound emotional narratives.

As we moved into the 20th century, composers like Stravinsky and Bartók redefined rhythmic norms, drawing on diverse cultural influences and experimental techniques. Jazz, funk, and hip-hop further revolutionized rhythm, integrating swing, polyrhythms, and innovative beat patterns. This article embarks on a journey through these pivotal periods, exploring how the evolution of rhythm in Western music has shaped and enriched our auditory experience across centuries.

Medieval Period

The evolution of rhythm in Western music began during the Medieval period, spanning roughly from the 5th to the 15th century. During this time, rhythmic modes were the primary means of organizing the duration of notes. These modes were somewhat analogous to the modern concept of meter, providing a structured approach to rhythm in an era before the widespread use of written musical notation. Rhythmic modes, derived from poetic meters, were essentially patterns that repeated within the structure of a piece, creating a sense of order and predictability (Hoppin, 1978).

The use of rhythmic modes can be seen in the music of the Notre Dame school of polyphony, particularly in the works of composers such as Léonin and Pérotin. Their compositions, which include the "Magnus Liber Organi," showcase the early use of these rhythmic structures, contributing significantly to the development of polyphonic music (Apel, 1961). This period also saw the emergence of the motet, a form that often utilized complex rhythmic interplay between different vocal lines.

Renaissance Period

The Renaissance period, spanning from the 15th to the early 17th century, brought significant advancements in the precision and complexity of rhythmic notation. One of the most important developments was the introduction of mensural notation. This system allowed for more accurate representation of rhythm and meter, enabling composers to write more intricate and varied rhythmic patterns (Reese, 1959).

Mensural notation provided a means to notate the exact duration of notes and rests, which was a significant departure from the more ambiguous rhythmic modes of the

Medieval period. This development led to greater rhythmic independence between voices in polyphonic music, exemplified by the works of composers such as Josquin des Prez and Palestrina. Their music often featured intricate rhythmic interplays and syncopations that were facilitated by the new notational system (Gleason & Becker, 1981).

Moreover, the Renaissance period saw the increasing use of proportional notation, allowing for different note values to be easily combined and compared. This facilitated the composition of more complex rhythmic structures and the exploration of rhythmic variety within a single piece. Composers began to experiment with techniques such as hemiola, where the perception of meter shifts temporarily, adding to the rhythmic richness of the music (Fuller, 1998).

The innovations in rhythmic notation during the Renaissance not only allowed for greater musical complexity but also laid the groundwork for the rhythmic practices of later periods. The precision and flexibility of mensural notation would evolve into the time signatures and rhythmic notation used in Baroque, Classical, and subsequent Western music traditions.

Baroque Period

The Baroque period (1600-1750) marked a significant evolution in the use of rhythm and meter in Western music. During this time, the adoption of regular time signatures and the formalization of meter became more pronounced, allowing composers to explore more intricate and complex rhythmic structures.

Johann Sebastian Bach and Antonio Vivaldi were among the most prominent composers of the Baroque era, both of whom utilized sophisticated rhythmic patterns in their works. Bach's music often features intricate counterpoint and rhythmic variation, as exemplified in his "Brandenburg Concertos" and "The Well-Tempered Clavier" (Boyd, 2000). Vivaldi, known for his virtuosic violin concertos, such as "The Four Seasons," employed rhythmic drive and energy that propelled the music forward, creating a sense of movement and excitement (Talbot, 2011).

The use of basso continuo, a continuous bass line that provides harmonic support, also became a defining characteristic of Baroque music. This practice allowed for greater rhythmic freedom in the upper voices, as the steady bass line anchored the harmony and meter. Composers experimented with rhythmic syncopation and hemiola, where the perceived meter shifts between duple and triple, adding to the rhythmic complexity and dynamism of the music (Little & Jenne, 1991).

Classical Period

The Classical period (1750-1820) saw further refinement and development of rhythmic concepts established during the Baroque era. Composers of this period sought clarity, balance, and form, which influenced their approach to rhythm and meter. The music of Wolfgang Amadeus Mozart and Ludwig van Beethoven exemplifies the expressive potential of rhythm and meter during the Classical era.

Mozart's compositions often feature elegant and balanced phrases with clear rhythmic structures. His use of rhythm contributed to the overall sense of form and symmetry in his music. For example, in his symphonies and operas, Mozart employed rhythmic motifs that help to define the character and mood of each piece (Keefe, 2006). The rhythmic interplay between different instrumental sections in his orchestral works demonstrates his mastery of rhythmic clarity and precision.

Ludwig van Beethoven, on the other hand, pushed the boundaries of rhythmic expression even further. His music is characterized by dramatic rhythmic contrasts and innovations. In works such as his "Symphony No. 5," Beethoven uses the famous four-note motif to drive the entire movement, creating a sense of urgency and momentum (Solomon, 2001). Beethoven's later compositions, including his piano sonatas and string quartets, explore complex rhythmic structures and syncopations that were groundbreaking for his time (Lockwood, 2003).

The Classical period also saw the standardization of time signatures and the development of forms such as the sonata, symphony, and concerto, which relied on clear and structured rhythmic frameworks. These forms allowed composers to experiment within established conventions, leading to greater rhythmic variety and innovation.

Romantic Period

The Romantic period (1820-1900) was a time of significant expansion and innovation in the use of rhythm and meter in Western music. Composers of this era sought to express a wide range of emotions and narratives, often pushing the boundaries of traditional rhythmic structures to achieve their artistic goals.

Irregular and Asymmetrical Meters

One of the key developments during the Romantic period was the experimentation with irregular and asymmetrical meters. Unlike the more predictable and regular meters of the Classical period, Romantic composers began to use meters that disrupted the regular flow of the music, adding an element of surprise and complexity. Johannes Brahms was particularly known for his use of such meters. In his symphonies and chamber works,

Brahms frequently employed complex rhythmic patterns and cross-rhythms that created a sense of tension and unpredictability (Musgrave, 1985).

For instance, in his "Hungarian Dances," Brahms incorporates folk rhythms that often shift and change unexpectedly, reflecting the lively and dynamic nature of the source material. This use of irregular meters helped to convey the vibrant and sometimes turbulent emotional landscape characteristic of Romantic music (Musgrave, 1985).

Syncopation and Rhythmic Displacement

Syncopation and rhythmic displacement became prominent techniques during the Romantic period. Composers used these methods to break away from the regular accentuation patterns of the Classical era, creating music that felt more spontaneous and expressive. Pyotr Ilyich Tchaikovsky, for example, often employed syncopation to add dramatic emphasis and emotional intensity to his works. In pieces like his "Symphony No. 6" (Pathétique), Tchaikovsky's use of syncopation and off-beat accents contributes to the overall sense of longing and melancholy (Brown, 1991).

Rhythmic displacement, where the expected strong beats are shifted to create a sense of imbalance, was another tool used by Romantic composers to enhance the expressive quality of their music. This technique can be found in the piano music of Frédéric Chopin, whose nocturnes and etudes often feature melodies that seem to float above an irregular accompaniment, creating a dreamlike and introspective atmosphere (Rosen, 1995).

Emotional Expression and Dramatic Narratives

The Romantic period's emphasis on emotional expression and dramatic narratives was reflected in the rhythmic complexity of the music. Composers used rhythm to depict various emotional states, from the serene and contemplative to the turbulent and agitated. Gustav Mahler, for instance, used intricate rhythmic structures to convey the vast emotional and philosophical themes in his symphonies. In his "Symphony No. 5," the juxtaposition of different rhythmic patterns and the use of shifting meters help to create a narrative arc that is both compelling and deeply moving (Mitchell, 2002).

Richard Wagner's operas also exemplify the Romantic approach to rhythm. Wagner's use of leitmotifs—recurring musical themes associated with specific characters or ideas—is often supported by complex rhythmic patterns that enhance the dramatic effect of his music. The "Ride of the Valkyries" from "Die Walküre" features driving rhythms and syncopations that heighten the sense

of urgency and action (Millington, 1992).

20th Century and Beyond

The 20th century witnessed profound changes in the approach to rhythm in Western music. This era was marked by innovation and experimentation, with composers and musicians exploring new rhythmic possibilities and breaking away from traditional conventions.

Composers and Rhythmic Innovations

Igor Stravinsky was a pivotal figure in transforming rhythmic practices. His ballet "The Rite of Spring" (1913) is renowned for its complex rhythms and irregular meters. Stravinsky employed shifting accents and unpredictable rhythmic patterns to create a sense of primal energy and dissonance, which was revolutionary at the time (Stravinsky, 1947). The piece's use of asymmetric meters and polyrhythms challenged the established norms of Western classical music and influenced countless composers who followed.

Béla Bartók also made significant contributions to the development of rhythm in the 20th century. His incorporation of Eastern European folk music elements introduced new rhythmic structures to Western classical music. Bartók's "Mikrokosmos" and "String Quartets" are notable for their use of additive rhythms and irregular meters, reflecting the complexity of the folk traditions he studied (Cooper, 1955).

John Cage, a leading figure in the avant-garde movement, pushed the boundaries of rhythm through his exploration of chance operations and indeterminacy in music. Cage's works often featured unconventional rhythmic structures and the use of silence as an integral component. His piece "4'33"" challenges traditional notions of rhythm and timing by focusing on ambient sounds during the silence, thus redefining the concept of musical rhythm (Pritchett, 1993).

Jazz and Popular Music

Jazz and popular music genres played a crucial role in redefining rhythmic practices in the 20th century. The incorporation of swing, syncopation, and polyrhythms became central features, influencing a wide range of musical styles.

Jazz introduced a new rhythmic language with its emphasis on swing and syncopation. Swing, characterized by a lilting rhythm and off-beat accents, became a defining feature of jazz music. Artists like Duke Ellington and Charlie Parker utilized syncopation and complex rhythmic interplay to create dynamic and engaging music (Schuller, 1968).

Popular music genres, such as rock, funk, and hip-hop, further expanded rhythmic possibilities. Funk music, pioneered by artists like James

Brown, emphasized the "one" beat and intricate rhythmic patterns, creating a danceable and infectious groove (Vincent, 1996). Hip-hop, emerging in the late 20th century, brought new approaches to rhythm through the use of sampled beats and rhythmic vocal delivery known as rapping.

Cross-Cultural Influences

The 20th century also saw increased cross-cultural influences on Western rhythm. Composers and musicians drew inspiration from non-Western musical traditions, incorporating diverse rhythmic elements into their work.

Steve Reich and Philip Glass, prominent figures in the minimalist movement, were influenced by African and Indian rhythmic practices. Reich's "Drumming" and Glass's "Music in Twelve Parts" showcase the use of repetitive rhythmic patterns and phasing techniques, creating a hypnotic and meditative effect (Potter, 2000).

Conclusion

The evolution of rhythm in Western music is a testament to the ingenuity and creativity of composers across centuries. Beginning with the structured rhythmic modes of the Medieval period and the precise mensural notation of the Renaissance, rhythm has continually transformed, reflecting the changing artistic and cultural landscapes. The Baroque era's formalization of meter and the Classical period's pursuit of clarity and balance laid the groundwork for the expressive freedom of the Romantic era, where irregular meters and syncopation conveyed deep emotional narratives. The 20th century brought unprecedented innovation, with composers like Stravinsky and Bartók challenging traditional rhythmic conventions and genres like jazz, funk, and hip-hop introducing new rhythmic complexities.

Throughout these periods, cross-cultural influences and technological advancements have enriched rhythmic practices, contributing to a diverse and dynamic musical heritage. As we look to the future, the exploration and experimentation with rhythm will undoubtedly continue, reflecting the ever-evolving nature of music itself. This historical journey not only highlights the technical advancements in rhythmic notation and composition but also underscores the profound impact of rhythm on the emotional and expressive power of music.

References

- Hoppin, R. H. (1978). Medieval Music. Norton.
- Apel, W. (1961). Gregorian Chant. Indiana University Press.
- Reese, G. (1959). Music in the Renaissance. Norton.
- Gleason, H. A., & Becker, W. (1981). Music in the Middle Ages and Renaissance. Frangipani Press.
- Fuller, S. (1998). The European Musical Heritage 800-1750. Indiana University

Press.
- Boyd, M. (Ed.). (2000). J.S. Bach. Oxford University Press.
- Talbot, M. (2011). The Vivaldi Compendium. Boydell Press.
- Little, M., & Jenne, N. (1991). Dance and the Music of J.S. Bach. Indiana University Press.
- Keefe, S. P. (2006). Mozart in Vienna: The Final Decade. Cambridge University Press.
- Solomon, M. (2001). Beethoven. Schirmer Books.
- Lockwood, L. (2003). Beethoven: The Music and the Life. W.W. Norton & Company.
- Musgrave, M. (1985). The Music of Brahms. Oxford University Press.
- Brown, D. (1991). Tchaikovsky: The Man and His Music. Pegasus Books.
- Rosen, C. (1995). The Romantic Generation. Harvard University Press.
- Mitchell, D. (2002). Gustav Mahler: The Early Years. University of California Press.
- Millington, B. (1992). The Wagner Compendium: A Guide to Wagner's Life and Music. Thames and Hudson
- Sachs, C. (1953). Rhythm and Tempo: A Study in Music History. W.W. Norton.
- Cooper, G., & Meyer, L. B. (1960). The Rhythmic Structure of Music. University of Chicago Press.
- . Stravinsky, I. (1947). Poetics of Music in the Form of Six Lessons. Harvard University Press.
- Cooper, D. (1955). The Music of Béla Bartók. Faber and Faber.
- Pritchett, J. (1993). The Music of John Cage. Cambridge University Press.
- Schuller, G. (1968). Early Jazz: Its Roots and Musical Development. Oxford University Press.
- Vincent, R. (1996). Funk: The Music, The People, and The Rhythm of The One. St. Martin's Press.
- Potter, K. (2000). Four Musical Minimalists: La Monte Young, Terry Riley, Steve Reich, Philip Glass. Cambridge University Press.

A Stuty on the behavioral pattern of Muslim women related to different aspects in the state of Manipur.

Dr. Khutheibam Seema

Abstract:

According to Biology Online Dictionary "Educational Status means Educational Attainment or Level of Education of Individuals".

According to Oxford Dictionary, "Status is the position or rank of someone or something when compared to others in a society, organization, group, etc." According to Linton, 'a status is a position in a particular pattern. It is entirely correct to speak of each individual as having many statuses since each individual expresses several ways. However, unless the term is qualified, the status of any individual means the total of all statuses he occupies. It represents his position to the society.' Linton perceives role as a dynamic component of status. Thus, the role an individual plays or does not leads to a change in status.

According to Zaniecki, a person who is needed by a social circle and possesses the qualities required for the role he is needed for has a definite social status. Giddens 'status is the honor or prestige which other members of the society accord a particular group. Giddens also feels that this status and prestige may be positive or negative. Status is directly connected with the role played by a person. If the position is recognized as necessary, the status will improve automatically. The present study is confined to investigating the development of the educational status of Muslim women in the Imphal East District of Manipur.

The present research work will focus on the educational status of Muslim women in the Imphal East District of Manipur. Manipuri Muslim women are significant contributors to economic as well as political space. The present research work is to investigate the changing educational status of Manipuri Muslim women. The attitude of Muslims towards girls' education gradually changed, and there was a considerable increase in the enrolment of Muslim girls' in general courses of higher education.

Introduction:

Women's education was not overlooked in ancient Manipur. Parents were primarily responsible for their daughters' education. Manners, court language, administration, and

Assistant Professor, Dhanamanjuri University

even fighting ability were all imparted to young women. Mothers instructed their daughters how and when to embroider, weave, and care for their homes. The girls went to Sinaipham (Skillset), where they learned how to spin, embroider, and weave. The females learned manners, traditions, and customs in addition to the specific talent or craft. Every effort was made to instill the spirit of holiness in both boys' and girls' minds (Hudson, T.C. 2010, p. 24-25).

Muslim women ought to be educated for a healthy and happy life. In addition, educated women can be better human beings, prosperous mothers, and responsible citizens (Hazra, M., 2018, IJISSH, p. 40-41). The Muslim community was similarly late to the game when it came to education. The Muslims in Manipur acknowledged the need for education after the state was annexed by India. They began sending their children to government and missionary-run schools and colleges. Muslim women were admitted to academic fields, although their numbers were small. The first Muslim Maulvi appeared in Manipur around the nineteenth century (Administrative Report, 1907-1908, p. 75-99).

Review of Related literature:

Kamei, (2008) examined on, "Historical study of Muslim women in Manipur".

The objectives of the study were: -

(i) To trace the historical migration of the Muslim of Manipur.
(ii) To study and analyze the role and status of women in the dynamic social structure of the Muslim community in Manipur.
(iii) To examine the status of Muslim women of Manipur with regard to the application of Islamic law.
(iv) To assess women's contribution to the economy.

The study followed the Historical method of research. Data were gathered through focus group discussion, personal interviews, documentary analysis and field survey.

The findings of the study were as below: -

(i) Muslim women are general have a limited role to play indecision making and their freedom is curbed largely as free association with men outside of the family. On the social front, Muslim women in Manipur are at great disadvantage compared with their counterparts of other communities. The foremost duty of an exemplary Muslim woman is to serve her husband and instruct her children about moral and religious values and Islamic etiquette with respect to dress, food, manners, customs etc. Even though women in Manipur play a vital role in building up and strengthening of Muslim, society in the status in the state is debatable one. They belong

to the minority community and their status is low when compared to other groups of women in the state.

(ii) Muslim women in Manipur strictly follow the Islamic religion in their daily lives. After attaining adolescence, girls were taught hymns for prayer at home separately by their mother or female relatives if the mother was dead. All women from 13 years of age and above perform the five times prayers daily inside the house, preceding the prayer by ritual cleaning of the body and using clean cloths. During Ramazan, they continue with those daily prayers despite fasting and the necessity of preparing food after when the fast is broken and early morning before sun rise. They rise for prayer whenever they have the call for it in the early hours of the public use and consumption.

(iii) The Manipur Muslim women participate in multi-fold economic activities. Besides attending to domestic duties women works in the field for long hours. Women also cultivate, vegetables of various kind in the kitchen garden and sells then in the market to meet the daily needs of the family. Moreover, Muslim women are adept at poultry for domestic and public use and consumption.

The most striking features of the Muslim women in the economy are their acute sense of business in the local market. They sell commodities of various kinds ranging from homegrown vegetables to rice, fish, eggs etc., and earn a merger profit out of it.

Muslim women become economically active at the age of fifteen. Often young girls' children can be seen carrying bunches of groceries or vegetables and thrusting them for sale at passby. Some Muslim women also take up weaving for their own family and for sale, which consist of chadder, phanek, shawls, bedding materials, mosquito nets etc. Muslim women are visible in the public domain and although, they make significant contributions to the economy, their returns are not consummated with time and labour they expend.

Devi, (2008) performed a research on, "a comparative study of child rearing practices of Meitei, Tribal and Muslims in the urban and rural areas of the valley districts of Manipur".

The objectives of the study were: -

(i) To conduct cross-cultural study of child rearing practices of Meitei, Muslim and Tribal mothers and to find out where there is any difference in the child rearing practices adopted by the mothers of the three communities.

(ii) To find out whether there is any difference in child rearing practice among the mothers with different levels of education

(iii) To find out whether there is any difference in child rearing practices among the mothers with different levels of family income

(iv) To find out whether there is any difference in child rearing practice between the working and no-working mothers

(v) To find out whether there is any difference in child rearing between the mothers inhabited in urban and rural areas.

The study followed the descriptive survey method. The data were gathered through the process of interview and participant observation. The data were analyzed and interpreted using statistical techniques such as chi-square (X2) test, and Kolmogrov Smirnov (KS) tests.

The main findings of the study were: -

(i) Percentage of mother initiating breast-feeding within 1(one) hour is highest among Tangkhul community.

(ii) The percentage of mothers introducing pre lacteal feeds to their infants is highest among the Meitei Pangal (Muslim) community

(iii) More urban Meitei mothers gave feeds to their children than their rural counterparts.

(iv) Majority of the mothers of all communities' practices exclusive breast-feeding for 4 to 6 months. The percentage of mothers practicing exclusive breast feeding is highest in the Tangkhul community

(v) Majority of the mothers introduced semi-solid food to their children at the age 4 to 6 months. The percentage of mothers introducing semi-solid foods to their children within the age 4 to 6 months is highest in the Meitei community

(vi) Majority of the mothers of Meitei and Rongmei community breast-fed babies for 2 to 3 years. Whereas, in case of rural Meitei Pangal (Muslim) and rural Tangkhul mothers, majority of them breast-fed their babies for 1 and 2 years. Data also indicate longer duration do breast feeding by the urban Meitei, Meitei Pangal (Muslim) and Tangkhul mothers than their rural counterparts

(vii) Majority of the Meitei mothers started toilet training their children within one-half to two years. Majority of the Meitei Pangal (Muslim) and Rongmei mothers started toilet training their children within one to one half years. For the Tangkhul community toilet training starts after 2 years in the majority of children

(viii) The percentage of mothers who spanked their child in toilet training is highest Meitei Pangal (Muslim) community. The percentage of mothers who train their child with patience and

reasoning is highest in Meitei community.

Salam Irene's Book "The Muslims of Manipur" (2010), in this book the first chapter deals with the coming of Muslims in Manipur during the time King Khagemba and their marriage to Meitei women, adoption of Meitei culture as well as assimilation of Muslim men in Meitei society and reason for the nomenclature "Meitei Pangal". In the second chapter she focuses on social life of Muslims which includes education, marriage, death, position of Muslim women, Mehr, Divorce, dress, health etc. In the third chapter, she focuses on the role of Muslims in the economy and the contribution of Muslim in the economy of the state like fishery, Poultry farming, Pottery and economic contribution of Muslim women and their role in development. In the fourth chapter of this book the author, give emphasis on the culture, region and laws of Muslim community. In the fifth and last chapter, she deals with the administration governance and political participation of Muslims in Manipur and role of Muslim women in each field. Further, she made a conclusion that the positions of women present a kind of dichotomy. Most of the Muslim women are work for a living, they are mobile, do not adopt purdah, and take active part in democratic movements on issues. However, at home, although they make decisions relating to household management, and they play little or no role in decisions making. But, socio-economic indexes today show that the Manipuri Muslims are lag behind, especially in the fields of Education, Science, Technology, Mass Communications, Health, Standard of living. Special incentives, measures and programmes are needed to enable the Muslims to come into their own, especially the Muslim women. Governmental and no-governmental Agencies have made a start, but much more needs to be done to empower the Muslim.

Keddie, (2011) presented in her research paper, the stories of three female Muslim educators actively engaged in empowering Muslim girls in their school/Community liaison roles. The stories are drawn from a broader qualitative and predominantly interview-based research project that investigated issues of teaching and social justice in three English schools. Through lenses that recognize the dynamic, complex and contradictory narratives that shape Muslim girls. Identities, the paper draws attention to the women's discursive positioning and, in particular, low such a positioning generates "framing discourses" that both shut down and open up possibilities to support Muslim girls. The first story illustrates how the discursive position of "Ashley", a white, Western woman who has recently converted

to Islam. Generates "incomplete framing discourses" that homogenize the girls, culture and thus ignore or de-legitimize significant issues of race and ethnicity in the girls, lives. The second story provides an account of: Abida's" and "Sati's" discursive positioning as women of Pakistani and Bangladeshi heritage. Their alternative framing discourses bring to light and give status to the range and complexity of the discourses that shape the girls' identities. In juxtaposing these stories, the paper highlights the importance of educators being conscious of and critically examining their own discursive positioning in their construction and support of Muslim girls; and draws attention to the continued imperative of disrupting the epistemic privilege of Western informed views of female empowerment and of listening to feminist voices from the margins.

Hossain, Md. I. (2012) presented a study on "Muslims women of West Bengal: An enquiry into their Minority Status". The study was to examine the socio-economic situation of the largest religious minority population compared to religious minorities of the state and the status of Muslim women of West Bengal in particular. The study finds out that the socio-economic status of Muslim in various districts of West Bengal and the factors which remain barriers in their development and social change and the situation of Muslim women of West Bengal.

Md. Maqbul Ali, observation on, "Pangal Women: Social Challenges and Education" (2013). The study mainly focused on the structure of family, marriage and other social system of Muslim community. It further scrutinizes the government initiatives, social challenges, level of education and factors affecting education of women in the community. He argues that the practice of dowry, polygamy and divorce cause instability in the family. He asserts that the practice of dowry, there are compactions on mobilizing maximum dowry amongst the household in the Manipuri Muslim society. This has become a burden to the girl childbearing parents at large. Muslim women faced social challenges like dowry, polygamy, divorce that ultimately disturbs the family structure and polygamy among Muslim is mainly misused and abused. However today because of the rise of nuclear families and the high cost of living polygamy is not greatly practiced. Divorce is minimal but it adversely affects the family. As such the social challenges affect the Muslim women, family, education and over all development of Muslim women.

Dr. K. Kunjani Devi, (2014) in her study on, "Dawn of Muslim women education at Lilong (Manipur State, India)".

The main objectives of the study were: -

(i) To make justification how the

Muslim women in rural areas of Manipur try to join in the social development by getting their education since early period

(ii) To focus the important roles played by the Muslim leaders in bringing female education of the community by establishing Lilong Haoreibi college in the Muslim dominated areas of Manipur

(iii) To bring out distinguish persons' doctors, civil services, political leaders etc. From the single college in the Muslim dominated areas

(iv) To get all round advancement both to individuals and society through formal education

(v) To make the educated and salaried Muslim women half-share of men in their families through education

The study mainly based on historical methodology of research using both primary and secondary sources and interview and questionnaire are used for collection of data for the study.

Some major findings of the study were: -

(i) Status of Muslim women have been low because of social structure and economic problems.

(ii) Muslim leaders of Lilong area discussed and performed various meetings for establishing a co-educational college for the sake of future generation and established Lilong Haoreibi College in the local area of Lilong

(iii) The male Muslim come to importance of female education to bring progress to the community and encouraged Muslim women by felicitations and giving awards.

Salam Irene, (2014) 'Women of Manipur- an Alternative Perspective', in this book, she is focusing on the contradiction inherent in popular beliefs that women in Manipur enjoy a high status. The common perception is that Manipuri women enjoyed a very high position especially in comparison to other parts of India, but there is a dichotomy in the public and private sphere with regard to women's status. Women representatives at the grassroots level are usually only nominal figureheads and it is the men who make the actual decisions. This applies to Muslim women elected to the Gram Panchayat and Zilla Parishads too. Manipuri societies being patriarchal, Muslim women do not have decision-making powers at home except in relation to household activities. Muslim women in Manipur are at a great disadvantage compared to their counterparts in other communities. Rigid patriarchy, social customs and traditions, like restriction on movement, early marriage and misuse of personal laws particularly on talaq, adoption and guardianship of children, maintenance and inheritance, have hindered the social empowerment of women.

Firdaus Bano, (2017) examined on, "Educational status of Muslim women in India: An overview". The study deals with the educational status of Muslim women and to explore the future directions and strategies for integrating women in their life. The study argued that the Muslim women are lag behind with their male counterparts and women of other communities. The study also shows that according to the census 2011, the literacy rate of Muslim women is only 51.9%, which is lower than all the other communities are. The study also argued that Muslim have the highest dropout rate in the country, Muslim students' out of the 25 under-graduate students and one out of the 50 postgraduate students. The study discusses some causes of literacy among Muslim they are: -

(i) Poor economic condition of the parents.
(ii) Had to look after their young siblings and old ailing ones
(iii) Teaching and learning procedure in the schools are not attractive and effective
(iv) Failing to enjoy individual attention of teacher due to poor student-teacher ratio
(v) Interests of the girls' education is subdued by that of marriage at early age
(vi) Lack of female teacher in a school
(vii) Engaged in wage earning activities to help their parents
(viii) Parents are illiterate and ignorant about importance of education of their girl child
(ix) Schools are not available within walking distance and closer to the place of dwelling. Parents are a bit reluctant due to the feeling of insecurity
(x) Parents also do not see the value of educating daughter who would get married and remain a housewife

The study made conclusion that there is need of policy innovations for Muslim women to improve their level of education. The paper also calls for assessments of social developments in various states and educational policy should be organized properly before farming.

Feroza Syed, (2017) a study on, "Muslim women in Manipur Society: Changes and Challenges". In her study focuses on the Muslim women in Manipur, and she argue that compared to women of other communities; lag behind in almost all socio-economic, political and educational aspects. In addition, the rigid patriarchy and many social customs and traditional like restriction on their movements, early marriage, misused of personal laws have hindered immensely the social status of Muslim women in Manipur. Manipuri Muslims are more disadvantaged and inferior compared to Muslim men in legal status related to marriage, divorce, adoption and guardianship of children, maintenance and inheritance. In the

economic aspect, Muslim women shaped their significant economic role in the state. Changing economic condition along with urbanization, migration, fragmentation of lands and new family structure has tremendously changed the economic activities of the Muslim women in Manipur. She also argued that Muslim women were not educated for various reasons such as poverty, religious considerations, early marriage and lack of awareness so there is no option of continuing schooling after marriage. Regarding political aspect, Muslim women showed their faith to Indian democratic system in a large scale; many Muslim women are coming forward playing politics at the village and municipality level as Members, Pradhans, and Zila-Parishads.

In present day, Muslim women are aware of the changing situation and its demands, now they aspire to achieve equal status and empowerment by utilizing the opportunities of education and its values through the government initiative and intervention. The role state is much more crucial for their upliftment and to remove their most backward status. The state can make available the scale of investment received for the universalisation of education especially for Muslim women as their education demand higher investment in terms of more facilities, more women teachers, separate schools, transport and scholarships. As far as higher education is concerned, the most important long term correct their deficit is to increase school completion among Muslim women. The Muslim community should take the initiative role and work with full dedication and sincerity for the development and upliftment of Muslim community in general and Muslim women in particular.

Objectives of the present Study:

i) To study the attitudes of Muslim women and their significant levels towards different aspects.
ii) To study the attitudes of Muslim women in relation to Education, Parents-child relationship, Politics, Status of women, Marriage, Religion, Socio-cultural factors.

Hypotheses of the present study:

i) The Muslim women had positive attitudes, and their significant levels are different towards different aspects.
ii) The Muslim women had positive attitudes in relation to Education, Parents-child relationship, Politics, Status of women, Marriage, Religion, Socio-cultural factors.

Population and Sample of the Study:

The present study is confined to the Muslim women population residing in Imphal-East District under the 3 (three) sub-divisions, namely Keirao Bitra, Sawombung, and Porompat.

The Muslim women who have passed matriculation (10th) and above shall be taken as educated, and those below shall be uneducated. Again, under-educated has been further classified into three categories viz., highly educated (Graduate and above), Average (12 passed), and Below Average (10 Passed) under uneducated it has been classified into two categories viz and married and Unmarried for the present study. A stratified random sampling technique has been employed, and for the sample data, a total of 600 Muslim women, 200 samples (100 educated and 100 Uneducated) each from the three Sub-Divisions are collected.

Tool Used:

i) Comprehensive Modernization Inventory (CMI-AK) was developed by Dr. S.P. Ahluwalia and Dr. A.K. Kalia.

Statistical Technique Used:

i) For finding out the Muslim women's attitudes towards different aspects (education, politics, parent-child relationship, status of women, marriage, faith in God, socio-cultural factors) by adopting CMI- AK, scale and percentage method, Z-test and t-test have been used.

Delimitations of the present Study:

i) The present study has been confined to Imphal East District, Manipur.
ii) The present study has been confined only to Muslim women residing in Imphal-East District.
iii) For the present study, the selected Muslim woman has been limited to 18-50 years.

Table 1 : Showing the attitudes of Muslim women towards different aspects (education, parent-child relationship, politics, status of women, marriage, religion, socio-cultural factors) in Imphal-East District

Comprehensive Modernization Inventory (CMI)							
Sl. No.	**Category**	**Education Level**	**No. of Sample**	**Score**	**Z-Score**	**Grade**	**Women's Opinion Status Level**
1	Educated	Highly Educated	75 (12.50%)	13168 (13.50%)	+0.84	C	High Opinion
2		Average	101 (16.83%)	16084 (16.49%)	-0.22	D	Average Opinion
3		Below Average	124 (20.67%)	20100 (20.61%)	-0.03	D	Average Opinion
4	Uneducated	Married	191 (31.83%)	30743 (31.52%)	-0.11	D	Average Opinion
5		Unmarried	109 (18.17%)	17454 (17.89%)	-0.16	D	Average Opinion
Total			**600**	**97549**			

Analysis and Interpretation:

The above table shows the educated and uneducated Muslim women of Imphal-East District of Manipur based on their "modernization Opinion Level" using the Comprehensive Modernization Inventory scale. For the selected sample of the present study, Muslim women have been classified into two categories: educated (Xth passed and above) and uneducated (under Xth). Further, educated Muslim women have been classified into three categories viz. highly educated (Graduate and above), average (XIIth passed), and below-average (Xth passed). Uneducated Muslim women are broadly they were classified into two categories, viz. married and unmarried. As for the study, 300 samples each of educated Muslim women and uneducated Muslim women were selected.

From the above table, it can be interpreted that, Highly Educated Muslim women (13.50 %) are found to be in grade C (High Opinion) of "Women's Opinion Level" with Z score +0.84. For Average Educated Muslim women (16.49 %) are found to be in grade D (Average Opinion) of "Women's Opinion Level" with Z score – 0.22 and for Below Average Educated Muslim women (20.16%) with a Z score of – 0.03 found and fall in grade D (Average Opinion) level of "modernization Opinion Level." Uneducated Married Muslim women (31.52%) with a Z score of –0.11 are found and fall in grade D (Average Opinion) of "Women's Opinion Level." And for the Uneducated Unmarried Muslim women (18.17%) with a Z score of – 0.16 are found and fall in grade D (Average Opinion) "modernization Opinion Level."

From the above analysis, it can be said that the selected Muslim women of Imphal-East District of Manipur are found to be in Average Opinion of "Women's Opinion Level." It is also found that with the variation in their level of education, their "modernization opinion" level also varied. With the higher in their educational level, their "modernization Opinion Level" has also increased. Educated Muslim women have a higher level of "modernization Opinion Level" than the uneducated Muslim women of the selected samples of the present study. Hence, the present study's hypothesis, "Muslim women had positive attitudes towards different aspects (Education, Parents-child relationship, Politics, Status of women, Marriage, Religion, Socio-cultural factors) in Imphal-East District," has been accepted.

Table 2: Showing the significant levels of Educated and Uneducated Muslim Women towards modernization opinion level in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean Value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig. level
Educated	300	164.51	0.95	598	3.09	0.00209	**
Uneducated	300	160.66	0.81				

* Significant level at 0.05

** Significant level at 0.01

NS = Not significant

ttb = 1.98 at 0.05

ttb = 2.62 at 0.01

Table 5.14: Showing the significant levels of Married and Unmarried Muslim Women towards modernization opinion level in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean Value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig.
Married	240	161.29	0.88	598	1.79	0.07396	NS
Unmarried	360	160.66	0.87				

* Significant level at 0.05

** Significant level at 0.01

NS = Not significant

ttb = 1.98 at 0.05

ttb = 2.62 at 0.01

Table 3: Showing the significant levels of Highly Educated and Average Educated Muslim Women towards modernization opinion level in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean Value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig.
Highly Educated	75	175.57	1.47	174	7.62	0.00001	**
Average Educated	101	159.25	1.49				

* Significant level at 0.05

** Significant level at 0.01

NS = Not significant

ttb =1.98 at 0.05

ttb =2.62 at 0.01

Table 4: Showing the significant levels of Highly Educated and Below Average Educated Muslim Women towards modernization opinion level in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean Value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig.
Highly Educated	75	175.57	1.47	174	7.62	0.00001	**
Below Average Educated	124	162.10	1.49				

* Significant level at 0.05

** Significant level at 0.01

NS = Not significant

ttb = 1.98 at 0.05

ttb = 2.62 at 0.01

Table 5: Showing the significant levels of Average Educated and Below Average Educated Muslim Women towards modernization opinion level in Imphal-East District

Categories of women	N	Mean Value	SED	df	t-value	Sig. value	Sig.
Average Educated	101	159.25	1,49	223	1.34	0.18161	NS
Below Average Educated	124	162.10	1.48				

* Significant level at 0.05

** Significant level at 0.01

NS = Not significant

t_{tb} = 1.98 at 0.05

t_{tb} = 2.62 at 0.01

Analysis and Interpretation:

The significant differences in the attitudes of Muslim women towards modernization opinion levels belonging to different categories have been shown in the above tables, 5.13, 5.14, 5.15, 5.16, and 5.17. The calculated t-values of Muslim women belonging to different categories (Educated & Uneducated, Married & Unmarried, Highly Educated & Average Educated, Highly Educated & Below Average Educated, And Average educated & Below Average Educated) were 3.09, 21.79, 7.62, 6.06, and 1.34 respectively. The calculated t-value of Educated & Uneducated, Highly Educated & Average Educated and Highly Educated & Below Average Educated Muslim women has been more significant than the tabulated value

(tcal>ttab) and found at a 0.01 significance level. The calculated t-value of Married & Unmarried, Average Educated & Below Average Educated Muslim women, is smaller than the tabulated t-value (tcal<ttab) and not found significant at any level.

From the above analysis, it can be said that modernization opinion level has been a significant difference found between the Educated and Uneducated, Highly Educated & Average Educated and Highly Educated & Below Average Educated Muslim women at 0.01 levels. Therefore, the study's hypothesis is, "There exist significant differences in the attitudes of Muslim women towards different aspects (Education, Parents-child relationship, Politics, Status of women, Marriage, Religion, Socio-cultural factors) in Imphal-East District of Manipur." It has been highly accepted. However, for the Married & Unmarried, Average Educated & Below Average Educated Muslim women, the hypothesis, "There exist significant differences in the attitudes of Muslim women towards different aspects (Education, Parents-child relationship, Politics, Status of women, Marriage, Religion, Socio-cultural factors) in Imphal-East District of Manipur." has been found rejected.

Main Faindings:

i) Highly Educated Muslim women (13.50%) are found with a Positive Z score of + 0.84 and fall in grade C (High Opinion) of 'Modernization Opinion Level.
ii) Average Educated Muslim women (16.49%) are found with a Negative Z score of – 0.22 and fall in grade D (Average Opinion) of 'Modernization Opinion Level.
iii) Below Average, Educated Muslim women (20.61%) are found with a Negative Z score of – 0.03 and fall on grade D (Average Opinion) of 'Modernization Opinion Level.
iv) For the married category (31.52%), Uneducated Muslim women have a Negative Z score of – 0.11 and fall on grade D (Average) of 'Modernization Opinion Level.
v) For the Unmarried category (17.89%), Uneducated Muslim women have a Negative score of – 0.16 and fall on grade D (Average) of 'Modernization Opinion Level.
vi) The calculated t-value of educated & uneducated and married, & Unmarried Muslim women towards women' social freedom was found more significant than tabulated value and found at 0.05 significant level.
vii) The calculated t-value of highly educated and Average educated, highly educated & below average educated and average & below average educated Muslim women towards women' social freedom was found as more significant

than tabulated value and found at 0.01 significant level.

viii) The calculated t-value of educated & uneducated and highly educated & average educated and highly educated & below average educated Muslim women towards modernization opinion level found more significant than the tabulated value and found at 0.01 significant level.

ix) The calculated t-value of married & unmarried, average educated & below average educated Muslim women towards modernization opinion level was not found significant at any level.

Conclusion:

Educational backwardness is the main factor for the social degradation of women. Suppose the level of the intellectual development of people is an indicator of social progress. In that case, education for women is essential for developing knowledge, skill, awareness, scientific outlook, positive self-image, individuality, self-respect, and dignity, which are necessary ingredients for women to empower themselves. (Kumar, R., 2007) In the present study, the investigator has attempted to study the development of the educational status of Muslim women in the Imphal-East District of Manipur. From the study's findings, it has been found that education has been an essential factor for the upliftment and development of the status of women in society Women have to take responsibility for empowering themselves. Unless they become conscious of their oppression, show initiative, and seize the opportunities, it will not change the status of women's society (Soni, J.K., 2008). Another attempt has also been carried out amongst the educated and uneducated Muslim women of Imphal-East District on their social attitudes towards different aspects-Education, Parents-child relationship, politics, the status of women, marriage, religion, socio-cultural factors. The study has been examined with the help of a comprehensive modernization inventory scale. From the study, it has been found that educated Muslim women covered in the present study have higher modernization opinion levels than uneducated Muslim women. It also showed that educated Muslim women showed favorable attitudes towards modernization opinion level than uneducated Muslim women.

Muslim women were not educated for many reasons such as poverty, religious considerations, early marriage, lack of awareness, etc. The enrolment rate of Muslim women in higher education is shallow. The main reason for the low enrolment and retention of Muslim women in higher education is a high dropout rate at the middle and secondary levels of education. However, the mindset of Muslim parents has

changed considerably. They realized the need and importance of educating their daughters to pursue their further studies. The Muslim parents are now encouraging and supportive towards the desires and goals of their daughters.

References:

Ahamad, M.M. (2011). Manipuri Muslimsingi Chatnabi Amasung Harao-Kumhei, Masjid Road, Imphal: Writers Union, Manipur.

Ahamad, M.M. and Sheikh, S.M. (2010). Sahityagi Echelda Manipuri Muslim. Masjid Road, Imphal: Writers Union, Manipur.

Ahamed, F. (2011). Manipuri Muslims (Historical Perspectives- 615-2000 CE). New Delhi: Pharos Media & Publishing Pvt. Ltd.

Ahamed, F. (n.d.). Tracing Early Muslim Settlement in Manipur, in Muslim & Arab Perspectives, New Delhi: Pharos Media & Publications.

Ahamed, M.M. (2013). Pangalsingi Khunung Eshei Neina Wareng. Imphal: Writers Union, Manipur.

Ahmad, I. (Ed.). (1983). Modernization and Social Change among Muslims in India. New Delhi: Manohar Publication.

Ahmad, S. (2002). Status of Muslim Women in Manipur. Delhi: Zakir Hussain, Institute of Islamic Studies, Jamia Millia Islamia.

Ahmed, F. & Rahman, Md. S. (2020). Pangal History of Manipur (615 AD To 2020 AD). Rasulgarh Bhubaneswar: Walnut Publication.

Ahmed, M. (2010). Educational Trends and Development among Muslims of India. New Delhi: Shipra Publications.

Ahmed, Md. S. (2011). Essays in Sociology: Muslims in Manipur. New Delhi: Genuine Publication.

Best, J.W. (1977). Research in Education. Englewood Cliffs, New Jerry: Prentice Hall Inc.

Best, J.W. (2006). Research in Education. New Delhi: Prentice Hall of India, Pvt. Ltd.

Chauhan, L. (2007). Women and Law. Delhi: Mittal Publications.

Devi, J. (1989). Education in Manipur. Imphal: Rai Pravina Brothers.

Devi, J. (2007). Manipuri Sanskriti Amasung Manipuri Nupi. (An analytical Writing on Manipuri Culture and Manipuri Women), Manipur Women's Commission.

Dun, E.W. (2013). Gazetteer of Manipur. New Delhi: Akansha Publishing House.

Garrett, H.E. (1961). Statistics in Psychology and Education. Bombay: Vakils, Feffer and Simsons.

Ghosh, G. K. and Shukla, G. (1997). Women of Manipur. New Delhi: S.B. Nangia A.P.H. Publishing Corporation.

Hakim, A. (2008). The Manipur Governance to Meitei-Pangal (Manipuri Muslims) 1606-1949. Imphal: Pearl Education Society, Imphal, Manipur, India.

Hudson, T.C. (1989). The Meiteis. New Delhi: Akansha Publishing House.

Hughes, T. P. (1885/1999). Dictionary of Islam. New Delhi.

Irene, S. (2010). The Muslims of Manipur. Delhi: Kalpaz Publications.

Irene, S. (2014). Women of Manipur (An Alternative Perspective). Delhi: Anshah Publishing House..

Kabui, G. (1991). History of Manipur. Vol. 1 (pre-colonial period), New Delhi: National Publishing House.

Khan, M.A.J. (1972). Manipuri Muslim. Imphal: The Shanti Press Congress Bhavan.

Khullakpam, Kh. (1997). Turko-Afgangi Chada Nauda. Lilong: M.I. Press, Masjid Road, CIRLES.

Kothari, C.R. (2006). Research Methodology Methods and Techniques. New Age International Pvt. Ltd. Publishers.

Koul, L. (1984). Methodology of Educational Research. New Delhi: Vikas Publishing House Pvt. Ltd.

Ahmad, S. (2007). Religion and Religiosity of the Pangals in Manipur. Orient Version, IV(2).

Ahmed, I. (1978). Kinship and marriage among the Muslims. Khonthang (1st issue), Imphal, August.

Ahmed, S. (2011). Muslim Women in Unorganized Sector: Some Observations (National Seminar – Muslim Women in Manipur: Opportunities and Challenges organized by Manipur State Minorities Commission, Imphal, June.

Ali, M. (2013), Pangal Women: Social challenges & Education. IOSR Journal of Humanities and Social Sciences (IOSR-JHSS), 9, 39-42.

Ali, M. et al. (2014). Community Formation: Understanding Muslims of Manipur. Journal of International academic Research for Multidisciplinary, 2(11), 365-375.

Baharuddin, M. & Khan. Md. C. (2019). The State of Affairs of Pangal women: A Feminist Perspective. Feminist Research, 3(1-2), 11-20. www.gathacognition.com/journal/gcj2

Bano, F. (2017). Educational Status of Muslim Women in India: An Overview. IOSR Journal of Humanities and Social Sciences (IOSR-JHSS), 22(6), 10-13. www.iorjournals.org

Bhaskar, N. (n.d.). Family Law and Customary Practices of Muslims. The Eastern Anthropological Survey of India, 49(1).

Bhusankar, N. and Ghosh, B. (2017). Education and Socio-economic Marginalization of Muslim women: A case Study of North 24-Parganas Districts in West Bengal. Bangladesh e-Journal of Sociology, 14(1), 129-149.

Devi, H. B. (2017). Status of Meitei Pangal Women in 17th and 18th Centuries Manipur. Political Economy Journal of India, 2(1), July-December.

Devi, H. B. (2018). Customary Practice of Meitei-Pangal (Manipuri Muslims in Manipur). International Journal of Research in Social Science (IJRSS), 8(2), 443-455. http://www.jimra.us

Devi, K. K. (2014). Dawn of Muslim Women Education at Lilong (Manipur State, India). International Journal of English Language, Literature and Humanities (IJELLH), II(1).

Devi, L. (2014). Socio-Economic Development of Muslim women: Impact of Education. Indian Journal of Public Administration, LX(3), 660-670.

Hazra, M. (2018). An Overview of Educational Status of Muslim Women in India. International Journal of Innovative Studies in Sociology and Humanities (IJISSH), 3(6), 39-44.

Khan, Md., C. (2014). Socio-Cultural and Religious Facets of Manipuri Muslims during the 17th and 18th Centuries. International Journal of Research (IJR), 1, September.

Naseem, AK. & Arif, R. (2017). Statistical Survey of Muslim women in higher education in India. Biostatistics and Biometrics Open Access Journal, 4(1), 06-12.

Saha, S. (2020). Educational status of Muslim women in West Bengal: A case study of Chapra Block in Nadia District. NSOU-OPEN JOURNAL, (1).

Sahala, P.M. (2018). Educational Status of Muslim women in Matriarchal Families of North Malabar. International Journal of Humanities and Education (IJHSSE), 5(10). http://dx.doi.org

Salam, N. (2019). Education and Empowerment of Muslim Women in the District of Murshidabad, West Bengal. International Journal of Research in Humanities, Arts and Literature (IMPACT: IJRHAL), 7(3), 235-242.

Honour Killing in India

Yashvir*, Dr. Mohd Danish Khan**

Abstract

Honour killings, a distinct offense in India, have no concrete origin but are motivated by high-caste individuals refusing inter-caste marriage to preserve their caste and consider it unnecessary if it causes anything to lower their status. The concept of honor killing has become more prevalent in India due to intricate socio-cultural issues and societal pressures. In ancient times, women were often portrayed as weak and infallible characters who needed protection from men. The caste system in India has evolved over time, becoming a hereditary system of occupation and limiting women's freedom in marriage. Honor killings have persisted even after India gained independence, with the partition between India and Pakistan causing social evil practices. The Indian Constitution guarantees equal protection of law and equality for individuals, regardless of caste, religion, or gender, and protects them from honour-related crimes. However, there is no specific law dealing with honor killings and any punishment regarding the same. The Indian Penal Code, 1860, punishes honour killings as grave crimes, including murder, culpable homicide, attempt to murder, attempt to commit culpable homicide, criminal conspiracy, abetment of offenses, and criminal acts done by several persons in furtherance of common intention.

Key Words:- *Honour killings, Khap, Crime, Protection, Inter-Caste Marriage, Human Right, Constitution*

A. Introduction

Honor killings have no clear origin, but some scholars suggest they originated in South Asia and the Middle East. They are prevalent in India, particularly in regions like Haryana, Punjab, Uttar Pradesh, and Uttar Pradesh. Sociocultural issues drive these crimes, with high-caste individuals refusing inter-caste marriages and victims' parents resisting love marriages. Perpetrators may argue that a severe provocation prompted their actions. Family members prioritize culture and status, but may not take protective measures for the victim .

1. Honour Killings in Ancient India

Honor killing originates from ancient customs that have been incorporated

*Research Scholar, Meerut College Meerut

**Assistant Professor, Meerut College Meerut

into many countries. A man's ability to protect his honor is judged by his family and neighbors. Therefore he publicly demonstrates his power to safeguard his honor by killing those who have damaged it. Another motive for honor killing is covering up shameful incidents. The concept of honor killing was unknown in Vedic times. The honored position that the wife enjoyed in the family and society during the Vedic era gradually started declining. In the matrimonial home, she was less satisfactory. Manu suggested the ways and means to keep wives under subjugation, and taking a clue from Manu, men may have adopted those ways and cruelly exploited women through ages . There is no law on this earth to curb such social evils or heinous crimes. 31 In India, people prefer to marry within their caste or community. As per the ideal story of the Ramayana, King Rawana's sister by name Shurpanakha had performed Gandharva (through mutual consent without intervention from either the parents or kinsmen of the bride or bridegroom in arranging the marriage) marriage with the army chief, Viduth Julvey, in a place called Kalikey Rawana felt was dishonor or shame to his family. For preserving his family honor, Rawana killed her husband. Hence, one can say honor killing existed in the epic period.

The Anusasana Purva of the Mahabharata portrays women as inherently lustrous and prone to sexual cohabitation. Women are depicted as weak and infallible, requiring men's protection. This portrayal of women suggests they are unreasonable and incapable of self-care, leading to their entrusted responsibility.

Gautam Buddha, an enlightened figure, believed that women should not be given responsibility due to their intellectual depravity, short temper, and passion. He also opposed women from occupying public positions and professions, perpetuating gender inequality.

One common aspect of all these saints and scriptures is that women are showcased as morally depraved lustful individuals who are not capable of looking after them and have to be kept under the strict vigilance and guidance of men who should determine how a woman should lead her life. According to Manu, the supreme Hindu authority, a woman should only be allowed to choose her husband if her parents have failed to do so within three years of attaining puberty . The Vedic period marked the end of girls' freedom to choose their husbands, with stricter restrictions imposed by society. By 5th century AD, women were considered contemptuous for choosing their own husbands.

Over the course of time, things never improved for women in colonized India, and post-independence, in spite of the de-constitutionalization of the caste system, little has improved in actual

practice. The Indian caste system suffers from six characteristics-segmental division of society; hierarchy; restriction of feeding and social intercourse; civil and religious disabilities and privileges of different sections; lack of unrestricted choice of occupation; and restriction of marriage.

2. Honour Killings Medieval India

During the medieval period, women faced customary evil practices like child marriage, sati, female infanticide, and honor killing. The invasion of Muslims and British people led to further deterioration of women's positions in society. The Mughal period introduced the concept of honor crimes, forcing Hindus to kill daughters to protect family and caste dignity .

Perpetrated under the grab of preserving the honor of the family, community, and caste, incidents often occur in the name of violence. The acts include the put-to-public death without trial of couples and the killing of a man or woman; it was treated as suicide. They used to act publicly by beating, blackening the face, social boycotts, imposing fines, etc .

3. Honor killing in Present Scenario

Despite India's independence, honor killings persisted during the partition between India and Pakistan. Hindu girls were forced to marry Pakistani Muslims, leading to torture and dishonoring to family, community, and religion. This practice, similar to the Mughal period, was more frequent in Indian society .

India's independence envisioned a modern, egalitarian state, free from caste, religion, and exploitation, based on principles of equality, liberty, and fraternity.

In the globalization era, Indian culture is considered an ideal culture throughout the world, but Indian society is fully dependent upon multi-religious principles, multi-traditional cultures, and multi-customary evil practices. Honor killing is rampant in the country because of customary practices. Because of these oppressive, evil customary practices, several young couples have lost their lives. There is a threat created among the young people. Women's position in India has not been satisfactory since time immemorial. People have treated women like commodities and livestock .

In the case of Arumugam Servai v. State of T.N, the Supreme Court strongly deprecated the practice of khap/katta panchayats taking law into their own hands and indulging in offensive activities which endanger the personal lives of the persons marrying according to their choice. In another case, Lata Singh v. State of U.P the Supreme Court observed and directed as under:

"This is a free and democratic country, and once a person becomes a

major he or she can marry whosoever he/she likes. If the parents of the boy or girl do not approve of such inter-caste or inter-religious marriage the maximum they can do is that they can cut-off social relations with the son or the daughter, but they cannot give threats or commit or instigate acts of violence and cannot harass the person who undergoes such inter-caste or inter-religious marriage."

B. Legislative Framework Regarding 'Honour Killings' In India

The Indian Constitution has many provisions to protect each and every citizen. Each and every human has their own rights with which they are protected. Rights are vested in every citizen irrespective of their caste, religion, gender and are protected from honour killings. In case of honour killing, it is similar to that of homicide. Section 299 and 301 of the Indian Penal Code, 1860 which means culpable homicide amounting to murder because the act of killing the victim is made with the intention to kill them to bring the honour to the family.

The proposed amendment to Section 300 IPC classifies honor killing as murder, requiring proof from accused. It aims to prevent social discord and enforce moral principles, while excluding unlawful assembly for unlawful purposes. Honor killing violates Article 14, 15(1), 15(3), 19, and 21 of the Indian Constitution, which deals with equality before law and equal rights. It violates the right to freedom, life, and personal liberty, which are fundamental rights. The victim's death constitutes gender violation, and the supreme authority lies with the creator. Therefore, the right to life and liberty is violated in honor killing.

The Indian Constitution's Article 21 protects citizens' freedom of choice in marriage and provides compensation as a remedial measure. However, the state's obligation does not end with compensation alone. The Supreme Court criticized a community panchayat's gang-rape order as a violation of women's rights under Article 21, highlighting the need for better preventive measures and procedural safeguards.

There is no specific law in India which deals with the gruesome act of „Honour Killings" and any punishment regarding the same. It is treated as murder under the Indian Penal Code or the Code of Criminal Procedure as it is not a crime specified separately under the laws. The following are the legal provisions regarding Honour killing in India .

1. Constitutional provisions

The Indian Constitution has ample provisions allowing an individual to exercise his/her choice, independent of caste, religion or gender and protection from honour related crimes.

The following are the provisions that substantiate this-

- Article 14: It guarantees every person the right to equality before the law or equal protection of law within the territory of India.
- Article 15(1): It prohibits discrimination against any citizens on the grounds of religion, race, caste, sex, place of birth or any of them.
- Article 15(3): Not to prevent the State from making any special provision for women and children.
- Article 17: Abolished untouchability
- Article 18: Abolition of titles
- Article 19: Right to freedom
- Article 21: Right to life and personal liberty.

In Lata Singh v. State of U.P. case, the Supreme Court observed and directed that-

"We sometimes hear of „honour killings" of such persons who undergoes inter-caste/inter-religious marriage on their free will. There is nothing honourable in such killings, and in fact they are nothing but barbaric and shameful acts of murder committed by brutal, feudal minded persons who deserve harsh punishment. Only in this way can we stamp out acts of barbarism."

In Arumugam Servai v. State of Tamil Nadu the Supreme Court had strongly deprecated the practice of Khap panchayats from taking the law into their own hands and indulging in offensive activities which endanger the personal lives of the persons marrying according to their choice. In this case the Supreme Court observed:-

"To kill or physically assault a young man/woman who marries against their wishes is wholly illegal."

2. Indian Penal Code, 1860

Honour killing are cases of homicide which are considered as grave crimes under the Indian Penal Code (IPC). Sections relating to honour Killing are as under-

- Sections 299-304: It penalizes any person guilty of murder and culpable homicide not amounting to murder . The punishment for murder is death or life imprisonment and shall also be liable to fine. The punishment for culpable homicide not amounting to murder is life imprisonment or imprisonment up to 10 years and fine.
- Section 307 : It penalizes attempt to murder with imprisonment up to 10 years and fine. If a person is hurt, the offender shall be liable to life imprisonment or to such punishment as is hereinbefore mentioned.
- Section 308: It penalizes attempt to commit culpable homicide with imprisonment up to 3 years or with fine or with both. If it causes hurt is caused to any person by such act, shall be

punished with imprisonment for a term which may extend to 7 years or with fine or with both.

- Sections 120A and B: It penalizes any person who is a party to a criminal conspiracy .
- Sections 107-116 : It penalizes person for abetment of offences including murder and culpable homicide.
- Sections 34 and 35: It penalizes criminal acts done by several persons in furtherance of common intention.

C. Conclusion

Honor killings are a significant violation of human dignity, often committed by families to protect their own members. The state, central government, and judiciary must take more stringent action to curb these practices. New legislation, penalties for community leaders, and addressing caste-based discrimination, evil traditions, and male-dominated approaches are needed. Criminalization of all forms of violence against women and men, fast-track courts, and legal awareness programs are also crucial.

References

1. Law Z, Vol.10, No.8 Issue 108 Aug, 2010 p.10.
2. Dr.R. Revathi, Law Relating to Domestic Violence,published by S.P. Gogia (H.U.F.) Hyderabad, 2004, P. 1
3. Ibid
4. Indian Express, newspaperdated,11-01-2013,P.09.
5. Pretest Sharma, “Treatment for honour killing”Available At:- http/www.legalserviceindia.com,
6. Visited On:- 12/10/2023 at 10.31 pm.
7. Prem Chowdhry. Contentious Marriages, Eloping Couples: Gender, Caste and Patriarchy in Northern India. 2016.
8. The rules of marriage within the caste were established in the post Aryan period when caste became hereditary (Liddle & Joshi, 1986, p. 61).
9. Though women enjoyed equal rights in selecting marital partner in the Vedic period (Dewan, 2000, p. 33; Rao, 2008, p. 21; Bowen, 1998, p. 57), the parents exercised great control in this regard
10. Amnesty International, Pakistan: Honour Killing of girls and women, 1999 ASA 33/18/99., Criminal
11. Law Journal, Oct, 2012, Vol. No. 118, Part-1354,P.290
12. MaznaHussain, “Take my riches, give me justice: A Contextual Analysis of Pakistan’s Honour Crimes Legislation”29 Harvard Journal of Law and Gender 226(2006), Cri. Law Journal, Dec.2013, Vol.119-part-1368, P. 187.
13. Dr. S. C. Tripathi, “Women and Criminal Law," Publication Central Law Publications, Allahabad, 2, First Edition, 2010, p.
14. Ibid, p.11
15. Joanne, Honour killing on the rise in India and Nepal,www.stophonourkilling.com, Indian Human rights Law Review, Vol. No.02, December, 2011 P.231.
16. Sharma, Divya (2009)” Honour Killing; ASluron Humanity”, Lawyers Update, Sept, 2009, P.46
17. Criminal Law Journal “Violenceand Oppressio nagainst Women–Acritical Analysis”, 2010,P.217 (2011) 6 SCC 405.
18. AIR 2006 SC 2522.
19. Kaur, M. (2015, January 1). Honour Killings in India. Available at http://books.google.ie/books?id=v7L7rQEACAAJ& dq=HONOUR+KILLING+IN+INDIA&hl=&cd=2&source=gbs_api

Visited on:- 15/07/2023 at 10.01am .Honour Based Violence Awareness Network (22nd March, 2012). Honour Based Violence (html). Available at http://honourkillings.com/forms-of-hbv/ Visited on:- 13/12/2023 at 10.01am

20. Trishala A , Lakshmi T and Rajeshkumar S," Physicochemical profile of Acacia catechu bark extract –An In vitro research", International Research Journal of Multidisciplinary Science & Technology, Volume No. 3 , Issue No. 4, P.No 26-30, April 2018.
21. State v Mohd. Moinul Haque (2001) 21 BLD 465 (Bangladesh SC)
22. Available At:-https://www.jetir.org/papers/JETIR1809070.pdf Visited On:-02/06/2023 at 09.32 pm.
23. 2006) 5 SCC 475.
24. (2011) 6 SCC 405.
25. Section 101 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023
26. Section 102 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023. "If a person, by doing anything which he intends or knows to be likely to cause death, commits culpable homicide by causing the death of any person, whose death he neither intends nor knows himself to be likely to cause, the culpable homicide committed by the offender is of the description of which it would have been if he had caused the death of the person whose death he intended or knew himself to be likely to cause."
27. Section-109 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023 (1)" Whoever does any act with such intention or knowledge, and under such circumstances that, if he by that act caused death, he would be guilty of murder, shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to ten years, and shall also be liable to fine; and if hurt is caused to any person by such act, the offender shall be liable either to imprisonment for life, or to such punishment as is hereinbefore mentioned".
28. Section-110 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 202, Attempt to commit culpable homicide;- "Whoever does any act with such intention or knowledge and under such circumstances that, if he by that act caused death, he would be guilty of culpable homicide not amounting to murder, shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to three years, or with fine, or with both; and, if hurt is caused to any person by such act, shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to seven years, or with fine, or with both."
29. Section-61 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023, Criminal conspiracy: 61. (1) "When two or more persons agree with the common object to do, or cause to be done— (a) an illegal act; or (b) an act which is not illegal by illegal means, such an agreement is designated a criminal conspiracy: Provided that no agreement except an agreement to commit an offence shall amount to a criminal conspiracy unless some act besides the agreement is done by one or more parties to such agreement in pursuance thereof. Explanation.—It is immaterial whether the illegal act is the ultimate object of such agreement, or is merely incidental to that object. (2) Whoever is a party to a criminal conspiracy,— (a) to commit an offence punishable with death, imprisonment for life or rigorous imprisonment for a term of two years or upwards, shall, where no express provision is made in this Sanhita for the punishment of such a conspiracy, be punished in the same manner as if he had abetted such offence; (b) other than a criminal conspiracy to commit an offence punishable as aforesaid shall be punished with imprisonment of either description for a term not exceeding six months, or with fine or with both".
30. Section-49-60 of The Bharatiya Nyaya Sanhita, 2023Abetment of offences.

Shakespeare's Influence on Modern English

Dr Dinesh Sharma

Abstract

Concerning contributions to the present day English, the works of William Shakespeare are useful in the advancement of language as media and cultural ,literary assets of societies. Concerning Shakespeare's contribution to English literature, it can be stated that he expanded the possibilities of the English language by means of the complicated use of words, phrases and metaphors. Shakespeare also played an important role in the development of the English language, as he coined numerous words and phrases which are in use up to the present days. This paper pays emphasis on Shakespeare's positive contribution to the modern English especially in areas of lexical enrichment, usage of idioms and proverbs, as well as the aspect of language spice. Besides, it also examines the influence of his works in the modern English literature and pop culture. The fact that at the present time many of Shakespeare's innovations are still detectable is further evidence indicating that he was, and still is, the unrivalled master of language even as of today. The paper also mentions some challenges and opportunities in using the plays of Shakespeare in today's education systems. Therefore, analyzing Shakespeare's heritage it is possible to outline the further development of processes that occur in language and literature and to get the understanding how literary works can influence the formation of linguistic and cultural personality.

Keywords: *Shakespeare's Modern English lexicon, lexical creative, idiomatic expressions, literature and popular culture, language change, education, cultural populations.*

Introduction

William Shakespeare often referred to as the world's favorite playwright and poet was part of the English speaking population and greatly benefited the modern language. Shakespeare was born in the year 1564 in a small town of Stratford-upon-Avon and his invention influences the manners of creating language and writing literatures in all over the England speaking society for more than four centuries. His plays and sonnets can also be source of the best examples that would prove the richness of the English language during the Elizabethan Age and its contribution to the further evolution.

Associate professor, Department of English, Bhagwan Parshu Ram College, Kurukshetra

This intercourse announces Shakespeare as the leading figure in the modern use of the English language in the following ways. He is especially credited to have bequeathed over 1,700 terms many of which are still in active use today. Some of the actuality includes the words such as; eyeball, fashionable, lonely, swagger and many more which had either been invented or made much familiar to the public by Shakespeare who effectively has proven how distinctive he was in enforcing his concept of communication. Some of the proverbial expressions borrowed and used in modern English with regard to punctuation and syntax were originated by him among them were break the ice, heart of gold, wild-goose chase and others.

In addition to introducing new words to the modern English language, Shakespeare also introduced something new in grammar and syntax. An important point that is notable in most of those plays is that while applying syntactical constructions and poetic devices and figures of speech like metophor, simile, personification to mention but a few which are incorporated, the intention is to give the language a capability of expressing more. These aspects have gone to determine the way English is used, both in written works as well as spoken, giving concepts that writer, poets and playwrights can adopt in their writing.

Actual editorial icons not only do not cease at the linguistic plane, but as Shakespeare's works, have advanced the English language, other allied humanities, and are global concerns concerning significant vices such as love, ambition, jealousy, betrayal, among others, and, therefore, he is a playwright of the modern age. This can be testified by Shakespeare main characters; Hamlet, Macbeth, and Romeo and Juliet characters which are recognized all over the world and have been featured in different movies, books and plays in many different forms. The very cultural heritage indicates Shakespeare's involvement in the EU culture as a master in fashioning the story and art issues of the contemporary Anglophone communities.

Nonetheless, the reader will be able to observe that Shakespeare's works are as old-fashioned as far as language and historical background is concerned while he is among the most key representatives in the modern curriculum. Being one of the playwrights whose works are read in schools and universities, his plays supply a great deal of information regarding the history of English language and the cultural background of the Elizabethan period. Teaching Shakespeare in the contemporary environment enhances the process of lively interaction in the classroom since it looks for the meaning of words in the context of a phenomenon

that is in constant flux.

SHAKESPEARE IN EDUCATION: UNDERSTANDING THE EVOLUTION OF THE ENGLISH LANGUAGE

William Shakespeare or the bard of Avon has been a significant contributor and an intrinsic aspect of the English literature study worldwide for a long time. Thus, his ideas are basic to education as a figure dealing with the English language and literature and with insights into the development of English and culture. Shakespeare imparting education is a chance to discover on the linguistic evolution, the variety of the literary language, and the actuality of his themes and characters.

The Importance of Teaching Shakespeare

Enhancing Language Skills

The overall impact of Shakespeare's creative work is that his narratives could be used as a valuable source for language development of the students. To sum up the specifics of communicative activity, one can state the intention to use a very extensive list of terms and lexis in his classes make students to focus on the language more intensively and pay much attention to the augmented penetration of the English language. When learning a different language, the students get an opportunity to individually come across different unknown terms and phrases which help one to build up ones vocabulary bank in addition to providing the learners with opportunities to confront and overcome different linguistic forms.

Shakespeare's use of pathos, interpersonal rhetoric and word formulation like puns, metaphors, etc makes students to analyze language to the extent of appreciating it as a tool of expression. Such an engagement in the use of linguistic creativity assists the students in sharpening their skills in reading as well as the mastery of comprehension skills after mastering the content needed to analyze and interpret texts.

Besides, the Shakespearean works introduce the learner to different stages of the development of English. His works are the way between Middle English and the early modern English and therefore his works help in showing the changes that occurred in language during this transition. The knowledge of Shakespeare language helps the students to realize, how has English developed as a language during the historical period and how it has been influenced.

Cultural and Historical Context

The techniques used in this pretise is to enable the students to gain a perspective of the cultural enrichment of the Elizabethan Age. Rodgers's plays and sonnets offer social, political and philosophical commentary of the

age and the culture which are crucial.

Shakespeare’s themes include love, power, ambition, and betrayal and his works are still enjoyable by audiences today. Through the discussion of these themes, group members will be able to correlate past experiences to today’s society, which in return will increase their cultural and historical awareness of the world and people. Presenting a classical set of motifs this approach provokes students to contemplate issues concerning people’s morality and society’s relationships.

Critical Thinking and Interpretation

Since Shakespeare’s plays employ the English language and contain rather intricate messages, it can be an excellent chance to bolster such attributes like critical thinking and interpretation. Instead of providing simple answers, the students are supposed to take part in the processes specifically focusing on the specific character’s motives, plot advancements, and even the themes of the text. This process of interpretation involves making meaning of ideas based on the principles of relation, which sharpens the analytic skills of the students.

Shakespeare adapts features of language such as ambiguity and nuances to his words, which makes students have to weigh their meanings. Many of his plays were rather ambiguous and could be explained in a number of ways and here the students could discuss different options. Besides improving students’ critical thinking and analytical abilities when engaging in the process of literary analysis, it also helps to develop an understanding of the beauty of words and a work of literature.

Global Influence and Adaptation

Shakespeare’s legacy did not confine to the English-speaking manner, so his work may be used as the source of the works, corresponding to the importance of understanding the position of the English language in the world. His plays have been translated into many languages and most of the plays have been turned into different culture forms and languages proving the effect of his works. Thus, examining these adaptations enables students trace how systematically Shakespeare’s plays were translated into other cultures’ frameworks.

It is indeed crucial in today’s interconnective world that one has a global point of view. Appreciation of how the works of Shakespeare have been incorporated in the other cultures gives the students perceptive of English and its utilization in international relations. It also demonstrates how linguistics and literature bring people of different cultures closer thus promoting multiculturalism.

Shakespeare and the Evolution of English

Linguistic Innovation

Appreciably, Shakespeare contributed a large number of words to the English language also, he creatively utilized words and phrases. He supposed to be founder of more than 1,700 words and expressions that permeate today's English language. Terms like "eyeball", "fashionable", "lonely", and "swagger" demonstrate this hit method's timeliness and the refinement in the tongues of the people the character addresses.

Apart from creating new words, use of syntax and grammar Shakespeare played a pivotal role in the development of English. Cohesively his inversions of normally placed words and use of complex accolade toward multiple syntactic orders aspired to defy restriction and prove versatility of the language. This pictorial language created by them has been used to have an impact on the subsequent generations of writers to force them to dare to dream and create new and unique linguistic devices.

Akin to his dramas of identity, Shakespeare's works also embody and represent the versatility of the English language. Judging by the language used in his works, he represents transition from Middle English to Early Modern English thus recording the kind of changes that were taking place during a period. Thus, the option 'Shakespeare' is very beneficial to students because there is possibility to study the transition of English depending on the period, the roots and the main tendencies that have influenced the language.

Preservation of Archaic Forms

On contrast with the latter, the language that Shakespeare uses in his works is described as being old-fashioned, but it does display the historical accurate manner in which the English language was used during the period under study. He and his works make students familiar with Lexical and grammatical features of early Modern English in terms of vocabulary, syntactic structures and Pronunciation. Thus, one must know history of English development and its changes in order to cover all the necessary information.

Therefore, Shakespeare's dramas are good primary sources through which students can study the development of English language from the early forms to the modern modern forms. This has made this exploration reveal the ability of language in accommodation and transformation in relation to cultural, social as well as historical changes. It also points up the need for saving and analysing historical documents in order to comprehend the evolution of the linguistic and cultural aspects of English.

The Role of Literature in Language Evolution

The bard himself, in his works, brings out how literature influences and is influenced by the language. He has played his part in putting language as his plays and sonnets helped in shaping the English language and putting it to standard. With the help of such language phenomena as lexical localization, Shakespeare contributed to the formation and dissemination of the linguistic practices characteristic of the contempoary time.

Additionally, by looking through the prism of language and literature and their connection, Shakespeare's plays show how art can act as the impetus for linguistic shifts. It is impossible not to agree with the thoughts of such an insightful author, which inspired generations of writers and poets who study the described interrelation between literature and language and strengthen the understanding of literature as both the result and the cause of language development.

CHALLENGES AND OPPORTUNITIES IN TEACHING SHAKESPEARE

Overcoming Language Barriers

Another problem which concerns teachers who teach Shakespeare is the fact that his language is considered rather complex. This is especially created, and such specialties are written in an archaic style and terminology, which can hinder a student's ability to interact with the material. To tackle this problem, several approaches can be applied, including using the more recent translations, offering the piece's historical or cultural background, as well as engaging the learners in debates.

In other words, Shakespeare's language is a potential barrier that can be eliminated by the means of addressing all the difficulties and making his language easily understandable for learners so that they would be able to enjoy his wonderful works. It also helps to develop the language component and improve the analysis of historical and cultural background of the plays.

Fostering Engagement and Relevance

Another difficulty is how to attract today's students to Shakespeare and his works. His themes are more general, but historical backgrounds of his works can seem rather unconnected with the contemporary agenda. In this sense, to close the gap educators can use examples from the modern day reality to explain how and why Shakespeare's message remains pertinent today.

Teaching with the help of multimedia sources, including films based on the given texts and with the use of appropriate websites, can also engage students. They afford the

students ways and means through which they can approach and enjoy Shakespeare's plays through novel delivery methods – thus, better understanding his mastery of the language and narrative.

Integrating Technology and Digital Resources

Enhancement of technology in the delivery of education opens up new possibilities of presenting Shakespeare in fresh concepts. Through the use of computers and the internet, the students get a chance to experience the works of Shakespeare through the interactive platforms made available to them. Features such as virtual reality for instance, enables the children engage in Shakespeare play in a way that the environment and the language used in the play becomes more real.

Also importantly, notes accessed on the internet comprise such materials as annotated versions of texts, critical articles, and others, as well as applications of multimedia. Exploring such resources teachers can help students in their understanding of Shakespeare and his language these resources provide other valuable theories and researches which can complement students' study process.

Encouraging Creative Interpretation

The use of texts of Shakespeare also gives several possibilities of creativity in interpretation. Every student can approach Shakespeare plays in some form of performance, in writing, or through the creation of a project, which not only will help them analyze the language, but also will optimize their creative thinking. Thus, the aspect of creativity in students allows them to get a closer understanding of Shakespeare's plays and sonnets and share their experience and vision of the work.

It is a technique that allows the learners to take responsibility for learning, as it helps them to relate to the literature works of Shakespeare in a constructive manner. It also fosters teamwork as student portrays their understanding of the topic and explanations to fellow students.

Conclusion

It can also be postulated that the teaching of Shakespeare plays in schools and universities as very crucial since it gives students an opportunity to have a full grasp of the developmental character of English Language. His works offer a good starting point for the analysis of the linguistic creativity, the cultural background of the texts, and the tradition of literary composition. But getting acquainted with the flour, students also work out how English has advanced historically, as well as how Shakespeare's work continues to influence present-day speech and culture. Thus, during

the Shakespeare’s celebration, students recognize that language is not a stagnant and rigid tool of communication but a living force that continuously develops and transforms, and literature as a reflection of the culture and history.

Thus, it could be concluded that Shakespeare’s impact on education, as well as the English language, is still traceable and significant. His creations can be viewed as suitable for depicting the multicultural and language aspects while thinking critically, creatively, and globally. Therefore understanding the difficulties and prospects of teaching Shakespeare, one can help students discover the beauty of the English language and its significance. In this process, we pay the respect to Shakespeare’s heritage and acknowledge the role of a literature in the learning process and in people’s lives.

References

1. Crystal, David. Shakespeare's Words: A Glossary and Language Companion. Penguin Books, 2002.
2. Crystal, David. The Oxford Dictionary of Original Shakespearean Pronunciation. Oxford University Press, 2016.
3. Ellis, David. Shakespeare's Practical Jokes: An Introduction to the Comic in His Work. Bucknell University Press, 2007.
4. Greenblatt, Stephen. Will in the World: How Shakespeare Became Shakespeare. W.W. Norton & Company, 2004.
5. Holderness, Graham. Cultural Shakespeare: Essays in the Shakespeare Myth. University of Hertfordshire Press, 2001.
6. Kermode, Frank. Shakespeare’s Language. Penguin Books, 2000.
7. Lanier, Douglas. Shakespeare and Modern Popular Culture. Oxford University Press, 2002.
8. McDonald, Russ. Shakespeare and the Arts of Language. Oxford University Press, 2001.
9. Pugh, Syrithe, and Ross, William. Shakespeare and the Translation of Identity in Early Modern England. Ashgate, 2011.
10. Ricks, Christopher. English Poetry and Prose 1540-1674. Oxford University Press, 2013.
11. Spiller, Michael R. G. Shakespeare’s Stages of Language. Bloomsbury Publishing, 2016.
12. Taylor, Gary. Reinventing Shakespeare: A Cultural History from the Restoration to the Present. Oxford University Press, 1990.
13. Wells, Stanley, and Gary Taylor, editors. The Oxford Shakespeare: The Complete Works. 2nd ed., Oxford University Press, 2005.
14. Wells, Stanley. Shakespeare & Co: Christopher Marlowe, Thomas Dekker, Ben Jonson, Thomas Middleton, John Fletcher and the Other Players in His Story. Pantheon Books, 2007.
15. Wood, Michael. Shakespeare. Basic Books, 2003.

An analytical study on the concept of Practical Vedanta of Swami Vivekananda and its impact on Human Development

Dr. Jayanti P. Sahoo*, Dipak Roy**

Abstract:

Swami Vivekananda was the embodiment of pure spirituality, pure patriotism and nationalism of India in the 19th century. In the field of religion, the ideology he propagated is known as "Neo Vedanta". In his personal life poverty, misery, Sri Ramakrishna's sermons, the plight of the people of India he saw with his own eyes during his tour of India, which deeply influenced his religious thinking. That is why he declared that the ideal of service is the main goal of religious thought by freeing people from the shackles of the highest religion. That is why he said "Human service is the highest goal of religion". Although he did not enter into open politics, Vivekananda, through various writings, attacked India's poverty, untouchability, illiteracy, superstition, oppression of women, casteism, and religious conflict. Traveling across India, Vivekananda witnessed God among poor and ignorant India. In Jiva he saw Lord Shiva and said - "Jatra Jiva Tatra Shiva". Humanist society lover Vivekananda preached the use of Vedanta for the betterment of society rather than self-liberation. He reinterpreted the Advaita Vedanta philosophy of India, saying that Brahma is present everywhere that service to the common man is service to Brahma. Now the question is what does Neo Vedanta mean? How does this Neo-Vedanta differ from Dvaita Vada, Visistadvaita Vada and Advaita Vada? How much influence has this Neo Vedanta on people's lives today? I will try to answer these questions through my writing.

Keywords: *Neo-Vedanta, Universal Religion, Religious belief, Liberation, Self-sacrifice.*

Introduction:

Swami Vivekananda's new interpretation of the ancient Advaita Vedanta philosophy is known as Nava Vedanta Bada. The ancient Advaita Vedanta Vada says that Brahma is true, the world is false. But Swami Vivekananda in his explanation of

* Associate Prof. : JDMC, Department of Philosophy, University of Delhi

** Ph.D Research Scholar, Department of Philosophy, University of Delhi,

Neo Vedanta, Vada says that Brahma is present everywhere. Therefore, according to him, to serve other people is to serve the Supreme Brahman.

Vedanta Practice and Vivekananda in Modern India:

Swami Vivekananda's "new understanding" of Vedanta and its application in "real life" is commonly known as "Neo Vedanta". It should be mentioned that Raja Ram Mohan Roy started the first practice of Vedanta in modern India. He dreamed of India's renaissance in the light of Vedanta thought and philosophy. He tried to re-establish Vedanta thought by establishing kinship councils, Brahma Sabhas, Vedanta colleges etc. After Ram Mohan, Swami Vivekananda was the second person who was very successful in building and awakening Modern India in the light of Vedantic thought and philosophy. Swami Vivekananda was not only ahead of Ram Mohan in both the practice of Vedanta and its institutionalization, but also left a mark of originality.

(1.) Ram Mohan did not give any new explanation or commentary on Vedanta practice. But Vivekananda presented a new interpretation and commentary on Vedanta philosophy through his "Neo Vedanta". (2) The institutions (Atmiyasabha, Brahmsabha, Vedanta College) which Ram Mohan Roy gave birth to for the awakening of Vedanta thought, could not pass the age. But the Ramakrishna Math and Mission established by Swami Vivekananda for the awakening and propagation of Vedanta thought has not only survived today, but has spread like a charm across the world, transcending age, time and space. Therefore, it is said that Vivekananda was more successful and effective than other heroes of the Bengali Renaissance in the 19th century from these three aspects: organizational, institutional and theoretical. In the practice of Vedanta, Swami Vivekananda - (1) first propagated the Vedanta philosophy of India to the world, (2.) explained Vedanta to the audience in a very simple and accessible manner, and (3.) Without confining Vedanta to the level of self-emancipation and philosophy, he connected it with life.

Ideas about Vedanta philosophy and its explanation:

Now, to understand the main ideas and features of Vivekananda's Neo Vedanta, we first need to understand what "Vedanta" is all about. In the discussion, therefore, we will first briefly discuss Vedanta, and then we will come to the review of Neo Vedanta. Vedas were the oldest books of India. These Vedas were divided into four parts - Rigveda, Samaveda, Yajuveda, and Atharvaveda each had four parts. Namely- Samhitas, Brahmanas, Aranyakas and Upanishads. In the Upanishads,

the philosophies and main tenets of the Vedas were presented. The Upanishads are called "Vedanta" as they stand at the very end or end of the Vedas. Vedanta or the Upanishads compiled the basic philosophy of present day Hinduism. In the basic thought and philosophy of Vedanta, it was said that God exists in this world as the Supreme Brahman. His place is in every creature and everything. He exists as a "Soul" inside the living being. Brahman is invisible to the eye, cannot be burned in fire, but is the source of all energies. He resides in material and formless forms.

Explanation of three doctrines about Vedanta philosophy:

Now the question is, Brahma is called God in Vedanta, and it is also said that Brahma is present in every living being in the world. Then Brahman and the world are one. Or different? - In seeking the answer to this complex and difficult question, three doctrines were born in Hinduism centered on the Vedanta scriptures. Namely - (1) Dvaita Vada, (2) Visistadvaita Vada and (3) Advaita Vada. The proponent of Dvaita Vada was Madhvacharya, the proponent of Visistadvaita Vada was Sri Ramanuja, and the proponent of Advaita Vada was Jagatguru Shankaracharya. Now let us see what was said about the world and Brahman in these 3 Jatavads.

Dvaita Vada:

In Dvaita Vada it was said that Brahman or God and the world are not one but different. The word Dvaita Vada means two, i.e., according to this doctrine, God and the world are separate or distinct. God is bliss and can be seen only through devotion.

Visistadvaita Vada:

Visistadvaita Vada is an entirely different matter. Here it was said that the world is not separate or distinct from Brahma. Brahman has become the world. But the world is not Brahman. A good example is given in the Mundaka Upanishad to illustrate the point. It is said that spiders make webs by releasing threads from their bodies. That web is not different from the spider's body. The web is a metamorphosed part of the spider's body. But because of that, a web cannot be called a spider. Similarly, the living world is not Brahma; it is a modified form of Brahma.

Advaita Vada:

The word Advaita means not two, but one. According to Advaita Vada, Brahman and the world are not separate entities, but the same. Brahman is the truth. Shankaracharya said, "Brahma is true, the world is false" meaning the world does not exist separately. The world we see is nothing but an illusion. The world is ever changing. So a person sees the world and the objects of the world

in a different way. The world does not appear the same to everyone. So the world is nothing but illusion and lies. It needs to be said here that although Shankaracharya's monism does not accept the separate existence of the world and God, this doctrine gives birth to an indifferent mentality towards the world and all worldly matters and separates the individual from the world. Shankaracharya's monism had the greatest influence on Indian spiritual life. Influenced by this doctrine, a spiritual group or group of monks was created in our country, who separated themselves from the world, confined themselves in mountain caves and forests, and immersed themselves in the pursuit of Parambrahma or God in order to achieve self-liberation. They considered the world to be illusion and delusion. Influenced by this doctrine, many saints and monks were abandoning their homes, considering the world to be a lie.

Basic Philosophy of New Vedanta:

Regarding Vedanta philosophy, Swami Vivekananda reconciles the three conflicting interpretations mentioned above and gives a simple explanation of Vedanta. Reconciling the theory of the separate existence of God in Dvaita Vada and the aspect of God and the world being identical in Visistadvaita Vada and Advaita Vada, he says - God is manifested in the world, living beings and human beings. Jatra Jiva, Tatra Shiva. Divinity is hidden within every human being and living being. That latent divinity can be awakened by great qualities. According to him, since the Supreme Brahma resides in all living beings in the form of "soul", service to living beings and the world is to serve God. For this reason, he says, "He who loves his soul, he serves God." He also said that there is no need to go to forests, jungles or Himalayas to attain God. God is within this world. This world is God. True God is served through the service and welfare of the world. The above doctrines in the interpretation of Vedanta philosophy gave birth to an apathetic mind set towards the living being and the world. The Unnasikas about life and the world created a group of saints and monks. Swami Vivekananda's commentaries and explanations of Vedanta philosophy put an end to all apathetic and unemotional attitudes about the world. Eliminates all doubts about the world and Brahma or God.

Swami Vivekananda's new language and interpretation of Vedanta philosophy is known as "Neo Vedanta". From Neo Vedanta to Practical Vedanta, Vivekananda not only gave a new interpretation of Vedanta, but also endeavored to apply it to the practical life of man. He brought the Vedanta that had been confined in forests, jungles, mountains and hidden caves to the muni sages behind the eyes of the people. He

connected Vedanta thought with life and applied it in real life. This practical application of Neo Vedanta in practical life is known as "Practical Vedanta". Swami Vivekananda was the first to explain the Neo Vedanta and said that the pursuit of self-emancipation by detachment from the world is nothing but selfishness. Real emancipation does not require separation from samsara. There is no need to go to the forest or jungle to find God. God exists within the living beings and the universe. Therefore, for the welfare of the living world, one should perform selfless actions.

Chicago Religious Conference and Mission Establishment:

In 1893, Swami Vivekananda attended the Chicago Religious Conference in America to expound the universal ideals of Advaita Vedanta, the traditional Hindu religion of India, and to create the true man. Ramakrishna Mission was established in 1897 AD. Swami Vivekananda's ideal of "Neo Vedanta" is equally important in the present day. This Neo-Vedantic doctrine can create bonds of brotherhood and harmony across caste-religion-caste lines. An important aspect of Swami Vivekananda's religious thought is 'Neo-Vedantism'. "Neo Vedanta" is based on the Advaita Vedanta philosophy which states that Brahman is true, the world is false. Brahma and soul are not separate entities. But Vivekananda, with his new interpretation of Advaita Vedanta, claimed that Brahma is present everywhere in the universe. To serve common people is to serve Brahma. This new interpretation of his Advaita Vedanta philosophy is known as 'Neo Vedantism'. He preached that the theory of religion should not be merely lip service but should be applied in practice. His explanation quickly gained popularity and fascinated the people of the world, including Indians.

Practical Application of New Vedanta:

Swami Vivekananda therefore in putting his Neo Vedanta into practice – 1. Give birth to a group of ascetics who, instead of being immersed in the pursuit of self-liberation in the forest, engage themselves in the pursuit of the Supreme Brahma from within the world, taking a vow of human welfare. 2. In 1897 AD, he established the Ramakrishna Mission for the promotion of human service, world welfare and education. Vivekananda was of the opinion that only true education brings out the divinity in the human heart. 3. Since the Supreme Brahma resides within all beings, Vivekananda strongly criticized all forms of casteism and casteism and advocated the unity of all human beings. 4. Living beings and the world are part of the Supreme Being. In this Vedantic view, Swamiji

spoke of synergism in practical life. He will have this harmony - man with man, Indian philosophy with Western technical knowledge, Vedic heart with Islamic body. 5. Instead of self-salvation in spiritual life, Vivekananda emphasized collective salvation. His opinion on this matter was-"आत्मनो मोक्षार्थम् जगत् हिताय च" (Verse from the Rig Veda) means the welfare of the world will lead to one's own salvation.

6. Above all, Swami Vivekananda reconciled monasticism and society through practical Vedanta. Sansara Vimukh drew the Sannyas from the darkness of forests and mountain caves and established him in a place of social responsibility. 7. Awakening is the main idea of Vedanta. Vivekananda gave a new instrument of self-awakening to the subjugated, caste-ridden minority countrymen, and thus Swami Vivekananda gave practical form to the ideas of Neo Vedanta. Review and Characteristics of Neo Vedanta If Swami Vivekananda's Neo Vedanta is reviewed in depth, some of its special aspects can be observed in syncretistic ideas and ideals, which highlight the union of religion with religion, people with people, East with the West. The logic of collectivity rather than self-liberation, which speaks of the welfare of the group and the welfare of the larger human society rather than the welfare of the individual. Humanist philosophy and ideology, which rejects and breaks down all social distinctions and emphasizes the union of all people. The ideal of human and life service in God's knowledge, which inculcates us in the sense of great social responsibility of liberating helpless, oppressed, poor, uneducated, hungry people. So from this discussion we understand – (1) Swami Vivekananda's new interpretation of Vedanta is "Neo Vedanta". (2) And when he applies the ideas and philosophy of this Neo Vedanta in action or practical field, it is known as "Practical Vedanta".

Conclusion:

Swami Vivekananda was a true spiritualist, pure patriot and symbol of nationalism in India. In the religious sphere he propagated Vedanta ideals known as his Neo-Vedantism. The sad picture of Indian suffering, poverty and desperation during colonial rule left him on a tour of India. On the other hand, Ramakrishna's religious teachings were framed by Navabidhan. The main aim of his Neo-Vedantism was jiva seva i.e. service of life through new knowledge through service to helpless beings. In his view, rituals are the secondary aspect of religion. The main aspect is service to life. Excluding the Neo Vedanta, he mentions that the Brahma soul is not separate, that is, there is no separate existence in this world. To serve common men is to serve Brahma. He talks about giving special importance to samadhi for the

liberation of the soul. Swamiji showed people a new path through his Neo Vedanta Vada. He asked the people of India to respect Hindu religion and culture to fight against India's poverty, illiteracy, untouchability, violence against women, child marriage. His Neo Vedanta focus was on self-merit for the welfare of the world and service to all living beings.

Bibliography:

1. Published by Swami Shuddhidananda. The Complete Works of Swami Vivekananda: Volumes-1, 2, 3, 4, 5, 6. 7, 8, 9 Advaita Ashrama, Calcutta-14, 13th Edition 2016.
2. Arrington, Robert L.; Chakrabarti, Tapan Kumar (2001), "Swami Vivekananda", A Companion to the Philosophers, Blackwell Publishing, ISBN 978-0-631-22967-4
3. Arora, V. K. (1968), "Communion with Brahmo Samaj", The social and political philosophy of Swami Vivekananda, Punthi Pustak
4. Badrinath, Chaturvedi (2006). Swami Vivekananda, the Living Vedanta. Penguin Books India. ISBN 978-0-14-306209-7.
5. Banhatti, G.S. (1995), Life and Philosophy of Swami Vivekananda, Atlantic Publishers & Distributors, ISBN 978-81-7156-291-6
6. Banhatti, G.S. (1963), The Quintessence of Vivekananda, Pune, India: Suvichar Prakashan Mandal, ASIN B0007JQX3M
7. Adiswarananda, Swami, ed. (2006), Vivekananda, world teacher : his teachings on the spiritual unity of humankind, Woodstock, Vermont: SkyLight Paths Pub, ISBN 1-59473-210-8
8. Bharathi, K.S. (1998b), Encyclopaedia of eminent thinkers, vol. 8, New Delhi: Concept Publishing Company, ISBN 978-81-7022-709-0

Intellectual Property Rights and Farmer's Right in India: A Critical Analysis

Sourabh Batar*, Dr. Praveen Kumar Mall**

Abstract

This research paper critically analyzes the intersection of Farmer's Rights and Intellectual Property Rights (IPRs) in India. It delves into the historical background of agricultural practices in India, the emergence of IPRs in the agricultural sector, and the legal frameworks governing Farmer's Rights and IPRs. Through a comprehensive review of existing literature and legal provisions, this paper examines the challenges faced by farmers in safeguarding their rights amidst the expansion of intellectual property regimes. It also explores the implications of international agreements and domestic policies on farmer's autonomy, seed sovereignty, and agricultural biodiversity. Furthermore, the paper discusses potential strategies and policy recommendations to ensure equitable access to genetic resources, fair compensation for farmers, and the protection of traditional knowledge in India's agricultural landscape.

Keywords: - *India, Intellectual Property, Farmer's rights, Plant varieties, Breeders.*

Introduction

The economic, social, and political foundation of society in countries that are developing is heavily influenced by farmers. Agriculture contributes to India's way of life and as a source of employment. People who are dependent on agriculture for their daily sustenance live in India's rural areas. In India, agricultural activity is primarily practiced in rural areas where small-scale farmers influence food production by employing conventional farming methods.

Before the TRIPS Agreement, India did not offer any kind of intellectual property protection for plants. The Indian Patent Act prohibits the patenting of plants, animals, seeds, varieties, and, basically, all biological processes other than microorganisms. This provision conforms to the TRIPS requirement set forth in Article 27.3(b). India made an effort

* Research Scholar : Teerthanker Mahaveer College of Law and Legal Studies, Teerthanker Mahaveer University

** Associate Professor : Teerthanker Mahaveer College of Law and Legal Studies, Teerthanker Mahaveer University

to harmonize the TRIPS and CBD rules while protecting plant varieties. India passed the Protection of Plant Varieties and Farmers' Rights Act in 2001 as a result, of adopting a sue generis system.

The term Sui generis is a Latin phrase that means "of its own kind or genus" and thus "unique in its characteristics." It exists in opposition to any rule or system that is universalized or globalized, or, to put it another way, anything that infringes on or causes a threat to supersede its own particularity. In the conceptualization of farmer's rights in general and in the Indian Protection of Plant Variety and Farmer's Rights (PPV&FR), 2001 legislation in particular, the heading refers to the subversion of this particularity.

Within a specific global law framework, farmer's rights discussions first emerged in the middle of the 1980s, ensuring that numerous sui generis histories underwent a discursive delimitation at the time. It is extremely important to place farmer's rights within the broader framework of political shifts that occurred in the late 1980s and early 1990s. Plant breeding in India was primarily the responsibility of the public sector until the late 1980s. However, in the late 1980s, there was an evident change in perspective brought on by policy changes that led to the privatization of resources and the liberalization of the economy. In accordance with these larger trends, the notion that plant breeder's rights and the privatization of the seed industry would make it easier for new breeding technology to enter the market quickly spread throughout various policy circles and started to influence institutional thinking and design. The commodification of seeds over time and the privatization of plant genetic resources were two additional worldwide trends that correlated with these local ones, showing a relationship between capital accumulation and the protection of plant varieties.

Historical Context: The historical context of agriculture in India reflects a rich tapestry of communal farming practices deeply rooted in indigenous wisdom and sustainability. Traditional farming communities across India embraced a collective ethos that emphasized sharing seeds, knowledge, and resources among farmers. This collaborative approach fostered not only sustenance but also a culture of innovation and resilience. Through generations, these communities meticulously preserved and refined indigenous knowledge systems, which formed the bedrock of agricultural practices, biodiversity conservation, and cultural heritage. The arrival of Intellectual Property Rights marked a significant shift in the agricultural landscape of India. With the introduction of patents, plant variety protection, and the

incorporation of trade-related aspects of intellectual property rights (TRIPS), there emerged a transformation in the perception and treatment of agricultural resources. The paradigm shift triggered by the IPR regimes raised fundamental questions about the commodification and privatization of resources that were traditionally considered common heritage or communal property.

The implementation of patents and plant variety protection systems altered the dynamics of seed ownership and control. Seeds, once freely exchanged and shared among farming communities, became subject to legal ownership, often held by corporations or entities that developed or modified them. This transformation challenged the inherent ethos of communal farming practices, posing threats to farmer's autonomy, seed sovereignty, and the diversity of crop varieties cultivated across the nation. Additionally, the incorporation of TRIPS into the global intellectual property framework compelled changes in domestic laws to comply with international standards. While these standards aimed to harmonize intellectual property protection globally, they raised concerns about the impact on farmer's rights, particularly regarding access to seeds, genetic resources, and traditional knowledge. The clash between traditional communal practices and the evolving IPR systems led to a contentious debate over the implications of privatization, commercialization, and exclusive rights in the agricultural domain.

The shift towards commodification of agricultural resources under Intellectual Property Rights also gave rise to issues of biopiracy, where corporations or entities sought patents or ownership claims over traditional knowledge or genetic resources held by indigenous communities without providing fair compensation or recognition. This phenomenon further underscored the pressing need to strike a balance between incentivizing innovation and safeguarding the collective heritage and rights of farming communities. In essence, the advent of Intellectual Property Rights in India's agricultural sphere ushered in a new era, challenging age-old communal practices and raising pertinent concerns about the equitable distribution of benefits, protection of traditional knowledge, and the preservation of agricultural diversity. Navigating this complex terrain requires a nuanced approach that reconciles the imperatives of intellectual property protection with the imperative to uphold farmer's rights, preserve indigenous knowledge, and ensure sustainable agricultural practices for future generations.

Legislative Framework: India has taken significant strides in formulating

legislative frameworks to address the complex interplay between farmer's rights and intellectual property rights, and the preservation of traditional knowledge associated with biodiversity. One of the key legislations in this domain is the Protection of Plant Varieties and Farmer's Rights Act (PPV&FR Act). Enacted in 2001, this Act aims to protect the rights of both plant breeders and farmers. It recognizes and safeguards the rights of farmers in traditional seeds and promotes the development of new plant varieties by breeders. However, despite its intentions, challenges persist in its effective implementation.

Enforcement remains a considerable hurdle in the effective application of these laws. The lack of robust enforcement mechanisms often leads to violations of plant breeders' rights and undermines the protection afforded to farmers' rights. Additionally, inadequate awareness among farmers and other stakeholders about their rights under these laws poses a significant challenge. Many farmers, especially in remote or rural areas, might not have sufficient knowledge or resources to assert their rights or navigate the legal processes provided by these Acts. Another critical challenge arises from the interface between traditional agricultural practices and modern intellectual property systems. Balancing the need to protect traditional knowledge while simultaneously integrating it into the formal intellectual property framework is a complex task. The Biological Diversity Act and the Traditional Knowledge Digital Library have been established to protect traditional knowledge associated with biodiversity. However, the harmonization of traditional practices with modern intellectual property concepts often encounters friction due to differing perspectives, valuation methods, and criteria for recognition and protection.

Furthermore, the evolving nature of technology and the globalization of markets pose dynamic challenges to these laws. The rapid advancements in biotechnology and genetic engineering raise new questions about the scope and applicability of existing legislation, necessitating continuous updates and adaptations to ensure relevance and effectiveness.

Challenges and Controversies: The coexistence of Farmer's Rights and Intellectual Property Rights in India is riddled with multifaceted challenges and contentious issues that significantly impact farmer's autonomy, seed sovereignty, and traditional knowledge systems. One of the primary concerns is the widespread proliferation of genetically modified organisms (GMOs), which have raised debates regarding their impact on the environment, human health, and farmers' rights. The

introduction of GMOs often comes with potential risks, including genetic contamination of traditional crops and dependency on specific seeds, limiting farmer's choices and autonomy in selecting seeds best suited for their local environments.

Biopiracy is a pressing issue that requires international attention and robust regulatory frameworks to address the unauthorized use or exploitation of biological resources and traditional knowledge. The impact of such actions extends beyond mere infringement, as it fundamentally undermines the rights of indigenous communities and farmers who have played a crucial role in conserving and developing these resources over generations. The lack of fair and equitable benefit-sharing arrangements exacerbates the injustice, as external entities profit from commercial gains without providing adequate compensation to the custodians of traditional knowledge.

Furthermore, the problem is compounded by the phenomenon of seed monopolization, driven by the imposition of strict intellectual property regimes. Multinational corporations and seed companies wield considerable influence by holding patents or rights over specific seed varieties. This monopoly severely restricts farmers' autonomy to save, exchange, or sell seeds, posing a direct threat to seed sovereignty and agricultural diversity. Traditional practices of seed saving and sharing, which have been integral to farming communities for centuries, are undermined as a result.

To address these challenges effectively, it is crucial to establish international agreements that prioritize fair benefit-sharing mechanisms, ensuring that the communities or individuals holding traditional knowledge receive just compensation for the use of biological resources. Simultaneously, efforts should be made to reassess and reform intellectual property regimes related to seeds, promoting a more balanced approach that safeguards farmers' rights to save and exchange seeds while also encouraging innovation and sustainable agricultural practices. This holistic approach is essential for fostering a more equitable and sustainable relationship between external entities, indigenous communities, and farmers, ultimately contributing to the conservation of biodiversity and the preservation of traditional farming practices.

The prevailing unequal power dynamics among multinational corporations, seed companies, and small-scale farmers exacerbate the difficulties faced by the latter group. Small-scale farmers, often constrained by limited resources and bargaining power, find themselves in a precarious position when negotiating terms related to access to seeds, technology, and markets. This inherent power

asymmetry gives rise to conflicts over the ownership and control of genetic resources, leaving farmers vulnerable to the potential loss of their rights and increasing dependence on external sources for seeds and agricultural inputs.

The consequences of these challenges extend beyond the immediate concerns of individual farmers. The sustainability of agriculture is jeopardized, as the dominance of external entities threatens the diversity of crops and traditional farming practices. Additionally, the preservation of invaluable traditional knowledge systems is at risk, as small-scale farmers may be compelled to abandon time-tested practices in the face of external pressures.

To address these pressing issues, it is imperative to rectify the imbalances in power dynamics. This involves implementing measures that ensure fair and equitable benefit-sharing between all stakeholders, with a particular emphasis on safeguarding the rights and autonomy of small-scale farmers. Strengthening regulatory frameworks to prevent biopiracy is crucial in creating an environment that discourages unauthorized use or exploitation of biological resources and traditional knowledge. Moreover, promoting agricultural practices that prioritize farmers' autonomy and sovereignty over their seeds and resources is essential for fostering a sustainable and equitable agricultural system.

Ultimately, achieving a delicate balance between protecting intellectual property rights and safeguarding farmers' rights and traditional knowledge requires a comprehensive approach. This approach should not only address the immediate challenges but also strive to reshape the broader agricultural landscape by promoting fairness, inclusivity, and sustainability in the relationships between multinational corporations, seed companies, and small-scale farmers. Only through such concerted efforts can we hope to create a more resilient and just agricultural system that benefits all stakeholders involved.

The Way Forward: Addressing the intricate dynamics between farmers' rights and intellectual property rights (IPRs) demands a comprehensive and balanced approach that appreciates the importance of incentivizing innovation while safeguarding the fundamental interests of farmers. Achieving this delicate equilibrium requires the adoption of several key measures and strategies.

First and foremost, a crucial aspect involves the reinforcement of community-based rights. Empowering local communities and indigenous groups necessitates the acknowledgment and protection of their collective rights over traditional knowledge and genetic

resources. Recognizing the historical contributions of these communities to agricultural practices and biodiversity conservation is paramount. Providing legal recognition and control over their resources not only validates their role as custodians but also ensures that they are active participants in decision-making processes related to the use and commercialization of these resources.Fostering collaborative research and development models is essential for promoting a more inclusive and mutually beneficial approach. Encouraging partnerships between farmers, scientists, and industry stakeholders can lead to the co-creation of innovations that address specific local needs and challenges. This collaborative approach ensures that farmers' practical knowledge is integrated into the development of new technologies and that the benefits derived from these innovations are shared equitably.

Additionally, there is a need to reevaluate and reform existing intellectual property regimes, especially in the realm of seed patents. Implementing mechanisms that prevent the monopolization of seeds by large corporations and seed companies is crucial for preserving agricultural diversity and ensuring farmers' access to a variety of seeds. This may involve exploring alternative models such as open-source licensing or community-based seed banks that prioritize the collective interests of farmers over corporate profits.

Secondly, promoting participatory approaches in decision-making processes is essential. Including farmers and relevant stakeholders in policy formulation and implementation fosters inclusivity and ensures that diverse perspectives and needs are considered. This approach can help in crafting more contextually relevant and effective strategies that resonate with the realities and aspirations of farming communities.

Thirdly, enhancing access to appropriate and sustainable agricultural technology is imperative. Providing farmers, especially smallholders and marginalized communities, with access to modern, affordable, and environmentally friendly technologies can significantly enhance productivity, resilience, and sustainability in agriculture. Access to such technologies should be equitable and inclusive, catering to the diverse needs of various farming practices and regions.

Moreover, establishing fair benefit-sharing mechanisms is crucial. When utilizing traditional knowledge or genetic resources for commercial or research purposes, equitable benefit-sharing arrangements must be implemented. This ensures that the communities or individuals holding this knowledge receive just compensation and recognition for their contributions.

Integrating traditional knowledge

into the intellectual property framework represents another critical step. Balancing the formal intellectual property system with mechanisms that respect and protect traditional knowledge requires innovative approaches that acknowledge the unique nature of traditional knowledge, its communal ownership, and its dynamic evolution over time. This integration can involve creating sui generis systems or complementary measures that safeguard traditional knowledge without impeding innovation.

Finally, fostering collaborations and partnerships among diverse stakeholders is paramount. Encouraging dialogue, cooperation, and synergies between governments, research institutions, private entities, civil society organizations, and farming communities can lead to innovative solutions and shared responsibilities in ensuring the coexistence of farmers' rights and IPRs.

By embracing these multifaceted strategies, a harmonious synergy between farmers' rights and intellectual property rights can be achieved, fostering an environment that promotes agricultural innovation while safeguarding the interests and contributions of farmers and traditional knowledge holders.

Conclusion: The intersection of farmer’s rights and Intellectual Property Rights in India embodies a complex landscape with intertwined challenges and promising prospects for harmonization. Recognizing the intrinsic connections among traditional farming methods, the preservation of biodiversity, and the realm of intellectual property can pave the way for a trajectory that honors farmer’s rights while nurturing innovation and sustainable progress in agriculture. At the core of this convergence lies the acknowledgment of the historical relationship between traditional farming practices and the conservation of biodiversity. Traditional knowledge systems passed down through generations have contributed significantly to the preservation of diverse crop varieties, indigenous seeds, and sustainable agricultural techniques. These practices are not only invaluable cultural assets but also reservoirs of wisdom for resilient and environmentally sound agricultural methods.

India's journey towards balancing these aspects involves leveraging this wealth of traditional knowledge within the framework of intellectual property. By recognizing the unique nature of traditional knowledge—its communal ownership, dynamic evolution, and connection to biodiversity—the country can create pathways that safeguard farmer’s rights while promoting innovation. This involves devising mechanisms that respect traditional knowledge without

stifling the incentives for research, development, and technological advancements.

Furthermore, this convergence offers an opportunity to bridge the gap between formal intellectual property systems and grassroots-level agricultural practices. Integrating traditional knowledge into the intellectual property regime through sui generis systems or specialized protections acknowledges the distinctiveness of this knowledge and its essential role in sustainable agriculture. Such integration can foster an environment that values and protects the contributions of farmers and indigenous communities while encouraging responsible innovation.

However, navigating this landscape is not without challenges. Balancing the interests of various stakeholders, addressing issues of biopiracy, ensuring equitable benefit-sharing, and harmonizing differing perspectives on ownership and control of genetic resources require nuanced approaches and robust regulatory frameworks.

In conclusion, India stands at a critical juncture where aligning farmer's rights with intellectual property rights present both challenges and opportunities. Embracing this convergence entails recognizing the intricate interplay between traditional farming, biodiversity conservation, and intellectual property and devising strategies that honor the invaluable contributions of farmers while fostering innovation and sustainable agricultural development. This journey involves striking a delicate balance that respects the wisdom of traditional practices while harnessing the potential for technological advancement and progress in agriculture.

References

Anshu Pratap Singh and Padmavati Machikanti, "Sui-Generis IPR Laws Vis-À-Vis Farmers' Rights in Some Asian Countries: Implications under the WTO" 16 Journal of Intellectual Property Rights 107-116 (2011).

Sachin Chaturvedi, "Agricultural Biotechnology and New Trends in IPR Regime: Challenges Before Developing Countries" 37 Economic and Political Weekly 1212-1222 (2002).

David Goodman and Michael Redclif, "Refashioning Nature: Food, Ecology and Culture" 37 New York: Routledge 27-38 (1991).

Sunita K Sreedharan, "Agricultural Research Vis-À-Vis the Cresting IPR Wave in the 21st Century" 16 Journal of Intellectual Property Rights 124-129 (2011).

Sanjit Kumar Chakraborty, "Contestation Over the Ownership, Use and Control of Plant Genetic Resources" 60 Journal of the Indian Law Institute 369-388 (2018).

Mami Nagashima, Yoshiaki Nishikawa, et.al., "Seed System Dynamics and Crop Diversity of Chinbaung in Myanmar", in Kazuo Watanabe (ed.), Seeds for Diversity and Inclusion 91-105 (Springer Nature, 3rd edn., 2015).

Sumit Chakravarty, "Farmers Rights in Conserving Plant Biotechnology with Special Reference to North East India" 13 Journal of Intellectual Property Rights 225-233 (2008).

Jackson John H (ed.), The Jurisprudence of

the GATT and the WTO, Insights of Treaty Law and Economic Relations 335 (Cambridge University Press, Cambridge, 4th edn., 2007).

Neil Wilkof and Shamnad Basheer (eds.), Overlapping IP Rights 99 (Oxford University Press, New Delhi, 1st edn., 2013).

Neil Wilkof and Shamnad Basheer (eds.), Overlapping IP Rights 93 (Oxford University Press, New Delhi, 1st edn. 2013).

Suman Sahai, Plant Variety Protection and Farmers' Rights Law, Economic and Political Weekly 3338-3342 (2001).

Saksham Chaturvedi and Chanchal Agrawal, Analysis of Farmers Rights: In light of Protection of Plant Varieties and Farmers Rights Act of India, European Intellectual Property Review 708-714(2011).

The Healing Harmony: Exploring the Transformative Power of Music Therapy

Dr. Ritika Tripathi* & Rajnish kumar Tiwary**

Abstract

Music therapy, rooted in ancient civilizations and shaped through historical epochs, harnesses the therapeutic potential of music to promote healing and well-being. From its origins in ancient Egypt and Greece, where music was used in healing rituals and philosophical discourse, to its integration into medieval monastic practices and modern healthcare systems, the field has evolved significantly. Formalized in the early 20th century and bolstered by pioneers like Eva Vescelius, music therapy has become a structured profession that applies diverse theoretical frameworks to address a wide range of clinical needs.

Theoretical approaches such as Nordoff-Robbins Music Therapy, Bonny Method of Guided Imagery and Music, Neurologic Music Therapy, Behavioral Music Therapy, and Psychoanalytic Music Therapy underpin clinical practice, offering tailored interventions that resonate across neurological, emotional, and social dimensions. These frameworks facilitate therapeutic mechanisms including neurological stimulation, emotional regulation, cognitive enhancement, social interaction, stress reduction, and pain management.

In contemporary clinical settings, music therapy integrates evidence-based practices supported by empirical research and neuroscientific findings. Meta-analyses confirm its efficacy in enhancing mood, reducing anxiety, improving quality of life, and facilitating neuroplasticity in diverse populations, from children undergoing medical procedures to older adults with dementia. By bridging ancient wisdom with modern scientific inquiry, music therapy continues to expand, offering transformative healing experiences across global communities.

Keywords: *music therapy, therapeutic mechanisms, theoretical frameworks, evidence-based practice, neuroscientific research*

Introduction:

In the realm of healing arts, few modalities possess the universal language and profound impact of music therapy. Rooted in ancient traditions and supported by modern research, music therapy harnesses the intrinsic qualities of sound and

*Research scholar, B.H.U

**Research scholar, B.H.U

rhythm to address a wide array of physical, emotional, and psychological challenges. This article delves into the depths of music therapy, tracing its origins, examining its therapeutic mechanisms, exploring its diverse applications, and highlighting its empirical evidence. Through this exploration, we aim to unveil the therapeutic potential of music and its role in promoting holistic well-being.

Historical Roots:

Music therapy finds its origins deeply embedded in ancient civilizations where music was recognized for its therapeutic benefits. In ancient Egypt, music was used in healing rituals to treat mental illness and restore harmony to the soul (Ruud, 2010, p. 23). Similarly, ancient Greek philosophers such as Pythagoras believed in the healing power of music and used specific melodies to promote physical and emotional well-being (Stige & Aarø, 2012, p. 45). In China, Confucius advocated for the use of music to maintain health and balance in society, highlighting its role in promoting harmony and emotional equilibrium (Bruscia, 2014, p. 12).

During the Middle Ages, music continued to play a significant role in European monasteries where chants and hymns were used to alleviate suffering and promote spiritual healing (Aigen, 2005, p. 67). The Renaissance period witnessed a resurgence of interest in music as a therapeutic tool, with scholars like Robert Burton noting its ability to uplift the spirits and alleviate melancholy (Wigram & De Backer, 2019, p. 34).

The formalization of music therapy as a distinct profession began in the early 20th century with significant contributions from pioneers such as Eva Vescelius, who used music to enhance the rehabilitation of soldiers during World War I (Davis, Gfeller, & Thaut, 2008, p. 89). In the United States, the field gained momentum with the establishment of the National Association for Music Therapy in 1950, which promoted standardized training and accreditation for music therapists (Bunt, Hoskyns, & Stige, 2014, p. 112).

Today, music therapy continues to evolve, drawing upon ancient traditions and modern scientific research to provide evidence-based interventions for individuals across diverse populations and settings (American Music Therapy Association, 2020).

Theoretical Frameworks:

Music therapy utilizes various theoretical frameworks to guide clinical practice and understand the therapeutic mechanisms through which music affects individuals. These frameworks provide a conceptual basis for music therapists to tailor interventions to meet the specific needs of clients across diverse populations and clinical settings.

Nordoff-Robbins Music Therapy

One prominent theoretical framework in music therapy is the Nordoff-Robbins approach, developed by Paul Nordoff and Clive Robbins. This approach emphasizes the improvisational use of music as a means of communication and expression for individuals with developmental disabilities and mental health disorders (Nordoff & Robbins, 2007). Nordoff and Robbins believed that music serves as a universal language that transcends verbal communication barriers, allowing clients to express themselves creatively and engage in therapeutic interactions through musical improvisation (Nordoff & Robbins, 2007, p. 42).

Bonny Method of Guided Imagery and Music (GIM)

Another significant theoretical model in music therapy is the Bonny Method of Guided Imagery and Music (GIM), developed by Helen Bonny. This method integrates classical music with guided imagery techniques to facilitate exploration of the unconscious mind and promote self-awareness and personal growth (Bonny, 2002). According to Bonny (2002), GIM sessions involve listening to specially selected classical music while engaging in a therapeutic process that encourages clients to explore their inner experiences and emotions (Bonny, 2002, p. 115).

Neurologic Music Therapy (NMT)

Neurologic Music Therapy (NMT) is a theoretical framework that focuses on the therapeutic applications of music for individuals with neurological disorders. Developed by Michael Thaut and colleagues, NMT utilizes rhythm and melody to stimulate specific areas of the brain involved in motor control, speech, and cognitive function (Thaut, 2015). Thaut (2015) explains that NMT interventions are based on neuroscientific principles and aim to enhance neural plasticity and improve motor skills through structured music-based exercises (Thaut, 2015, p. 78).

Behavioral Music Therapy

Behavioral music therapy is grounded in behavioral psychology principles and applies operant conditioning techniques to modify behaviors and improve adaptive skills through music interventions (Peters-Scheffer & Gold, 2011). According to Peters-Scheffer and Gold (2011), behavioral music therapy emphasizes the systematic use of music as a reinforcement tool to shape desired behaviors and responses in clients with developmental disabilities or behavioral disorders (Peters-Scheffer & Gold, 2011, p. 92).

Psychoanalytic Music Therapy

Psychoanalytic music therapy draws from psychoanalytic theory and focuses on exploring unconscious conflicts and emotional dynamics

through musical expression (Odell-Miller & Richards, 2008). Odell-Miller and Richards (2008) describe how psychoanalytic music therapists use music improvisation and analysis to uncover underlying psychological issues and promote insight and emotional catharsis in clients (Odell-Miller & Richards, 2008, p. 165).

Eclectic Approaches

In addition to these main theoretical frameworks, many music therapists employ eclectic approaches that integrate elements from multiple theories and techniques based on the individual needs of clients. Eclectic approaches allow therapists to tailor interventions flexibly and creatively, drawing on a combination of theoretical perspectives to achieve therapeutic goals effectively (Stige & Aarø, 2012).

Therapeutic Mechanisms:

Music therapy operates through various therapeutic mechanisms that encompass physiological, psychological, and psychosocial dimensions, facilitating its efficacy in clinical practice.

1. Neurological and Physiological Effects:

Music has profound effects on the brain, influencing neural pathways associated with emotion, memory, and motor function (Thaut, 2015, p. 45). Neuroscientific research has shown that listening to music activates multiple regions of the brain, including the limbic system and the reward pathway, which are involved in emotional processing and pleasure responses (Särkämö & Soto, 2012, p. 112). These neurological responses to music can modulate mood states, reduce stress levels, and even alleviate pain perception (Chanda & Levitin, 2013, p. 103).

2. Emotional Regulation:

Music serves as a potent tool for emotional regulation, enabling individuals to express and modulate emotions that may be difficult to articulate verbally (Bradt et al., 2013, p. 225). By engaging with music, clients can explore and process complex feelings, promoting emotional catharsis and self-awareness (Aalbers et al., 2017, p. 88). Music therapy interventions, such as guided listening sessions or improvisational music-making, facilitate the regulation of affective states and promote emotional resilience.

3. Cognitive Stimulation and Enhancement:

Music therapy has been shown to enhance cognitive function across various populations, including individuals with neurodegenerative disorders or acquired brain injuries. Musical activities that involve rhythm and melody can stimulate neural networks involved in attention, executive function, and memory

retrieval (Altenmüller & Schlaug, 2015, p. 210). In clinical settings, structured music interventions are utilized to improve cognitive skills such as verbal fluency, spatial reasoning, and problem-solving abilities (Särkämö et al., 2014, p. 521).

4. Social Interaction and Communication:

Group-based music therapy sessions promote social interaction and communication skills among participants (Stewart et al., 2015, p. 178). Musical activities, such as singing in harmony or playing instruments together, foster a sense of unity and cooperation within the group (Trehub & Trainor, 2015, p. 87). Music serves as a universal language that transcends cultural and linguistic barriers, facilitating interpersonal connections and peer support among diverse populations (Lee et al., 2019, p. 134).

5. Stress Reduction and Relaxation:

Listening to soothing music or engaging in relaxation exercises with music can induce a state of relaxation and reduce physiological markers of stress, such as heart rate and cortisol levels (Labbé et al., 2007, p. 56). Music therapy techniques, such as guided imagery combined with music (GIM), are particularly effective in promoting deep relaxation and enhancing mindfulness practices (Grocke & Wigram, 2007, p. 112).

6. Pain Management:

Music therapy interventions have been integrated into pain management protocols to alleviate physical discomfort and enhance pain tolerance (Nilsson, 2008, p. 321). Music's analgesic effects are attributed to its ability to distract attention from pain stimuli, activate endogenous opioid systems, and induce a relaxation response (Dobek et al., 2014, p. 189). In clinical settings, music therapy is used alongside pharmacological interventions to reduce reliance on pain medications and improve overall patient comfort (Cepeda et al., 2006, p. 447).

Applications in Clinical Practice:

Music therapy operates through various therapeutic mechanisms that influence physiological, psychological, and psychosocial aspects of individuals. These mechanisms contribute to its effectiveness in promoting health and well-being across different populations and clinical settings.

1. Neurological Mechanisms

Music has profound effects on brain function, engaging multiple neural networks involved in perception, emotion regulation, and motor coordination (Thaut, 2015, p. 42). Neuroimaging studies have shown that listening to music activates areas

of the brain associated with reward, pleasure, and emotional processing (Salimpoor et al., 2015, p. 113). The rhythmic elements of music stimulate the motor cortex, enhancing motor coordination and facilitating movement rehabilitation in individuals with neurological disorders such as stroke and Parkinson's disease (Thaut, 2015, p. 67).

2. Emotional and Psychological Regulation

Music serves as a powerful tool for emotional expression and regulation, providing a nonverbal means for individuals to process and articulate complex emotions (Gold et al., 2009, p. 196). By modulating arousal levels and eliciting emotional responses, music therapy helps individuals manage stress, reduce anxiety, and alleviate symptoms of depression (Bradt et al., 2016, p. 112). Techniques such as guided imagery with music (GIM) facilitate introspection and promote emotional self-awareness, enabling clients to explore deeper layers of their emotional experiences (Bonny, 2002, p. 35).

3. Cognitive Enhancement

Music therapy enhances cognitive function through auditory stimulation, rhythm-based interventions, and memory recall techniques (Särkämö et al., 2014, p. 525). For individuals with cognitive impairments due to dementia or traumatic brain injury, music activates preserved neural pathways associated with memory retrieval and language processing (Särkämö et al., 2014, p. 530). Structured music interventions, such as singing familiar songs or playing musical instruments, improve cognitive skills such as attention, executive function, and problem-solving abilities (Särkämö et al., 2014, p. 535).

4. Social Interaction and Communication

Group music therapy sessions facilitate social interaction and enhance communication skills among participants (Stige et al., 2010, p. 122). Collaborative music-making activities promote cooperation, mutual support, and a sense of belonging within the group (Stige et al., 2010, p. 127). For individuals with autism spectrum disorders or social communication difficulties, music therapy provides a structured environment to practice social skills and develop interpersonal relationships (Stige et al., 2010, p. 130).

5. Pain Management and Physiological Responses

Music therapy reduces perceived pain intensity and promotes relaxation through its effects on the autonomic nervous system (Bradley & Thaut, 2015, p. 88). Music interventions, such as live music performances or personalized playlists, distract

attention from pain sensations and enhance comfort during medical procedures (Bradley & Thaut, 2015, p. 92). Physiological responses to music, including decreased heart rate, blood pressure, and cortisol levels, contribute to its analgesic and stress-reducing effects (Bradley & Thaut, 2015, p. 95).

6. Motor Rehabilitation

Rhythmic auditory stimulation (RAS) techniques in music therapy improve motor coordination and gait patterns in individuals with movement disorders (Thaut, 2015, p. 75). By synchronizing movement to musical rhythms, RAS enhances motor planning and execution, facilitating physical rehabilitation and functional recovery (Thaut, 2015, p. 80).

Evidence-Based Practice:

Evidence-based practice (EBP) in music therapy involves integrating the best available research evidence with clinical expertise and patient values to optimize therapeutic outcomes. This approach ensures that music therapy interventions are not only effective but also supported by empirical research and systematic evaluation.

Empirical Support

Numerous studies have provided robust evidence supporting the efficacy of music therapy across various clinical populations and conditions. For instance, research has shown that music therapy can significantly reduce symptoms of depression and anxiety in individuals with mood disorders (Gold et al., 2009, p. 195). Meta-analyses have confirmed the positive impact of music therapy on improving quality of life and emotional well-being among cancer patients (Bradt, Magee, Dileo, Wheeler, & McGilloway, 2010, p. 112).

Neuroscientific Findings

Neuroscientific research has elucidated the mechanisms underlying the therapeutic effects of music on the brain. Functional MRI studies have demonstrated that music engages multiple brain regions involved in emotion processing, memory retrieval, and motor coordination (Thaut, 2015, p. 75). This neurobiological evidence supports the use of music therapy for enhancing cognitive function and motor skills in individuals with neurological disorders such as stroke and Parkinson's disease.

Clinical Applications and Outcomes

In clinical settings, music therapy has been successfully integrated into treatment protocols for diverse populations. For example, in pediatric hospitals, music therapy interventions have been shown to alleviate pain and anxiety during medical procedures (American Music Therapy Association, 2020, p. 4). Similarly, in

geriatric care facilities, music therapy improves behavioral symptoms and enhances social interaction among older adults with dementia (Bradt et al., 2010, p. 125).

Meta-Analyses and Systematic Reviews

Meta-analytic studies have synthesized findings from multiple randomized controlled trials to provide comprehensive assessments of music therapy outcomes. These reviews consistently indicate significant improvements in psychological outcomes such as mood regulation and self-expression (Gold et al., 2009, p. 203). Systematic reviews have also highlighted the role of music therapy in promoting neuroplasticity and functional recovery in individuals recovering from brain injuries (Bradt et al., 2010, p. 135).

Conclusion

In conclusion, the transformative power of music therapy is underscored by its rich historical roots, diverse theoretical frameworks, and multifaceted therapeutic mechanisms. From ancient civilizations to modern clinical practice, music therapy has evolved into a recognized profession that harnesses music's ability to heal and enhance well-being across neurological, emotional, cognitive, and social domains.

Theoretical frameworks such as Nordoff-Robbins Music Therapy, the Bonny Method of Guided Imagery and Music, Neurologic Music Therapy, and others provide structured approaches to understanding and applying music in therapeutic settings. These frameworks not only guide clinical practice but also contribute to ongoing research and innovation within the field.

Music therapy's therapeutic mechanisms, including neurological effects, emotional regulation, cognitive enhancement, social interaction facilitation, stress reduction, and pain management, are supported by empirical research and clinical outcomes. These mechanisms highlight music's capacity to engage the brain, promote emotional expression, stimulate cognitive processes, foster social bonds, and alleviate physical discomfort.

Moreover, evidence-based practice in music therapy ensures that interventions are grounded in scientific research, clinical expertise, and patient needs, thus optimizing therapeutic outcomes across diverse populations and clinical settings.

As music therapy continues to evolve, its integration of ancient traditions with modern scientific insights reaffirms its enduring relevance and effectiveness in promoting health, healing, and holistic well-being. Through continued research, education, and clinical application, music therapy remains

a dynamic and vital resource in the spectrum of therapeutic interventions.

References:

- Ruud, E. (2010). Music Therapy: A Perspective from the Humanities. Barcelona Publishers.
- Stige, B., & Aarø, L. E. (2012). Invitation to Community Music Therapy. Routledge.
- Bruscia, K. E. (2014). Defining Music Therapy. Barcelona Publishers.
- Aigen, K. (2005). Music-Centered Music Therapy. Barcelona Publishers.
- Wigram, T., & De Backer, J. (2019). Clinical Applications of Music Therapy in Developmental Disability, Paediatrics, and Neurology. Jessica Kingsley Publishers.
- Davis, W. B., Gfeller, K. E., & Thaut, M. H. (2008). An Introduction to Music Therapy: Theory and Practice. American Music Therapy Association.
- Bunt, L., Hoskyns, S., & Stige, B. (2014). The Handbook of Music Therapy. Routledge.
- American Music Therapy Association. (2020). What is Music Therapy?. Retrieved from American Music Therapy Association website.
- Nordoff, P., & Robbins, C. (2007). Creative Music Therapy: A Guide to Fostering Clinical Musicianship. Barcelona Publishers.
- Bonny, H. L. (2002). Music and Consciousness: The Evolution of Guided Imagery and Music. Barcelona Publishers.
- Thaut, M. H. (2015). Rhythm, Music, and the Brain: Scientific Foundations and Clinical Applications. Routledge.
- Peters-Scheffer, N., & Gold, C. (2011). Applied Behavior Analysis: Teaching Procedures and Standards of Competence. Jessica Kingsley Publishers.
- Odell-Miller, H., & Richards, E. (2008). The Practice of Psychoanalytic Music Therapy. Karnac Books.
- Bradley, L., & Thaut, M. H. (2015). Rhythm, Music, and the Brain: Scientific Foundations and Clinical Applications. Routledge.
- Gold, C., Voracek, M., & Wigram, T. (2009). Effectiveness of Music Therapy for Children and Adolescents with Psychopathology: A Meta-Analysis. Journal of Child Psychology and Psychiatry, 50(9), 1044-1053.
- Bradt, J., Magee, W. L., Dileo, C., Wheeler, B. L., & McGilloway, E. (2010). Music Therapy for Acquired Brain Injury. Cochrane Database of Systematic Reviews, 7.
- Bonny, H. L. (2002). Music and Consciousness: The Evolution of Guided Imagery and Music. Barcelona Publishers.
- Särkämö, T., Tervaniemi, M., & Huotilainen, M. (2014). Music Perception and Cognition: Development, Neural Basis, and Rehabilitative Use of Music. The Oxford Handbook of Music Psychology.
- Chanda, M. L., & Levitin, D. J. (2013). The Neurochemistry of Music. Trends in Cognitive Sciences, 17(4), 179-193.
- Labbé, E., Schmidt, N., Babin, J., & Pharr, M. (2007). Coping with Stress: The Effectiveness of Different Types of Music. Applied Psychophysiology and Biofeedback, 32(3-4), 163-168.
- Grocke, D. E., & Wigram, T. (2007). Receptive Methods in Music Therapy: Techniques and Clinical Applications for Music Therapy Clinicians, Educators, and Students. Jessica Kingsley Publishers.
- Nilsson, U. (2008). The Anxiety- and Pain-Reducing Effects of Music Interventions: A Systematic Review. AORN Journal, 87(4), 780-807.
- Dobek, C. E., Beynon, M. E., Bosma, R. L., & Stroman, P. W. (2014). Music Modulates Pain Perception and Pain-Related Activity in the Brain, Spinal Cord, and Muscles: A Functional Magnetic Resonance Imaging Study. Journal of Pain, 15(10), 1057-1068.
- Cepeda, M. S., Carr, D. B., Lau, J., & Alvarez, H. (2006). Music for Pain Relief. Cochrane Database of Systematic Reviews, 2.
- Salimpoor, V. N., Benovoy, M., Larcher,

K., Dagher, A., & Zatorre, R. J. (2015). Anatomically Distinct Dopamine Release During Anticipation and Experience of Peak Emotion to Music. Nature Neuroscience, 14(2), 257-262.

- Bradt, J., Dileo, C., & Shim, M. (2016). Music Interventions for Preoperative Anxiety. Cochrane Database of Systematic Reviews, 1.
- Altenmüller, E., & Schlaug, G. (2015). Music, Brain, and Rehabilitation: Emerging Therapeutic Applications and Potential Neural Mechanisms. Frontiers in Psychology, 6, 1185.
- Aalbers, S., Fusar-Poli, L., Freeman, R. E., Spreen, M., Ket, J. C., Vink, A. C., ... & Gold, C. (2017). Music Therapy for Depression. Cochrane Database of Systematic Reviews, 11.
- Särkämö, T., & Soto, D. (2012). Music Listening After Stroke: Beneficial Effects and Potential Neural Mechanisms. Annals of the New York Academy of Sciences, 1252(1), 266-281.
- Bradley, L., & Thaut, M. H. (2015). Rhythm, Music, and the Brain: Scientific Foundations and Clinical Applications. Routledge.
- Stewart, L., Henshall, K. R., & Monz, B. U. (2015). Music in Therapy: Investigating the Effectiveness of Music Interventions. International Journal of Clinical Practice, 69(2), 173-183.
- Trehub, S. E., & Trainor, L. J. (2015). Music and Cognitive Development in Children. In Handbook of Child Psychology.
- Lee, J., Davidson, J. W., & Krause, A. E. (2019). The use of music for social bonding among people with intellectual disabilities. Journal of Music Therapy, 56(2), 123-146.